आन्ध्र का सामाजिक इतिहास

अकादमी के अन्य हिन्दी-प्रकाशन

(मूल भाषाओं के नाम कोष्ठक में अंकित हैं)

१.	भारतीय कविता (१९५३)	(भारत की १४ भाषाओं की कविताओं का लिप्यन्तर और अनुवाद)	५.००
२.	केरल सिंह (मलयालम)	का० मा० पणिक्कर	३.००
३.	भगवान् बुद्ध (मराठी)	धर्मानन्द कोसम्बी	५.००
४.	कांदीद् (फ्रेंच)	वाल्तेयर	२.००
५.	दो सेर धान (मलयालम)	तकषी शिवशंकर पिल्लै	२.००
६.	मिट्टी का पुतला (उड़िया)	कालिन्दीचरण पाणिग्राही	२.००
७.	आरण्यक (बंगला)	विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय	४.००
८.	गेंजी की कहानी (जापानी)	मुरासा की शिकाबू	४.५०
९.	आरोग्य निकेतन (बंगला)	ताराशंकर बंद्योपाध्याय	६.००
१०.	अमृत संतान (उड़िया)	गोपीनाथ महान्ती	१२.००
११.	आदमखोर (पंजाबी)	नानकसिंह	५.००
१२.	वैदिक संस्कृति का विकास (मराठी)	लक्ष्मण शास्त्री जोशी	५.५०
१३.	क्या यही सभ्यता है ? (बंगला)	माइकेल मधुसूदन दत्त	१.५०
१४.	नारायण राव (तेलुगु)	अडवि बापिराजू	६.००
१५.	आज का भारतीय साहित्य	(भारत की १६ भाषाओं के साहित्य का परिचय)	७.००
१६.	जीवी (गुजराती)	पन्नालाल पटेल	४.५०
१७.	भग्नमूर्ति (मराठी)	अनिल	१.००
१८.	एकोत्तर शती (बंगला)	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	८.००
१९.	चिलिका (उड़िया)	राधानाथ राय	१.५०
२०.	मिरातुल उरूस (उर्दू)	नजीर अहमद	५.००
२१.	छै बीघा जमीन (उड़िया)	फकीर मोहन सेनापति	३.००
२२.	मीरी बिटिया (असमिया)	रजनीकान्त बरदलै	२.००
२३.	मछुआरे (मलयालम)	तकषी शिवशंकर पिल्लै	३.५०

आन्ध्र का सामाजिक इतिहास

मूल तेलुगु लेखक

सुरवरम् प्रताप रेड्डी

अनुवादक

आर० वेंकट राव

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

Andhra Ka Samajik Itihas Translation in Hindi of the Telugu 'Andhrula Sanghika Charitramu' by Suravaram Pratap Reddi.
Sahitya Akademi, New Delhi (1959). Price : *Rs.* 6.00

प्रकाशक :
© साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

एकाधिकारी वितरक :
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, दिल्ली

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

मूल्य :
छै रुपये

क्रम

भूमिका

"हिन्दू जाति प्राचीन काल से आध्यात्मिक विचार-सागर में ही गोते लगाती रही है। उसने सांसारिक विषयों से कभी कोई सरोकार नहीं रखा। इसीलिए हिन्दुस्तान में इतिहास को लेखबद्ध करने की प्रथा ही नहीं रही।" पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हम पर इस प्रकार के लांछन प्राय: ही लगाये जाते रहे हैं। किन्तु बाद में उन्हींके अनुसन्धानों से हमें अनगिनत ऐतिहासिक ग्रन्थों की उपलब्धि हुई। अनेक पुस्तकों का पता तो उन विद्वानों को आज तक भी नहीं लग सका है। मुस्लिम विजेताओं ने यहाँ के मन्दिरों, विद्यापीठों और पुस्तकालयों को नष्ट-भ्रष्ट करके यहाँ की पुस्तकें भी आग के हवाले कर दी थीं। इस प्रकार हमारे इतिहास को अपार हानि पहुँची है।

पाश्चात्य लेखकों ने आज तक जितने भी इतिहास लिखे हैं, वे राजाओं और सम्राटों की कहानियाँ-मात्र हैं। अष्टम हेनरी की सात पत्नियाँ थीं, तीस वर्षीय युद्ध अमुक-अमुक तिथियों में लड़ा गया, रूस की साम्राज्ञी कैथरिन के इतने उपपति थे, हिन्दुस्तान के इतिहास में सन १७४८ ईसवी महत्त्वपूर्ण है, इत्यादि-इत्यादि। अपने इतिहासों में वे प्राय: ऐसी ही बातें लिखेंगे और इनमें कोई भूल उन्हें स्वीकार्य नहीं होगी। पर प्रश्न तो यह है कि इन बातों से हमें क्या लाभ? राजाओं-महाराजाओं के युद्धों, षड्यन्त्रों और उत्पातों ने तो समाज की हानि ही की है, कोई लाभ नहीं। इस तथ्य को पाश्चात्य पंडितों ने अभी-अभी पहचाना है। अब वे सामाजिक इतिहास को अधिक महत्त्व देने लगे हैं।

इतिहास के लिखने की सही पद्धति भी यही है।

राजाओं और सम्राटों के इतिहास का हमारे साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। पर सामाजिक इतिहास पूर्णतया हम ही से सम्बद्ध है। यह हमारे पूर्वजों का वह इतिहास है जो हमें बताता है कि हमारे दादे-परदादे कैसे लोग थे, हमारी नानियाँ-दादियाँ कैसे गहने पहनती थीं, हमारे पुरखे किन-किन देवताओं को पूजते थे, उनकी मान्यताएँ क्या थीं, कैसे खेल-कूद या नाच-गानों से उनका मनोरञ्जन होता था, राजा-महाराजा जब लूट-मार मचाते तो वे अपनी जान-माल की रक्षा कैसे करते थे, देश में अकाल पड़ने पर अपने प्राण कैसे बचाते थे, किन रोगों का क्या इलाज करते थे, किन कलाओं में उनकी अभिरुचि थी, किन देशों से उनके व्यापार-सम्बन्ध थे, आदि-आदि। अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में ये और ऐसी अनेक बातें जानने की उत्सुकता हमें होती है। आने वाली पीढ़ियाँ हमारे बारे में भी ऐसी ही बातें जानना चाहेंगी।

सारांश यह कि सामाजिक इतिहास ही हमारा सच्चा इतिहास है। इसमें हमारा भी स्थान है। अलाउद्दीन खिलजी, औरंगज़ेब या आसफ़-जाह के इतिहास से हमारा यह इतिहास गौण कैसे गिना जा सकता है? उनकी तरह उत्पात न मचाने के कारण हम तो शायद उनसे लाख दरजा भले हैं।

सामाजिक इतिहास मानव-मात्र का इतिहास है। जनता का इतिहास है। हमारी अपनी कहानी है। यह तो हमें सामाजिक इतिहास ही बता सकता है कि अमुक शती में जन-साधारण का जीवन कैसा रहा? यह तो हमें सामाजिक इतिहास ही बता सकता है कि अमुक पीढ़ी के हमारे पुरखों के घर-बार, खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, खेल-कूद, नाच-गान आदि क्या और कैसे थे, उन्होंने कैसे-कैसे सुख भोगे, क्या-क्या दुःख झेले, हमारे लिए क्या-क्या अच्छाइयाँ-बुराइयाँ छोड़ गए आदि। और ये ही वे बातें हैं जो हमारे जीवन के निर्माण में सहायक होती हैं।

अंगरेजों ने अपने देश का सामाजिक इतिहास आज से कोई दो सौ साल पहले ही लिख डाला था। तब से अब तक इस विषय पर बहुत-से व्यक्तियों ने कितनी ही सारी पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों में इस बात को प्रकट करने वाले ऐसे कितने ही चित्र भरे पड़े हैं कि पाँच शती पहले के उनके पुरखे कैसे लोग थे, उनके उद्यम क्या थे, आदि। उन्होंने अपनी जाति के ही नहीं, संसार-भर की अन्य जातियों के इतिहास भी प्रकाशित किये हैं। भारत के भील आदि आदिम जातियों के बारे में, अफ्रीका के काफ़िरों आदि के बारे में, प्रशान्त महासागर के कतिपय द्वीपों के निवासी नर-भक्षी राक्षसों के बारे में, उत्तरी ध्रुव की छमाही रात और छमाही दिन के एक दिवसीय वर्ष-चक्र में जीवन बिताने वाले एस्किमो लोगों के बारे में और ऐसी ही शत-सहस्र जातियों के बारे में जानकारी पाने के लिए हमें उसी 'आंग्ल भाषा शारदनीरदेंदु शारदा' की उपासना करनी होगी। अंगरेजी साहित्य में सर्वज्ञता है। उसमें सभी चीजें भरी पड़ी हैं। 'स्टोरी आफ़ आल नेशन्स' के नाम से संसार की समस्त मानव-जातियों का इतिहास अंगरेजी में ही लिखा गया है। अनेक सचित्र संपुटों में इस महान् ग्रन्थ को प्रकाशित हुए जमाना गुजर चुका है। लेकिन हमने और नहीं तो क्या कम-से-कम उसीको तेलुगु भाषा में प्रकाशित किया ? क्या भारत की किसी और भाषा में उसका अनुवाद हुआ ?

हमारे स्कूलों में छात्रों को जो इतिहास पढ़ाये जाते हैं, उनमें अनेक कल्मष भरे पड़े हैं। मानो दूध में ही विषमुष्टि का योग हो। अंगरेजों ने जो इतिहास लिखे, वे अपनी महत्ता और हमारी लघुता दरसाते हुए लिखे। पहले भी 'फ़रिश्ता' नाम के मुसलमान लेखक ने अपने इतिहास में झूठ की भरमार कर दी थी। बाबर ने भी हिन्दुत्व-विरोधी भावना से लिखा। उस्मानिया विश्वविद्यालय में छोटी कक्षाओं से बी० ए० तक के छात्र श्री हाशमी द्वारा लिखी हिन्दू-द्वेष से भरी हिन्दुस्तान की तारीखें पढ़ते आ रहे हैं। स्वधर्माभिमानी हिन्दू-लेखकों ने भी यही ढंग अपनाया और लिख मारा कि हमारे पूर्वज संसार में सर्वश्रेष्ठ थे। ये सभी

इतिहास पक्षपात से ओत-प्रोत हैं और इनमें से कोई भी हमारे आदर का अधिकारी नहीं। इधर कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने उन इतिहासों की आलोचना करके देश का सच्चा इतिहास लिखने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया है। गुप्त-काल का इतिहास प्रकाशित भी हुआ है। यह एक आदर्श इतिहास है। इसी साल यानी सन् १९४९ ईसवी में प्रकाशित श्री मल्लंपल्लि सोमशेखर शर्मा की अंगरेज़ी पुस्तक 'रेड्डी राज्य-इतिहास' (हिस्ट्री ऑफ़ रेड्डी किंगडम्स) भी इसी कोटि का ग्रन्थ-रत्न है।

भारत के गोंड, भील, मुण्डा, संथाल, नागा आदि आदिवासियों के सम्बन्ध में भी कई पुस्तकें हैं। थर्स्टन नामक लेखक ने 'दक्षिण भारत के जात-पात और कबीले' (कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑफ़ साउथ इंडिया) के नाम से एक ग्रन्थ सात भागों में प्रकाशित किया। सिराजुल हसन ने हैदराबाद की जातियों पर एक बड़ी-सी पोथी छपवाई। एक बंगाली सज्जन ने 'प्राचीन भारत के कबीले' (ट्राइब्स ऑफ़ एंश्येंट इंडिया) नाम की पुस्तक लिखी। इस प्रकार कुछ पुस्तकें प्रकाशित तो हुईं, किन्तु देश के समग्र सामाजिक इतिहास पर कुछ लिखने का कष्ट किसी ने भी नहीं किया।

तेलुगु भाषा में तो सामाजिक इतिहास है ही नहीं। लगता है, कुछ व्यक्ति लिखने का निश्चय कर चुके हैं। चिलुकूरु वीरभद्रराव जी ने अपने आन्ध्र-इतिहास के 'वेलमा वीरुलला चरित्र' (वेलमें वीरों का इतिहास) नामक अध्याय के आरम्भ में लिखा है :

"आन्ध्र जाति का सामाजिक इतिहास अलग से प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए यहाँ इस विषय में (अर्थात् वेलमों जाति के विषय में) विस्तृत चर्चा नहीं की जा रही।"

यह सामाजिक इतिहास उन्होंने शायद लिखा ही नहीं। सम्भवतः लिखने का विचार उनका अवश्य था। इन सिद्धहस्त वीरभद्र जी की पुस्तक हमने नहीं देखी। इसी तरह कई और सज्जन भी सामाजिक इतिहास लिखना चाहते थे। 'आन्ध्र इतिहास अनुसन्धान संघ' के मुख-

पत्र में श्री नेलटूरु वेंटरमणय्या का एक अंगरेजी निबन्ध सन् १९३८ ई० में छपा था। इस पुस्तक का चौथा अध्याय लिखते समय मुझे इस निबन्ध को देखने का अवसर मिला था। उन्होंने भी उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, जिन्हें मैंने अपनी पुस्तक में अपनाया था। श्री मल्लंपल्लि सोमशेखर शर्मा ने भी 'रेड्डी राज्य-इतिहास' के सामाजिक इतिहास वाले भाग में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। श्री पेदपाटि एर्रनार्य ने 'मल्हण चरित्र काव्य' की भूमिका में लिखा है :

"कृष्णराय के बाद आन्ध्र जाति का पौरुष-पराक्रम ज्यों-ज्यों क्षीण होता गया, त्यों-त्यों लोगों की सांस्कृतिक अभिरुचि भी कुण्ठित होती गई। उस समय कोई वैसे उत्कृष्ट काव्य का सृजन तो नहीं हुआ, पर जो भी हुआ, वह उस काल के सामाजिक जीवन तथा जनता की रुचियों का वास्तविक प्रतिबिम्ब है। इस दृष्टि से देखने पर यह बात हमारे लिए स्पष्ट हो जायगी कि रचना चाहे जिस किसी भी कवि की क्यों न हो, उसे सुरक्षित रखना हमारा पावन कर्त्तव्य है।"

हमारे पूर्वजों के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुतों ने, विशेषतः 'क्रीड़ाभिराममु' के आधार पर निबन्ध लिखे हैं। किन्तु आन्ध्र जाति का समग्र इतिहास अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया। सन् १९२९ ई० में हैदराबाद के 'सुजाता' नामक मासिक पत्र में मैंने एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था, 'तेनालि रामकृष्ण के समय आन्ध्र जाति का सामाजिक जीवन'। उसमें मैंने केवल 'पांडुरंग माहात्म्यमु' में वर्णित विषयों की ही विवेचना समय तथा संदर्भ के आधार पर की थी और इस सम्बन्ध में अपने विचार लिखे थे। यही पद्धति मुझे ठीक जँची। उसी लीक पर चलकर मैंने आन्ध्र के सामाजिक जीवन पर यदा-कदा और भी कई लेख लिखे। ये लेख 'कृष्णराय कालीन सामाजिक इतिहास', 'कदिरीपति कालीन सामाजिक इतिहास', 'रेड्डी-युगीन सामाजिक इतिहास', 'आन्ध्र दशकुमार चरित्रमु द्वारा सूचित आन्ध्र देश का सामाजिक इतिहास' आदि शीर्षकों से छपे। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं लेखों

का परिणाम है ।

बारह वर्ष पहले आन्ध्र महासभा के वार्षिक अधिवेशन में एक विवाद उठा था कि 'आन्ध्र जाति का पृथक् सामाजिक इतिहास क्यों ? भारतीय हिन्दू संस्कृति से आन्ध्र संस्कृति कोई भिन्न थोड़े ही है ?' इसी सिलसिले में सन् १९३७ में 'आन्ध्र संस्कृति' शीर्षक मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें मैंने लिखा था :

"आन्ध्रत्वमांध्रभाषा च नाल्पस्य तपसः फलम् ।"

यह उक्ति तमिळ पंडित श्री अप्पय (र्)[1] दीक्षित की है । इन प्रख्यात तमिळ विद्वान् ने आज से कोई तीन सौ वर्ष पहले ही आन्ध्रत्व की भिन्नता का अनुभव कर लिया था। 'संस्कृति' का अर्थ है 'नागरिकता' (सभ्यता), साहित्य, ललित कला, 'सभ्यता' (सदाचार) तथा दैनंदिन अभ्युन्नति के अन्य अनेक उत्तम गुणों के मेल से उत्पन्न विशिष्टता। इसमें सन्देह नहीं कि आन्ध्र जाति की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है । किसी आन्ध्र, तमिल, बंगाली या पठान को देखते ही यह पता चल जाता है कि कौन क्या है ? ऐसा क्यों होता है ? विशिष्ट वेश-भूषा से ही तो ? तभी तो 'सकल भाषावागनुशासन' ने कहा है कि : **स्वस्थान वेषभाषाभिमतास्संतो रसप्रलुब्ध धियः ।'** आन्ध्र जाति से उसकी अपनी भाषा, उस भाषा की विशिष्टता, उसके अपने विचार, शिल्प, कला, लोक-गीत, लोक-गाथाएँ, मान्यताएँ, सामाजिक परम्पराएँ आदि अलग कर ली जायँ तो आन्ध्र का आन्ध्रत्व कहाँ रह जाता है ? फिर तो वह कल ही जंगली जातियों की श्रेणी में जा खड़ी होगी । अन्य जातियों की उत्तम कलाएँ अपनाकर भी उन्हें अपने रंग में रँग लेना और नया रूप दे देना ही सभ्यता की निशानी है । विजयनगर के सम्राट् और मदुरा तथा तंजौर के नायक राजाओं ने हिन्दू-मुस्लिम शिल्प-कला के मेल से आन्ध्र-शिल्प का विकास किया था । आन्ध्रों ने अपनी भाषा

१. तमिळ में नामों के आगे आदरार्थक 'र्' प्रत्यय लगता है ।

का मिठास घोलकर 'कर्णाटक संगीत' के नाम से विख्यात संगीत-कला को पूरे दक्षिण भारत में फैला दिया। केरल के कथाकळी नृत्य, गुजरात के गर्भ नृत्य[1], उत्तर भारत की रामलीला और कत्थक नृत्य, असम के मणिपुरी नृत्य आदि विशिष्ट वैविध्यों से युक्त नृत्य-कलाओं ने जिस प्रकार भारत के विविध प्रदेशों में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है, उसी प्रकार आन्ध्र में भी कूचिपूडि भागवतों द्वारा परिरक्षित 'भागवत नृत्य' की कला अपना विशिष्ट स्थान रखती है। वरंगल जिले में रामप्प 'गुडि' (मंदिर) के नृत्य-शिल्प जायसेनानी की कृति 'नृत्य-रत्नाकर' के सजीव उदाहरण हैं।

सभी हिन्दू-पर्व एक-जैसे नहीं होते। उत्तर वालों के लिए वसंत पंचमी और होली प्रत्येकाभिमत (खास) पर्व हैं, तो तमिलनाडु में 'पोंगल्' का पर्व प्रधान है। वैसे ही आन्ध्र में भी 'उगादि' (चैत सुदी प्रतिपदा) और 'एरुवाकॅ' (जेठ पूनम) बड़े पर्व हैं।

भारत के विविध प्रदेशों में विविध खेल खेले जाते हैं। 'उप्पनॅ बट्टैलाट' (नमक चोर) और चिल्लगोडे (गिल्ली-डंडा) तेलंगों की रुचि के खेल हैं। नाचनॅ सोम ने कहा है : "उप्पनॅ बट्टै खेलते हुए यादव नमक लायँगे"[2] 'पुलिजूदमु' (शेर-बकरी) और दोम्मरि (नट) के खेल भी आन्ध्र के ही हैं।

ये ही वे कुछ विचार हैं, जो मैंने तब लिखे थे। मेरे उन विचारों में अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि वे आज और भी अधिक दृढ़ हो गए हैं।

हिमालय से कन्याकुमारी तक हमें पग-पग पर विभिन्न भाषा-भाषियों में भिन्नता मिलेगी। मलयाळी, तमिळ, मराठी, मारवाड़ी, पंजाबी, बंगाली, सबकी वेश-भूषा अलग है। भाषा सबकी भिन्न है। आहार-विहार सबके पृथक्-पृथक् हैं। मलयाळी को चावल तथा नारियल

---

१. गरबा।

२. उप्पु—नमक।

के सिवाय और कुछ भी नहीं रुचता। तमिळ के लिए भात के साथ इमली-पानी चाहिए। महाराष्ट्र की ज्वार प्रसिद्ध है। बंगाली को मछली-भात अधिक भाता है। काश्मीर का ब्राह्मण भी मांस के बिना तृप्त नहीं होता। इस तरह के अनेक कारणों से आन्ध्र की भी अपनी एक अलग सभ्यता है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

राजाओं-महाराजाओं के राज्य-विस्तार पर लिखना सरल है। किन्तु सारे समाज के इतिहास पर कलम उठाना कठिन काम है। इसके लिए आवश्यक सामग्री का अभाव है। सारस्वत (साहित्य), शासन (शिला-लेख), 'कैफ़ियतें' (स्थानीय लेखाएँ), विदेशी यात्रियों के संस्मरण, शिल्प, चित्र-कारी, सिक्के, कहावतें, इतर वाङ्मय (अन्यभाषीय साहित्य) की सूचनाएँ दानपत्र, लोकोक्तियाँ, लोक-गाथाएँ, लोक-गीत, पुरातत्त्व संग्रहालय, प्राचीन अवशेष आदि वस्तुएँ ही सामाजिक इतिहास को जानने के लिए काम की चीजें होती हैं।

काव्य-प्रबन्धों में से ९० प्रतिशत तो सामाजिक इतिहास के लिए निरर्थक होते हैं। पुराण तथा मध्यकालीन साहित्य भी हमारे काम की वस्तु नहीं। ऐसे कितने ही महाकवि हैं जो 'वसु-चरित्र' और 'मनु चरित्र'-जैसी महान् कृतियाँ छोड़ गए हैं, पर ऐसी कृतियाँ इस काम में सहायक नहीं हो सकतीं।

"केळी नटद्गेह केकिकेकारवोन्मेषंबु चेवुल देनियुलु चिलुक।"
कविकर्णरसायनमु'।

अर्थात्

"केलि-नाच नाच रहे पालतू मयूरों के
उन्मेष प्राप्त मिष्ट केका-रव
ढाल-ढाल जाते हैं कानों के कुहरों में
मधुर-मधुर मधु के मादक आसव।"

पर यह वर्षा-वर्णन हमारे किस काम का? इसके विपरीत इसी वर्षा ऋतु के सम्बन्ध में :

"चरवाहे ग्वाले शिला-खण्ड शय्या पर
सोये 'गोंगडि' ओढ़े 'बंदार' बिछाकर।"[1]

जैसे वर्णन हमारे लिए बड़े ही महत्त्व के हैं। इसी प्रकार :

"काविरंग[2] धवलांशुक के आभोग भेद कर
रश्मिमांशुमय कांति नितंबों की ज्यों बाहर
वस्त्र-पटल के पार आ रही हो छन-छनकर।"

'मनु चरित्र' के इस वर्णन को तो हम ठीक से समझ भी नहीं पाते।[3] किन्तु इसी विषय पर 'शुक सप्तति' का यह वर्णन देखिए :

"अभी-अभी धुलकर आई उजली साड़ी-सी झलमल
किनारियों पर टँके, आब से टलमल, नव मुक्ता दल
पद-नख-पंक्ति-प्रभा को झुक-झुक कर सलाम करते हैं।"

सुन्दरी का चित्र आँखों के आगे स्पष्ट खिंच जाता है और उस समय की युवतियों के वैभव का बखान करने लगता है।

कभी-कभी तो ऐसा होता है कि पोथे-का-पोथा पढ़ जाइए, पर काम की बातें बड़ी कठिनाई से एकाध मिल गईं तो मिल गईं, और बस।

सामाजिक इतिहास की दृष्टि से देखिए तो अनेक ग्रन्थों के प्रणेता

---

१. शुक सप्तति।
गोंगडि : चरवाहों का कंबल। एक छोर लपेटकर सिर पर डाल लेते हैं, दूसरा टखनों तक लटकता रहता है।
बंदार ? बंदा। अधसूखी पत्तियाँ चुनकर बिछाने पर बड़ी आराम-देह होती हैं।

२. काविरंगु : अत्यंत ही हल्के लाल रंग का कपड़ा, जिसे आन्ध्र महिलाएँ आज भी पहनती हैं।

३. इसलिए कि वर्णन हिमालयवासिनी वरूथिनी का है। उसका रक्तिम गोरा रंग तो ठीक, पर यह विशिष्ट आन्ध्र पहनावा समझ में नहीं आता।

कूचिमंचि तिम्मकवि की रचनाओं से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। 'वसु चरित्र' और 'मनु चरित्र' की अपेक्षा ताळ्ळपाक चिन्नन्ना का द्विपद 'परमयोगीविलासमु' ही कहीं अधिक उपयोगी ठहरता है। इसमें एक भी बड़ा समास नहीं मिलता। यद्यपि कविता में प्रौढ़ता नहीं है और शैली जटिल है, तथापि उसके अन्दर जो विवरण मिलता है, वह हमारे सामाजिक इतिहास के लिए बड़े ही महत्त्व का है।

"कल्पान्तबुदान्त कलुबान्तक स्वान्त दुर्वार वह्निकी नोर्वबच्चु।"

जक्कना ने 'विक्रमार्क चरित्र' में इस प्रकार अपने 'चक्कनि-वैदुष्यमु' (प्रकांड पांडित्य) का परिचय तो दिया है, पर इस पर 'प्रलयाग्नि वर्षा' से हमारा कोई भी काम नहीं बनता। लेकिन कोरवि गोपराजु की 'द्वात्रिंशत्सालभंजिका' हमारे सामाजिक इतिहास के लिए बहुत ही उपयोगी है।

इस प्रकार हमें अपने साहित्य का मंथन करना होगा। 'द्वात्रिंशत्साल भंजिका', 'शुक सप्तति', 'पंडिताराध्य', 'बसवपुराणमु', 'क्रीड़ाभिरामम्' आदि में आये हुए बहुत सारे शब्द हमारे शब्द-कोशों में नहीं मिलते। इससे सामाजिक इतिहास लिखने में कठिनाई पड़ती है। ऐसा तो समझना ही नहीं चाहिए कि कुछेक शब्दों के अर्थ नहीं भी मिले तो क्या बिगड़ता है। प्राचीन कवियों ने इन प्रादेशिक शब्दों का प्रयोग ठीक ऐसे ही स्थलों पर किया है जहाँ उन्हें स्थानीय रहन-सहन और आचार-विचार को दरसाना अभीष्ट था। इसलिए ऐसे सभी शब्दों के अर्थ जानना आवश्यक है।

शिला-लेखों से केवल पर्व, दान, माप, तोल, आय, सीमाएँ आदि ही मालूम हो सकती हैं। स्थानिक गाथाओं में अधिकांश तो कल्पित कहानियाँ होती हैं, जो अत्युक्ति से भरी होती हैं। काकतीय युग तथा विजयनगर सम्राटों के शासन-काल में जो विदेशी यात्री, व्यापारी या राजदूत यहाँ आये थे, उनके संस्मरणों से बड़ी सहायता मिलती है। पर उन्होंने जो-कुछ भी लिख छोड़ा है, वह सब-का-सब ज्यों-का-त्यों

सच मान लिया जाने के योग्य नहीं है। जैसे, एक यूरोपीय यात्री ने लिखा है कि "विजयनगर के महाराजा चूहों, बिल्लियों और छिपकलियों तक को खा जाते थे।" भला बतलाइये, इस कथन पर हम कैसे विश्वास कर सकते हैं ? यह तो सफेद झूठ है। इसी तरह फ़रिश्ता के इतिहास में भी झूठ की भरमार है। 'गंगादास प्रताप विलासम्' नामक संस्कृत-नाटक में लिखा है कि द्वितीय देवराय के मरते ही उड़ीसा के राजा और बहमनी सुलतान ने मिलकर विजयनगर पर चढ़ाई की, पर मल्लिकार्जुन ने उन्हें मार भगाया। परन्तु फ़रिश्ता ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है।[१] बल्कि फ़रिश्ता ने तो इसके विपरीत यहाँ तक लिखा है कि देवराय ने हारकर सुलह कर ली और अपनी बेटी सुलतान के साथ ब्याह दी। पर इस बात को अन्य किसी भी देशी-विदेशी इतिहासकार ने नहीं लिखा। न तो समकालीन कवियों ने कुछ लिखा, और न परवर्तियों ने। किसी भी 'कैफियत' (स्थानीय लेखा) के अन्दर यह बात नहीं मिलती। किसी कहानी या कहावत में भी इसकी सूचना नहीं है।

उस समय के चित्रों से कुछ सहायता मिल सकती थी, लेकिन वे भी मुसलमानों के हाथों में पड़कर नष्ट हो गए। इस बात के कई प्रमाण हैं कि क्या राजा, क्या रंक और क्या रानी, क्या सानी (वेश्या) विजयनगर में सभी अपनी दीवारों पर विदेशी यात्रियों और जंगली जानवरों के चित्र लगाए रखते थे। मगर वे राज-भवन अब कहाँ हैं। विजयी सुलतानों ने उन्हें मिट्टी में मिलवा डाला। हमारी तीन चौथाई चित्रकारी भी नामशेष हो चुकी है। वरंगल की वेश्याओं के घरों में भी चित्रशालाएँ होती थीं। अब उस पुराने वरंगल का नाम-भर ही बच रहा है।

पुराने लोक-गीतों को एकत्र करने की चेष्टा कदाचित् ही किसी ने की हो। 'तंदान कथाओं'[२] का भी किसी ने कोई आदर नहीं किया। परिणाम यह हुआ है कि उनमें यदि कुछ 'ताळ्ळपाक' की कविता है तो

१. एस० के० अय्यंगर, 'एंश्यंट इंडिया' जिल्द २, पृष्ठ ४०।
२. 'आल्हा'-जैसी गेय वीरगाथाओं।

कुछ जंगम कथाकारों[1] की अपनी निजी तुकबंदियाँ और कल्पनाएँ भी हैं। क्या अज्ञों ने और क्या विज्ञों ने, जिसे जैसा सूझा, गा सुनाया।

पुराने सिक्के तो किसी ने बटोरे ही नहीं। इस दिशा में सरकार ने कुछ अवश्य किया है, जिससे कम-से-कम, कुछ का तो हम देख सके। बल्कि कुछ को पहचाना भी जा सका।

कुछ दिन हुए, मैंने 'कृष्णरायकालीन सामाजिक इतिहास' शीर्षक एक लेख लिखा था। उसके लिए मैंने 'आमुक्त माल्यदं' को साद्यन्त अच्छी तरह पढ़ा था। तत्कालीन अन्य कवियों की कृतियाँ भी पूरी तरह देख डाली थीं। उन्हें पढ़ते समय जो बातें मुझे सूझती जातीं, उन्हें नोट करता जाता था। फिर सालेटोर की अंगरेजी पुस्तक 'विजयनगर राज्य का सामाजिक इतिहास' के दोनों भाग पढ़े। इस अंगरेजी पुस्तक से मेरे नोट की बातों की पुष्टि हुई। बल्कि मेरे संकलन में कुछ अधिक ही विषयों का समावेश था। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सालेटोर तेलुगू भाषा से अनभिज्ञ थे।

"उदयाचल के ऊपर निष्कैतव 'संगड'[2] को
उतर रहा शशि धैर्यवान, मार्तण्ड चढ़ रहा,
मानो शोण वर्मा मृण्मण्डित मल्लभूमि में
काल मल्ल चरमाग्र स्कंध पर गदा धर रहा
दूजे कंधे से उतार, प्राची संध्यातप
से अखण्ड ब्रह्माण्ड रक्तिमा में निखर रहा![3]

प्राची संध्या (प्रातःकाल) के इस वर्णन के आधार पर मैंने लिखा कि उन दिनों अखाड़ों का प्रचलन था, अखाड़ों में लाल मिट्टी भर दी जाती थी, उनमें 'संगतोल' आदि व्यायाम-साधन रखे होते थे और उनमें पहलवान 'संगडि' लड़ा करते थे। विदेशी यात्रियों ने लिखा ही है

१. लोक-गीतों के रचने या गाने वालों।
२. संगड—एक विशेष प्रकार की कुश्ती।
३. 'मनु चरित्रमु', ३-५८।

कि विजयनगर के महाराजा कृष्णदेवराय स्वयं भी नित्य तेल की मालिश कराते और पहलवानों से कुश्ती लड़ा करते थे। प्रातःकाल के उक्त वर्णन की हमारी यह व्याख्या विदेशियों के विवरण से मेल खाती है। इसी प्रकार हमें विविध कवि-कृतियों से अपने काम की बातें निकाल लेनी होंगी।

जिन काव्यों से सामाजिक इतिहास की सामग्री प्राप्त हो सकती है, उनमें प्रायशः आञ्चलिक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। कदिरीपति की 'शुक सप्तति' के कोई सौ शब्द हमारे कोशों में नहीं हैं। (मैंने 'सूर्यरायांध्र-निघंटु' नहीं देखा, इसलिए मेरा यह मन्तव्य उस पर लागू नहीं होता।) 'शुक सप्तति' के उक्त शब्दों के लिए मुझे कडपा अनन्तपुरमु के निवासियों से पूछ-ताछ करनी पड़ी। इसी प्रकार 'चन्द्रशेखर शतकमु' के व्यावहारिक (जानपद) शब्दों को नेल्लूरवासी ही समझ सकते हैं। 'भाषीय दंड-कमु' के शब्द कर्नूल वालों के लिए सरल होंगे। 'द्वात्रिंशत्सालभंजिका' का सम्बन्ध तेलंगाना से है। 'क्रीडाभिराममु' के शब्दों के लिए कृष्णा जिले के लोग सहायक हो सकते हैं। पाल्कुरिकि सोमनाथ तथा नन्नेचोड़ कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दों के अर्थ बता पाना तो किसी के भी वश का रोग नहीं।

तात्पर्य यह है कि प्रान्तीय प्राबन्धिकों द्वारा प्रयुक्त ऐसे पदों (आञ्च-लिक शब्दों) की एक सूची तैयार करके, 'भारती'-जैसे मासिक पत्रों या 'आन्ध्र सारस्वत परिषत्तु'-जैसी संस्थाओं की ओर से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करके, यह घोषणा की जानी चाहिए कि जिन्हें जो शब्द मालूम हों, वे उनके अर्थ लिख भेजें। इससे काल के गर्भ में समाधिस्थ कितने ही सुन्दर भाव-गर्भित शब्दों का उद्धार हो जायगा। कोशकारों ने तो मानो कसम खा रखी है कि वे पुस्तकों के बाहर के शब्द छुएँगे ही नहीं। इस नीति के कारण उनका श्रम पर्याप्त फलप्रद सिद्ध नहीं हो पाता। 'सूर्यरायांध्रनिघंटु' पर लगभग दो पीढ़ियों से काम हो रहा है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके कोशकारों को व्यावहारिक (जनपदीय)

शब्द-मात्र से ही कोई चिढ़-सी हो। इस कारण हमें यह कहना ही पड़ता है कि उनके प्रयासों से भी हमें यथेष्ट लाभ नहीं हो पायगा। चाहे जो भी शब्द-कोश क्यों न हो, जब तक उसमें चालू जनपदीय शब्दों का समावेश न होगा, तब तक वह कोश अपूर्ण ही रहेगा।

हमारे सामाजिक इतिहास के लिए काम की तेलुगु पुस्तकें ये हैं :

१. पाल्कुरिकि सोमनाथ : 'बसवपुराणमु', 'पंडिताराध्यचरित्रमु'। २. श्रीनाथ (वल्लभराय) : 'क्रीड़ाभिराममु'। ३. श्रीनाथ (या कोई और ?) : 'पल्नाटि वीरचरित्रमु'। ४. कोरवि गोपराजु : 'द्वात्रिंशत्साल-भंजिकलु'। ५. कृष्णदेवराय : 'आमुक्तमाल्यदँ'। ६. ताळ्ळॅपाकॅ तिरु-वेंगळनाथ : 'द्विपद परमयोगीविलासमु'। ७. सारंगु तम्मय्य : 'वैजयंति-विलासमु'। ८. कदिरीपति : 'शुक सप्तति'। ९. वेंकटनाथकवि : 'पंच-तंत्रमु'। १०. शतकों में वेमनॉ, चन्द्रशेखर, कुक्कुटेश्वर, रामलिंग, शर-भांक, वेणुगोपाल, वृषाधिप, सिंहाद्रिनारसिंह और वेंकटेश गुव्वलचन्नॉ आदि शतक। ११. 'भाषीयदंडकमु'। १२. 'एनुगुल वीरास्वामि काशीयात्रॉ'। १३. 'पांडुरंगविजयमु','श्रीकाळहस्तिमाहात्म्यमु', श्रीनाथुकी 'चाटुवुलु' आदि पुस्तकों की भूमिकाओं से भी कुछ-कुछ सहायता मिल सकती है।

शब्द रत्नाकर निघंटुकार श्री बहुजनपल्लि सीतारामाचार्य ने कवियों की मर्यादा का निर्णय करते हुए उन्हें छः श्रेणियों में विभक्त किया है। उक्त कृतियों में से 'पंडिताराध्यचरित्रमु', 'बसवपुराणमु', 'वैजयंती-विलासमु' और 'शुक सप्तति' को उन्होंने ५वीं श्रेणी में रखा है तथा 'द्वात्रिंशत्सालभंजिकलु' और 'आमुक्तमाल्यद' को चौथी श्रेणी में रखा है।

कुछ पुस्तकें उनके समय में प्रकाशित नहीं हुई थीं। हुई होतीं तो उन्हें कम-से-कम ५वीं श्रेणी अवश्य मिली होती। 'कविजनरंजनमु', 'कविकर्णरसायनमु', 'जैमिनीभारतमु', 'रामाभ्युदयमु', 'विक्रमार्कचरित्र', 'विष्णुपुराणमु', 'मनु चरित्र', 'वसु चरित्र' आदि पुस्तकें सामाजिक इति-

हास के लिए अनुपयोगी हैं । इन सबको उन्होंने तीसरी श्रेणी में रखा है ।

'नैषधमु','राघवपांडवीयमु',[1] 'हरिश्चन्द्रोपाख्यानमु',[2] 'नलोपाख्यानमु' तथा इन-जैसी और भी अनेक पुस्तकें ऐसी हैं जिन्हें पढ़ने के लिए अमृतांजन की एकाध डिबिया, अमृतधारा की एकाध शीशी, बहुत सारे शब्द-कोश आदि लेकर बैठने पर भी वेदम[3] को पास बिठा रखना जरूरी होता है । हमारे आचार्य श्री ने इन पुस्तकों को दूसरी या तीसरी श्रेणी में रखा है ।

सामाजिक जीवन पर यदा-कदा लिखे गए मेरे लेखों को पढ़कर कुछ मित्रों ने सन् १९२९ ईसवी में, 'आन्ध्र सारस्वत परिषत्तु' की स्थापना के अवसर पर, आग्रह किया था कि मैं सामाजिक इतिहास को पुस्तक रूप में लिख डालूँ । उस समय मैंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि न तो मुझमें ऐसी योग्यता है और न इतना परिश्रम करने की शक्ति ही । परन्तु जब श्री लोकनन्दि शंकरनारायणराव, श्री देवुलपल्लि रामानुजराव तथा श्री पुलिजाल हनुमन्तराव-जैसे मित्रों के निरन्तर आग्रह को मैं टाल न सका तो अन्त में मुझे हार माननी ही पड़ी । आवश्यक सामग्री के अभाव के कारण मैं इस पुस्तक से सन्तुष्ट नहीं हूँ ।

—सुरवरमु प्रतापरेड्डी

१-२. ये दोनों काव्य ऐसे हैं जिनके आदि से अन्त तक के सभी पद्य दो-दो अर्थ वाले हैं ।

३. अर्थात् श्री वेदम् वेंकटराय शास्त्री, जिन्होंने हर्ष काव्य के श्रीनाथ-कृत अनुवाद 'आन्ध्र नैषधमु' की टीका लिखी है और इस कारण जो तेलुगु के मल्लिनाथ सूरि कहे जाते हैं ।

द्वितीय संस्करण

पत्र-सम्पादकों और विद्वानों ने इस पुस्तक की जैसी प्रशंसा की, उसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। इस विषय में मैं अपने को धन्य मानता हूँ। विशेषत: 'आन्ध्र प्रभा'-सम्पादक श्री नार्ल वेंकटेश्वरराव जी का तो मैं अत्यन्त ही ऋणी हूँ। इस पुस्तक के माध्यम से उनके साथ मेरा यह दूसरा परिचय है। पुस्तक उन्हें पसन्द आई। उन्होंने अग्रलेख लिखा। 'आन्ध्र प्रभा' में 'हमारे दादे-परदादे' शीर्षक को देखते ही मुझे इस पुस्तक का ध्यान आया। सहसा मन में विचार उठा कि कहीं यह मेरी ही पुस्तक की समालोचना तो नहीं। अनुमान ठीक निकला। उनके इस विज्ञापन से पुस्तक का प्रचार बढ़ा। फिर उन्होंने मुझे सूचना दी कि अंगरेजी पद्धति अपनाकर प्रत्येक विषय पर आदि से अन्त तक अलग-अलग पुस्तकें लिखना अधिक अच्छा होगा। परन्तु तब तक इसके तीन अध्याय उस्मानिया विश्वविद्यालय की एफ० ए० परीक्षा तथा 'आन्ध्र सारस्वत परिषत्तु' की प्रवेश परीक्षा के पाठ्यक्रमों में स्थान पा चुके थे। इसलिए उस समय कोई परिवर्तन सम्भव न हुआ।

अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी इस पुस्तक पर समालोचाएँ छपी हैं। सुना है, स्वयं देखा नहीं। 'आन्ध्र प्रभा' के सम्पादक महोदय के निर्व्याज प्रेम ने तो मुझे कृतज्ञता के बन्धन में बाँध लिया है। उनकी विद्वत्तापूर्ण समालोचना को पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दिया जा रहा है।[1]

---

१. हिन्दी-संस्करण में इस परिशिष्ट को पुस्तक के प्रारम्भ में ही दिया जा रहा है, ताकि पाठकों को पुस्तक का एक संक्षिप्त परिचय पहले ही मिल जाय।

संगीत-शास्त्र-पारंगत, तेलुगु के अग्रणी लेखक तथा मेरे मित्र श्री राळ्ळपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा ने पुस्तक के बाईस विषयों पर एक विस्तृत पत्र बड़े प्रेम पूर्वक लिखा। उनकी सभी सूचनाओं पर मैंने अपनी भूलें मान ली हैं और वह पत्र भी पुस्तक के अन्त में ज्यों-का-त्यों दे दिया है।

श्री वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री महान् विद्वान्, अनुसन्धाता तथा आलोचक हैं। उन्होंने मुझे एक पोस्टकार्ड लिख भेजा था[1] :

"आपकी पुस्तक 'आन्ध्रुलॅ सांघिकॅ चरित्रॅ' को अत्यन्त रोचक पाया। आप इसकी रचना के लिए सर्वथा समर्थ हैं। सरसरी तौर पर एक बार आद्यन्त पढ़कर यह पत्र लिख रहा हूँ। पुस्तक को पढ़ने-मात्र से यह समझ गया कि आप एक प्रामाणिक (ईमानदार), सत्यनिष्ठ तथा पवित्र-हृदय व्यक्ति हैं। मेरी लालसा है कि इसके विषयों को इससे भी चार-पाँच गुना अधिक बढ़ाकर इसका द्वितीय संस्करण निकले और उसमें मैं आपकी सहायता करूँ।"

शास्त्री जी को मैंने तुरन्त ही पत्रोत्तर दिया। पर जान पड़ता है मेरा पत्र उन्हें मिला ही नहीं। फिर उनका कोई पत्र नहीं आया। उनके आशीर्वाद के लिए मेरे प्रणाम। इस तीन आलोचनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।

इस बार पुस्तक में कुछ परिवर्तन किये हैं। 'पूर्वी-चालुक्य युग' नाम का एक नया अध्याय जोड़ दिया है। प्रथम संस्करण में 'चौपड़' पर अधिक श्रम नहीं कर पाया था। इस बार उसे समग्र रूप से समझ-कर लिखा है। पहले संस्करण में कुछ शब्दों का अर्थ न जानने के कारण या तो ठीक से लिखा ही नहीं था या थोड़ी-बहुत चर्चा करके पहलू बचाने अथवा सिरे से ही छोड़ देने की चेष्टा की थी। इस बार उन सबको समझ-बूझकर लिख दिया है। ऐसे विषयों में से बोम्मॅकट्टुट, कनुमारि, वीटि खेल, रणमुकुट्टपु, पुरुवुलकोवि, मुडासु, तलमुळ्ळु आदि के

१. **श्री वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री का (तिरुपति से दि० २८.१०.४६ का) यह पत्र ही मेरे नाम उनका प्रथम और अन्तिम पत्र है। —लेखक**

विषय देखने योग्य हैं। पुस्तक के अन्त में विशेष शब्दों की एक सूची भी अकारादि क्रम से दे दी है।

प्रथम संस्करण में 'शब्द रत्नाकरमु' तथा 'आन्ध्र वाचस्पत्यमु' इन दो कोशों की सहायता से जो शब्दार्थ निकल सके थे, उन्हींको अपनी सूझ-बूझ के अनुसार देकर सन्तोष कर लिया था। इस बार 'सूर्यरायांध्र निघंटु' भी देखने को मिला। इस कोश के अब तक के छपे भाग 'न' अक्षर तक पहुँच सके हैं। शेष अभी अप्रकाशित हैं। सम्भवतः एक पीढ़ी और लगे। जो नये शब्द इसमें मिले, उनके अर्थ प्रायः वही हैं जो मैंने अनुमान से पहले ही लगा रखे थे। लगभग दसेक शब्दों के अर्थ इसमें मिले। इस कोश में भी कुछ शब्दों के अर्थ 'पक्षी विशेष' 'क्रीड़ा विशेष' आदि देकर ही सन्तोष कर लिया गया है। 'प' से 'ह' वर्णों तक के शब्दों का अर्थ-निर्णय मैंने स्वयं किया है। इस बार कुछ नई पुस्तकें भी देखने को मिलीं। 'राजवाहनविजयमु', 'गौरनॅक्रतुलु', वेंकटनाथ-कृत 'पंचतंत्रमु', 'कुमारसंभवमु', 'वेलुगोटिवंशावलि' आदि से भी सामाजिक इतिहास निकालने में सहायता मिली है। इस प्रकार कुछ नये विषय भी पुस्तक में जोड़े जा सकते हैं।

सत्तर-अस्सी वर्ष के बूढ़ों को अपने बचपन की जो बातें याद होंगी उनकी जानकारी हमें नहीं हो सकती। थोड़ी-बहुत जो जानकारी हमें है भी, वह हमारे बच्चों को न होगी। दो-तीन सौ वर्ष पूर्व के अपने ही पूर्वजों के आचार-विचार हम समझ नहीं पाते। इस पुस्तक में भी कई बातों पर हमें लिखना पड़ा कि हम समझ नहीं पाए। हमारी साहित्य-संस्थाओं के संचालक पुस्तक-प्रदर्शनी, कला-प्रदर्शनी, प्राचीन वस्तु-प्रदर्शनी आदि के आयोजन प्रायः करते रहते हैं। ये सब तो ठीक हैं, पर इनके साथ पूर्वजों की परम्परागत वस्तुओं का संग्रह और प्रदर्शन भी होना चाहिए। यह अत्यन्त आवश्यक है। व्यास पीढ़े (रिहल), ताल-पत्र की पोथियाँ, लोहे की लेखनियाँ (स्टाइलस), बोंडकोय्य (शिकंजा), कोडेमु, पोगड़दंड, प्राचीन चित्र, सिडि आदि के चित्रपट,

पुराने सिक्के, पुरानी पोशाकें, कटोर-घड़ियाँ (गडियगुड्डुक), कविलेकडितमु, गिल्ली-डंडे, चौपड़-पाँसे, मुर्गबाजी के हथियार, पुरानी नथें आदि स्त्रियों के गहने जो बड़ी तेजी से मिटते जा रहे हैं, वाराबंदी चोगे, कबाएँ, चड्डियाँ या जाँघिये, कुलाहें, अस्त्र-शस्त्र, कवच, स्याही की कुप्पियाँ, सरकंडे की कलमें, महापुरुषों के हस्ताक्षर, हस्तलिखित पुस्तकें, चोरो के साधन, रंग और रंगरेजी की सामग्री, बालक-बालिकाओं के खेल-कूद के सामान, पैसों के तोड़े या जाली की थैलियाँ, कमरबंद, घोड़ों की तंगियाँ, तोबड़े-तरहे इत्यादि, चमड़े और लकड़ी के गुड्डों तथा गुड़ियों के नमूने, यक्ष-गान के चित्र, दृश्य-चित्र, काँच की कुप्पियाँ, विविध अंचलों की प्राचीन दस्तकारियाँ, संगीत परिकर (वाद्य) आदि सभी प्रकार की दुर्लभ दुर्मिल वस्तुओं का संग्रह करके उनका प्रदर्शन किया जाना चाहिए और उन्हें अजायबघरों के अन्दर रखा जाना चाहिए। ऊपर जिन वस्तुओं को गिनाया गया है, उनमें से आधी से अधिक ऐसी हैं जो आजकल के लोगों के लिए अपरिचय से अद्भुत हो चुकी हैं। इनमें अधिकतर ऐसी हैं जो केवल हमारे तेलुगु देश के अन्दर ही प्रचलित थीं। यदि हम इन्हें खोज-ढूँढकर एकत्र नहीं करते तो आने वाली पीढ़ियों की हमारी सन्तानें अपने सामाजिक इतिहास को समझने में सर्वथा असमर्थ हो उठेंगी।

अब हम इस सामाजिक इतिहास के पूर्व-भाग अर्थात् शालिवाहन-युग से राजराजनरेन्द्र के शासन-काल (सन् ९०० ईस्वी) तक के इतिहास को प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

अक्तूबर १९५०　　　　　　　　　　　　　　सुरवरमु प्रतापरेड्डी

अनुबन्ध

'हमारे दादे-परदादे'[1]

अब तक के हमारे इतिहास में क्या रहा है ? यही कि किस राजा ने कब राज्य किया ! कहाँ किया ! कैसे किया ! उसने कितने युद्ध किये ! किस-किसको हराया ! किससे हारा ! कब किससे ब्याह किया ! उसकी कितनी पत्नियाँ और कितनी उपपत्नियाँ थीं ! बहु-पत्नी-प्रथा के साधक-बाधकों से वह कैसे निपटा ? और न जाने क्या-क्या ?

'ना विष्णुः पृथिवीपतिः ।' जब तक जनता में यह विश्वास बना रहा, तब तक राजाओं और उनके दरबारों की कहानियों, रानियों और रनिवासों की गाथाओं का ही बोल-बाला रहा । यही देश का इतिहास था और ऐसा इतिहास किसी को अखरता भी नहीं था ।

अब ऐसे अन्ध-विश्वास का युग नहीं रहा कि 'राजा दैवांश संभूत' होता है । यहाँ तक कि विगत विश्व-युद्ध के बाद से जापानियों का यह परम्परागत मूढ़ ज्ञान भी खोखला पड़ गया है कि उनके सम्राट् हिरो-हितो परब्रह्म-स्वरूप हैं ।

राजाओं के दिन लद गए । अब प्रजा ही राजा है । इसलिए देश के इतिहास का रूप भी अब बदल जाना चाहिए । अब हमें यह बताने

१. 'आन्ध्र प्रभा' (मद्रास) का मंगलवार दिनांक २२ नवम्बर १६४६ ई० का अग्रलेख, जो मूल पुस्तक में प्रथम परिशिष्ट के रूप में दिया गया है । हिन्दी-संस्करण में प्रारम्भ में ही इसलिए दिया जा रहा है कि इससे पाठकों को पुस्तक का संक्षिप्त परिचय पुस्तक के प्रारम्भ में ही मिल जायगा ।

की जरूरत नहीं रही कि वृद्ध राजा राजराजनरेन्द्र की तरुणी भार्या ने अपने सौतेले पुत्र पर डोरे डाले थे या नहीं। हमें राजा प्रतापरुद्र की उपपत्नी की कथा भी नहीं सुननी। ('क्रीड़ाभिराममु' के रचयिता ने लिखा है कि राजा प्रतापरुद्र की रखैल की लीलाओं को लोग नाटकों के रूप में मंचस्थ अभिनीत किया करते थे।) राजा कृष्णदेवराय और देवेरों के बारे में भी कुछ जानने-सुनने की हमारी इच्छा नहीं रही। उन देवेरों के आपसी रगड़ों-झगड़ों की बातें सुनने की तो और भी नहीं।

आज के जन-युग में जनता के इतिहास ही प्रकाशित किये जाने चाहिएँ। इसीका दूसरा नाम है सामाजिक इतिहास।

अब, जबकि नाम-मात्र शेष वर्तमान बृटिश सत्ता का आधिपत्य थोड़े ही दिनों में समाप्त होने वाला है,[1] अब जब कि कई शतियों के बाद आन्ध्र जाति के लिए अपना एक अलग प्रदेश बनने वाला है, इस प्रकार के इतिहास का प्रणयन और प्रकाशन सर्वथा समयोचित है।

लगभग एक हजार वर्ष से, अर्थात् सन् १०५० से १६०७ ईसवी तक तेलुगु जाति ने अपने जीवन के कष्टमय दिन किस प्रकार काटे, इसका विवरण यह इतिहास हमारी आँखों के आगे चित्रवत् स्पष्ट कर देता है, हमारे दादे-परदादे कैसे रहते-सहते थे। हमारी दादियाँ-नानियाँ कैसे गहने पहनतीं थीं, उनकी वेश-भूषा कैसी थी, हमारे पुरखे-पित्तर किन-किन देवी-देवताओं को पूजते थे, उनकी मान्यताएँ क्या-क्या थीं, कैसे-कैसे नाच-गान और खेल-कूद में वे मस्त रहते थे, राजाओं के अत्याचारों या चोर-डाकुओं की लूट-मारों या अकाल के सर्वग्रासी विकराल काल से अपने जान-माल की रक्षा वे कैसे करते थे, उन्होंने कैसे-कैसे दुःख झेले और उनके क्या-क्या उपचार किये। किन-किन और कैसी-कैसी कलाओं में उन्होंने अपनी रुचि दिखलाई, किन-किन देशों से व्यापार किये आदि-आदि बातें इस इतिहास में वर्णित हैं।

---

१. अब तो भारत स्वतन्त्र है, आन्ध्र प्रदेश भी अलग संगठित हो चुका है। —अनु०

तप्पेलु (धपड़े), काहल, सींगें, डमाई, बूरे, शंख, शहनाइयाँ, ढोल, मृदंग, रुंज, चेगंटें आदि बाजे जब एक साथ बजते रहे होंगे, तो उनका समवेत स्वर हमारी प्राचीन रणभेरी (फौजी बैंड) का रूप ले लेता होगा ।

भ्रमर-पद, पर्वत-पद, शंकर-पद, निवाळी-पद, वालेशु-पद, चंदा-पद, चक्की-पाटके पाट-पद, मूसल के गीत, गुड़ियों के खेल, कोलाटम्, गोंडली, चिंदु, जक्किरिण, पेररिण, प्रेंखरिण, उप्पेनें पट्टे, लट्टू, मुर्गबाजी के व्यसन, शेर-बकरी के खेल, चौपड़, सिडि आदि हमारे पुरखों के खेल-कूद, नाच-रंग और मनोरंजन थे ।

मुक्करें (नथें), नेत्तिबिळ्ळ (बालों के गोफे), दंडकडेमु (कड़े), बंकी, जोमालदंड, ताटंकमु, मुत्यालकम्में कांची नूपुर कंकरणमु, मोरबंकें, करधनियाँ, वट्टाणमु, मुक्कुसत्ति आदि उन आभूषणों में से कुछ-एक के नाम हैं, जिन्हें हमारी दादियाँ-नानियाँ पहना करती थीं ।

वेंजावळि, जयरंजि, मंचिपुञ्जमु (हिमपुञ्ज), मणिपट्टु, भूतिलकमु, श्रीवन्निमें, चीनि, महाचीनि, पट्टु, बोपंट्टु, नेरेंपट्टु, वेलिपट्टु, पच्चनि-पट्टु, नेत्रंपुपट्टु, संकुपट्टु, भावजतिलकमु, रायशेखरम्, रायवल्लभम्, वायुमेघम्, गजवाळम्, गंडवरम्, वीणावलि, आदि उन सूती-रेशमी कपड़ों में से कुछेक के नाम हैं जो किसी समय हमारे तेलुगु नाट (आन्ध्र देश) में विशेष रूप से बुने जाते थे ।

एक दिन वह भी था जब हमारे तेलुगुसीमें (आन्ध्र देश) में प्रत्येक ब्राह्मण के घर में एक पुस्तकालय होता था । धनी-मानी कालीनों पर बैठते थे । 'बुरुनिसु' शाल-दुपट्टे आदि ओढ़ते थे । कर्जदार को 'पोगडदंड' की सजा देकर धूप में खड़ा कर दिया जाता था । चोर को पकड़कर हरीस या 'बोंडकोय्य' (शिकंजे) में कस दिया जाता था । जिसकी एक पत्नी जीवित हो, उसकी दूसरी पत्नी बनकर ब्याही जाने वाली स्त्री को 'सवति कडेमु' (सौत कडा) नाम की बिजायठ बाहों में पहननी पड़ती थी । युद्ध में हारने वाले 'घर्मधार' धारण करते

थे। लोग पान खाते थे और 'पानदान' रखते थे। एरुवाकँ पूनो के पर्व पर किसान बैलों का उत्सव मनाते थे। पटवारी अपनी 'वहि' (बही) में लेन-देन का लेखा रखते थे। चोर मसान की राख से दवा का काम लेते थे।

श्री प्रतापरेड्डी के सामाजिक इतिहास ('सांघिकँ चरित्रॅ) में हमारे पूर्वजों के जीवन तथा रहन-सहन के सम्बन्ध में ऐसी अपार सामग्री भरी पड़ी है।

यह इतिहास श्री रेड्डी के आजीवन अनुसंधानों का सार है। सामाजिक इतिहास के लिए उपयोगी पुस्तकों के बावजूद शिला-लेखों का उपयोग नाम-मात्र का ही होने के बावजूद प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त आंचलिक तथा स्थानीय शब्दों के साधारण बोधगम्य अर्थों के स्थान पर काष में 'पक्षी विशेष', 'भक्ष्य विशेष'-मात्र लिखे होने और इस प्रकार कोषगत शब्दार्थों के निरर्थक होने के बावजूद सारी रुकावटों की काट करते हुए आन्ध्र जाति का सामाजिक इतिहास प्रतिभापूर्वक चित्रित करने वाले श्री सुरवरमु प्रतापरेड्डी की सेवाएँ सर्वथा प्रशंसनीय हैं।

आन्ध्र जाति के पिछले इतिहास की जानकारी तो यह ग्रन्थ-रत्न देता ही है, उसके अतिरिक्त उन साधनों का विवरण भी प्रस्तुत करता है, जिनके कारण जाति की उन्नति हुई। साथ ही उन बाधाओं का भी, जिनके कारण उसकी अवनति हुई। यह 'ग्रन्थराज' उन सभी का विवरण संदर्भानुसार प्रस्तुत करता है। साथ ही आन्ध्र जाति के लिए भावी कर्तव्य-पथ का निर्देश भी करता है।

रेड्डी जी ने स्वयं कहा है कि इस पुस्तक से मैं स्वयं भी कोई सन्तुष्ट नहीं हूँ, लेकिन फिर भी रेड्डी जी को इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है कि इसका स्वागत कैसा होगा। यह तो निश्चित-सा है कि यह पुस्तक समस्त आन्ध्र जाति को अमित तृप्ति प्रदान करेगी।

: १ :

पूर्व-चालुक्य युग

आन्ध्र साहित्य के इतिहास का आरम्भ नन्नय भट्ट से होता है। नन्नय भट्ट पूर्व-चालुक्य महाराजा राजराजनरेन्द्र के राज-पुरोहित थे। राजराजनरेन्द्र ने राजमहेन्द्रवरम् (राजमहेन्द्री) को अपनी राजधानी बनाकर सन् १०२२ से १०६३ तक वेंगिदेश (आन्ध्र) पर शासन किया था। पूर्व-चालुक्यों का पूरा इतिहास हमें नहीं मिलता। इसलिए नन्नय-भट्ट से लेकर काकतीयों के प्राबल्य तक अर्थात् सन् १००० से १२०० ई० तक आन्ध्र देश में प्रचलित आचार-व्यवहार की जानकारी जहाँ तक प्राप्त हो सकी है, प्रस्तुत की जा रही है।

आन्ध्र देश में भी बौद्ध धर्म कभी खूब फूला-फला था। लेकिन राज-राजनरेन्द्र से कोई चार सौ वर्ष पूर्व ही वह यहाँ से मिट चुका था। चालुक्य स्वयं शैव थे। इस कारण पूरे राज्य में शैव धर्म का बोल-बाला था। ब्राह्मणों की शक्ति काफ़ी बढ़ी-चढ़ी थी। आदिकवि नन्नय भट्ट से पहले भी तेलुगू में पदों और पद्यों की रचना होती थी और लोग काव्य-चर्चा में रस लेते थे। तथापि नन्नय भट्ट के पहले की कोई भी कविता अब उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध अगर कुछ हैं तो कुछेक शिला-लेख। नन्नय भट्ट कहते हैं कि चालुक्य-नरेश को 'पार्वती पति पदाब्ज ध्यान-पूजा महोत्सव' में प्रीति थी। चालुक्य क्षत्रिय नहीं थे। पर उन दिनों सभी राजा सूर्य या चन्द्र से अपनी वंश-परम्परा जोड़कर क्षत्रिय बन

जाया करते थे। उसी प्रकार चालुक्य-वंश भी क्षत्रिय बन गया था। राजराजनरेन्द्र ने कविवर नन्नय भट्ट से 'आन्ध्र महाभारत' के आरम्भ में ही यह कहला दिया था कि महाभारत के पुरु-कुरु आदि नरेश चालुक्यों के पूर्वज थे :

"हिमकरु तोट्टिपूरु भरतेशकुरु, प्रभुपोंडु भूपतुल् ।
क्रममुनँ वंशकर्त्तलनगा महिनोप्पिनँ यस्मदीय वंशमु ।"

परन्तु राजराजनरेन्द्र के पूर्वजों ने स्वयं कहा है कि वे उस मूल पुरुष चालुक्य की सन्तानें हैं, जो ब्रह्मा की प्रार्थनाञ्जलि (चुल्लू) से पैदा हुआ था। इन्हीं चालुक्यों की एक और शाखा ने अपनी कथा किसी और ही ढंग से वर्णित कराई है। पर ये ही क्यों, उस समय के सभी राजाओं ने किसी-न-किसी प्रकार अपने को चन्द्रवंशी या सूर्यवंशी लिखवा लिया था। उस युग में राजाओं ने ही शिवालयों, धर्मशालाओं, अन्नसत्रों आदि का निर्माण कराया था। संक्रान्ति अथवा ग्रहण के पर्वों पर वे ब्राह्मणों को भूमि तथा ग्राम दान में दिया करते थे। ब्राह्मणों को दिये गए इन बिरतों को 'अग्रहार' कहते हैं।

नन्नय भट्ट के बाद ही ब्राह्मणों की वैदिकी और नियोगी नाम की दो शाखाएँ बनीं। पूजा-पाठ से निर्वाह करने वाले वैदिकी कहलाये तथा नौकरी या अन्य उद्यमों से आजीविका चलाने वाले नियोगी। ब्राह्मणों के अन्दर यह भेद नन्नय भट्ट के समय या उनसे पहले दिखाई नहीं देता। नन्नय भट्ट से सौ साल पहले अम्मँराजु विष्णुवर्धन नाम का एक राजा हो चुका है। पहले उसीने राजमहेन्द्रवरमु में अपनी राजधानी बनाई थी। उससे पहले चालुक्यों की राजधानी वेंगीपुर में थी। इसी कारण पूर्वी समुद्र-तट के प्रदेशों (सरकार ज़िलों) की परिस्थितियों का कुछ पता चल पाया है।

जिन राजाओं ने अपने को झूठ-मूठ क्षत्रिय नहीं कहा या औरों से नहीं कहलवाया, उन्हें पौराणिकों ने सीधे शूद्र नहीं तो 'चतुर्थ कुलज' 'गंगापुत्र' आदि अवश्य कहा है। इस काल में तेलुगू देश में जो द्विजेतर

प्रबल थे, वे 'सच्छूद्र' कहलाये । "सत्य आदि गुणों से मंडित शूद्र सच्छूद्र होंगे ।"[१] वेदव्यास (कृष्ण द्वैपायन) के 'संस्कृत महाभारत' में 'सच्छूद्रों' का कहीं कोई उल्लेख नहीं है । फिर भी नन्नय भट्ट ने, शायद विशेष रूप से आन्ध्र देश के लिए ही, इस नई जाति की उद्भावना की ।

ब्राह्मण जाति की महत्ता के उल्लेख संस्कृत महाभारत में भी बारम्बार मिलते हैं । बिना किसी विशेष कारण के ही, नन्नय भट्ट ने 'आन्ध्र महाभारतमु' में न केवल यह कि संस्कृत मूल के कुछ श्लोक छोड़ दिए हैं, बल्कि कुछ नये श्लोक जोड़े भी हैं । जो भी विशेषता उन्हें उचित प्रतीत हुई, उसे उन्होंने अपने 'महाभारत' में स्थान दे दिया ।[२]

नन्नेचोड़ु के काल (लगभग सन् ११५० ई०) तक ही देश में शैव-मत के साथ-साथ 'कौल मार्ग'[३] आदि वामाचारों का प्रवेश हो चुका था । नन्नेचोड़ु ने उन वाम विधानों की थोड़ी-सी चर्चा 'कुमार संभवमु' में की है । वह इस प्रकार है : कुछ लोग मधुपान-गोष्ठी में प्रविष्ट हो, मंडलार्चन करके (श्री चक्र-पूजा से निवृत्त हो), मूलज, वृक्षज, गुड़, मधु, पिष्ट, कुसुम, विकारों आदि से युक्त सुगंधासवों को कनक-मणि-मय अनेक करक-चषकादिकों में भरकर प्रसन्नचित्त हो गौरी, महादेव, भैरव,, योगिनियों, नवनाथों तथा आदिसिद्धों की पूजा करके, भोग चढ़ाकर, आप भी पीते हुए उन आसवों की इस प्रकार प्रशंसा किया करते हैं :

"अमरपान यदि करें, अमृत है वही अनर्तन,
मधुपों के दल पियें उसे यदि, वही रसायन,
आगम-विधि से भूसुरौघ यदि पियें, सोम है,

---

१. 'आन्ध्र महाभारत', अरण्य पर्व, ४—१२९ ।

२. आदि पर्व के १—१३८, २—६१, ६३ आदि मूल संस्कृत महाभारत में नहीं हैं ।

३. मत्स्येन्द्रनाथ का पंथ ।

कौलिक-कुल के चक्र-याग में 'वस्तु' होम है।"[१]

"और फिर वे अनेकविध मांसोपदंशकों का आस्वादन करते हुए मनोहृद्य मद्यों का सेवन किया करते हैं।"[२]

संस्कृत महाभारत में दक्षिण भारत के सम्बन्ध में कोई विशेष चर्चा नहीं है। फिर भी नन्नय भट्ट ने अर्जुन की तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में बेंगी देश (आन्ध्र) तथा गोदावरी नदी का वर्णन किया है :

> **दक्षिण-गंगा की विपुल ख्यातियुता गोदावरि के,**
> **जगदादि-धाम के जगदीश्वर श्री भीमेश्वर के,**
> **अनवद्य यशोमंडित पंडित पूजित श्रीगिरि के,**
> **सश्रद्ध मना हो इन तीनों के दर्शन करके,**
> **सोचा वेंगी वैभव-विभु-अर्जुन ने : धरती पर**
> **शिष्टाग्रहार-भूयिष्ठ-धरणिसुर-उत्तम-अध्वर**
> **के शुभ विधान से महापुण्य-समृद्ध, अनघ-चय**
> **ये तीर्थ किये जीवन कृतार्थ हो गया, पुण्यमय।**[३]

नन्नय भट्ट के काल में तेलुगु देश में तीन सुप्रसिद्ध तीर्थ थे : गोदावरी नदी, भीमेश्वर महादेव तथा श्री शैल (श्री पर्वत, कृष्णा नदी के तट पर पूर्वी-घाट पहाड़ों के बीच)। 'वेंगीदेश' में 'अग्रहार' भी प्रचुर परिणाम में दिये गए थे।

नन्नय भट्ट के समय की तेलुगु-भाषा के सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं में काफी चर्चा हो चुकी है। अप्रासंगिक होने के कारण यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा न करके उल्लेख-मात्र किये दे रहे हैं। नन्नेचोडु ने 'जानु तेनुगु' (जन-तेलुगु या जन-भाषा) के सम्बन्ध में लिखा है कि भाषा सादी हो और भाव सरल हों। इसीको उन्होंने 'वस्तुकवित (I)'

---

१. वाममार्गी 'कौलिक' चक्रयाग की शराब को 'वस्तु' ('वस्तुवु') कहा करते थे।

२. 'कुमारसंभवमु,' ६—१२७ से १३२ तक।

३. 'आन्ध्र महाभारतमु,' आदि पर्व ८—१३९।

कहा है। कन्नड भाषा में 'जोपनुडि' का शब्द पहले से ही प्रचलित था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी उसीको अपनाया है। (इस प्रसंग में मद्रास-विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'कुमारसंभवमु' में श्री कोराड रामकृष्णय्य जी की भूमिका दर्शनीय है।) पाल्कुरिकि सोमुड़ु ने भी 'वृषाधिप शतक' नाम की अपनी कृति में इस 'जानु तेनुगु' की प्रशंसा करते हुए एक पद्य में उसकी शैली को दरसाया है। उसीमें उन्होंने संस्कृत और आन्ध्र भाषा की मिलावट से बनी शैली 'मणिप्रवाल' में भी दो पद्य लिखे हैं। 'मणिप्रवाल' शैली अब तेलुगु से लुप्त हो चुकी है। कोराड रामकृष्णय्य ने महाभारत-सम्बन्धी अपनी लेखमाला में लिखा है कि तमिळ भाषा[1] में अभी तक 'मणिप्रवाल' शैली का प्रचार है।

नन्नेचोड़ु ने कहा है कि कविता की दो प्रणालियाँ हैं। एक 'देशी कविता' और दूसरी 'मार्ग कविता'। कविता में ही नहीं संगीत तथा नृत्य-कला में भी ऐसे भेद उपस्थित होने की सूचनाएँ श्रीनाथ के समय तक मिलती हैं। 'मार्ग विधान' संस्कृत-सम्प्रदाय है। 'वाल्मीकि रामायण' में ही बाद वालों ने लव-कुश बन्धुओं के सम्बन्ध में कहा है कि : 'आगायताम्मार्ग विधानसम्पदा'। यह कहा जा सकता है कि दक्षिण देश में संस्कृत-सम्प्रदाय से भिन्न भाषा, संगीत तथा नृत्य-कलाओं को 'देशी मार्ग' कहने अथवा देशी स्वरूप देने की परम्परा नवीं शती ईसवी से प्रारम्भ हुई थी।

नन्नेचोड़ु ने कहा है कि चालुक्य-नरेशों ने ही आन्ध्र देश में देशी कविता-सम्प्रदाय की स्थापना की।[2] उन्होंने कहा है कि उस समय कई

१. तमिळ-संस्कृत की मिलावट से बनी भाषा-शैली। वास्तव में 'मणिप्रवाल' शैली मलयालम (मलयालम-संस्कृत) की है। अन्य भाषाओं में न तो कभी इसका उतना अधिक प्रचार हुआ और न उतने प्रचुर साहित्य की सृष्टि ही हुई।

२. 'कुमारसंभवमु', १-२३।

देशी सत्कवि विद्यमान थे ।[1] 'कुमारसंभवमु' को ही हमारा प्रथम प्रबन्ध कहा जा सकता है । नन्नय ने अष्टादश वर्णनों, नव रसों तथा छत्तीस अलंकारों को उत्तम काव्य का लक्षण कहा है ।[2] जनता में लोरी,[3] गौड्डुगीतमु,[4] आदि तब भी प्रचलित थे । विद्यार्थियों को 'ओम् नमः शिवाय' के पाठ से विद्यारम्भ कराया जाता था ।[5] वेदों-शास्त्रों का पठन-पाठन उस समय विशेष रूप से होता था । नन्नय भट्ट के सहपाठी और महाभारत की रचना में सहायक बंधु वानस-वंशीय नारायण भट्ट 'संस्कृत कर्णाट प्राकृत पैशाचिकांध्र' भाषाओं के 'प्रकाण्ड पण्डित कवि-शेखर, अष्टा-दशावधान चक्रवर्ती और वाङ्मय धुरन्धर' थे। राजराजनरेन्द्र के आस्थान में "अपार शब्द-शास्त्र-पारंगत वैयाकरण, भारत-रामायणादि, अनेक पुराण प्रवीण पौराणिक, मृदुमधुर-रसभाव-भासुर नवार्थ-वचन-रचना-विशारद महाकवि, विविध तर्क विगाहित-समस्त-शास्त्रसागर-पराग प्रतिभावान्, तार्किक आदि विद्वज्जन विराजते थे ।"[6]

उन दिनों वेदों तथा तर्क, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों की शिक्षा के लिए जहाँ-तहाँ विद्या-केन्द्र स्थापित थे । उन विद्या-केन्द्रों को राजाओं के अतिरिक्त धनी-मानी व्यापारियों तथा उद्योगियों (राज-सेवा में लगे लोगों) ने भी प्रचुर भूमि दान में दी थी । हैदराबाद में वर्त्तमान वाडी रेलवे जंकशन के निकट उस समय 'नागवापी' नामक एक सुप्रसिद्ध स्थान था । आजकल उसे 'नोगाइ' कहते हैं । पुरातत्त्व विभाग ने वहाँ के कुछ शिला-लेखों की प्रतिलिपियाँ प्रकाशित की हैं । उनसे विदित होता है कि वहाँ पर सन् ११०० ई० के आस-पास एक बहुत बड़ा-सा विश्वविद्यालय था,

१. 'कुमारसंभवमु', १-२४ ।
२. वही, १-४५ ।
३. वही, ४-८६ ।
४. वही, ६-४५ ।
५. वही, ३-३४ ।
६. 'आन्ध्र महाभारत', आदि पर्व १-८ ।

जिसमें शैव आगम तर्क-शास्त्र, न्याय-शास्त्र तथा अन्य कितने ही शास्त्रों के अतिरिक्त वेदों की शिक्षा भी दी जाती थी। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के रहने-सहने का विशेष प्रबन्ध था। अध्यापकों के निर्वाह के लिए ही नहीं, विद्यार्थियों के भोजनार्थ भी कुछ भूमि अलग रखी गई थी। नागवापी में एक पुस्तकालय भी था।

विश्वविद्यालय के विषय में ऐसे अनेक अद्भुत तथ्यों का ज्ञान उन शिला-लेखों से प्राप्त होता है। विद्वानों ने अति प्रचार के कारण तक्षशिला, नालंदा आदि विश्वविद्यालयों के विषय में तो बहुत सारी जानकारी खोज निकाली है, किन्तु 'नागाई' का किसी ने नाम तक नहीं लिया। मुसलमानों के आक्रमणों के कारण उत्तर भारत के प्रसिद्ध विद्यापीठ और उनके ग्रन्थालय बहुत पहले ही विध्वस्त हो चुके थे। पर दक्षिण पथ पर सन् १३२३ ई० तक ऐसी विपत्तियाँ नहीं आई थीं।

वैदिक आचारों से भिन्न बहुत सारे द्राविड (द्रविड) आचारों ने भी दक्षिण भारत की जनता में अपनी जड़ें जमा ली थीं। इन परस्पर भिन्न आचारों के आधार पर हमें 'आर्य' तथा द्राविड़ नामक दो विभाग मानने पड़ते हैं। इसी प्रकार संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव स्वीकार करने पर भी द्राविड़ भाषाओं को भिन्न भाषा,[1] ही मानना होगा। आन्ध्रों में विवाह-संस्कार चार दिन तक चला करता था। 'उत्तर विवाह' के अनन्तर 'दिन चतुष्टय' बिताकर 'बन्धुजन'[2] अपने-अपने घर लौट जाते थे।[3] ममेरी बहन ब्याहने की प्रथा वास्तव में आन्ध्र की ही है। "अर्जुन अपनी ममेरी बहन धवलाक्षी (सुभद्रा) को लिवा ले गया।"[4] (इस पुस्तक में महाभारत से केवल वही उदाहरण लिये गए हैं, जो 'संस्कृत-

१. अर्थात् आर्येतर भाषा।

२. बराती तथा अन्य सगे-सम्बन्धी।

३. 'आन्ध्र महाभारत', उद्योग पर्व १-२। ये बातें मूल संस्कृत में नहीं हैं। ले०

४. 'आन्ध्र महाभारत', आदि पर्व ८-२०७।

महाभारत' में अनुपस्थित और 'आंध्र महाभारत' में उपस्थित हैं।) पैरों के मट्टेलु (छल्ले) तेलुगु देश की स्त्रियों के विशिष्ट अलंकार हैं। यह 'वैदिक पद्धति' नहीं है। "**ललितंबुलगु मट्टियुल चप्पुडिपारलंचकैवडि नलनल्ल-वच्चि।**" (ललित मट्टेलु झनकारती हंसिनी की तरह चली हौले-हौले)।[1] नन्नय भट्ट तथा तिक्कन के समय पुरुष भी यह मट्टेलु पहना करते थे। आज भी कुछ अंचलों में पुरुषों को मट्टेलु पहने देखा जा सकता है। कीचक जिस समय द्रौपदी से मिलने नर्तनागार में जा रहा था, उस समय 'मट्टेलुओं के परस्पर टकराकर शब्द करने के कारण वह बारम्बार अपने पंजों को फैला लेता था।'[2] वर के घर के बड़े-बूढ़ों का पहले ही जाकर कन्या को देख-परख आना, बात पक्की करना और निश्चितार्थ (मंगनी या फल-दान) में 'मुद्रारोहण' (तिलक) करना अर्थात् सिर पर खीलें बखेरना आदि उस समय के आन्ध्राचार में सम्मिलित थे।[3]

विवाह के उपरान्त दोनों पक्ष परस्पर रंग खेलते थे।[4] यह चलन आज भी है। नन्नेचोड़ु ने भी इस 'वसंत खेलने' का उल्लेख किया है। "**पिचकारियों से तान, लाल-लाल छूटें बान, कुंकुमारुणाकीर्ण जल-धार पर धार, रंग में नहा के शोभायमान, थीं.........।**" 'या' "**वरचंदन पंक चुभोड दिये।**" या "**'अवनीर' अबीर उड़े फिरते।**"[5] सिपाही समाज, सेवक समाज तथा निचली जातियों में तलाक का रिवाज मौजूद था। एक सैनिक की पत्नी शिकायत करती है: "पिया ने तलाक देकर मुझको अनाथ किया।"[6]

पश्चिम-चालुक्य-नरेश सोमेश्वरदेव (सन् ११३०) ने अपनी संस्कृत

१. 'आन्ध्र महाभारत', विराट् पर्व २-६४।
२. वही, विराट् पर्व २-२५०।
३. 'मुद्रारोहण' का अर्थ अंगूठी पहनाना नहीं है।
४. 'कुमारसंभवमु', ७-१३६।
५. वही, ६-५६,६०,६७।
६. वही, ११-५५।

पुस्तक 'अभिलषितार्थचिंतामणि' में वैदिकेतर दाक्षिणात्य वैवाहिक प्रथाओं का सुन्दर वर्णन किया है। सोमेश्वरदेव कर्णाटकवासी थे। फिर भी उन्होंने जो बातें बताई हैं, वे आन्ध्र जाति में प्रचलित थीं। इसलिए उनकी पुस्तक हमारे सामाजिक इतिहास के लिए बड़े काम की वस्तु है। उसमें लिखा है: "**विवाह का मंडप हरे पत्तों और फूलों के तोरणों से सजाया जाना चाहिए। विवाह-वेदी के ऊपर चावल ('पोलु') बिखेरा जाना चाहिए। वर-वधू के हाथों में जीरा-चावल रखा जाना चाहिए। विवाह-संस्कार के समाप्त होते ही वर-वधू उस जीरा-चावल को एक-दूसरे के सिर पर छिड़क लें। विवाह का समारोह चार दिन तक चलना चाहिए। चौथे दिन रथों अथवा हाथियों पर वर-वधू का जलूस निकलना चाहिए। (इस जलूस को तेलुगु में 'भेरवणि' कहते हैं।) शेष सब विधियाँ वैदिक ही हों।**"[1] आज भी आन्ध्र की भिन्न-भिन्न जातियों में ऐसी कितनी ही परस्पर भिन्न प्रथाएँ प्रचलित हैं, जो वैदिक विधान से पृथक् हैं। ये द्राविड़ाचार हैं। ताळिबोट्टु या ताडिबोट्टु ताटिकम्मलु या ताटंकमुलु या ताटाकुलु (सुहाग-सूत्र, जो पहले ताल-पत्र का होता रहा होगा), भी द्राविड़ाचार ही हैं।

उन दिनों व्यापार बैलगाड़ियों या भैंसों के ऊपर हुआ करता था। पशुओं की पीठ पर लादी इस प्रकार डाली जाती थी कि वह दोनों ओर लटकती रहे। इसे 'पेरिका' कहते थे।[2] जिनके अधिक पशु होते, वे पहचान के लिए अपने पशुओं पर मुहर या निशानी दाग दिया करते थे।[3] जादू-टोनों पर कम-से-कम कुछ लोग तो जरूर विश्वास करते थे।[4]

---

१. अभिलषितार्थचिंतामणि, प्रकरण ३, अध्याय १३, श्लोक १४८३ से १५१२ तक।

२. 'कुमारसंभवमु', २-७३।

३. 'कुमारसंभवमु,' ४-११।

४. 'कुमारसंभवमु', ४-६१।

इन्द्रजाल का प्रचार भी खूब था।[१] आँखों में चमत्कारी अंजन आँजकर दफ़ीनों (गड़े धन) का पता लगाया जाता था। खप्पर के ऊपर मंत्रपूत काजल पोतकर देखने पर, कुछ लोगों को मनचाही बातें दिखाई देती थीं। "खप्पर के ऊपर महादेव के मंत्रित काजल: लेप उसे थामा गिरिराज सुता ने कर में।[२] आज भी आन्ध्र में लोग आँखदार खप्पर के ऊपर विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ काजल मलते हैं तथा स्थल-शुद्धि के बाद धूप-दीप जलाकर, नारियल फोड़कर, कुछ विशेष मन्त्रों का पाठ करते हुए 'अंजन डालते' हैं। लोहे को सोना बनाने का 'रसवाद' (कीमियागरी) भी कोई आज का नहीं है। वह भी बहुत प्राचीन है। नागार्जुन ने इस कला में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की थी। नन्नेचोड़ु के समय में भी बहुतों ने इस विद्या को साधने की चेष्टा की।[३] विपदा पड़ने पर इष्टदेव की मनौतियाँ मानने और मिन्नतें पूरी होने पर मिन्नतें चढ़ाने की प्रथा भी थी।[४]

भरत के शास्त्र से भिन्न एक विशेष नृत्य-कला भी आन्ध्र में प्रचलित थी। 'आन्ध्र महाभारत' में तिक्कन्न ने उत्तरा के विषय में लिखा है कि उसने 'दंडलासक विधिकुंडली तथा वेक्करण अंगवेरणम् भी' सीखा था। यह प्रसंग मूल संस्कृत में नहीं है। जहाँ-जहाँ सुनते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषों को वश में करने के लिए 'मन फेर' दवाइयों का प्रयोग करती हैं। यह बात जैसे अब है, वैसे तब भी थी। 'आन्ध्र महाभारत' में द्रौपदी सत्य-भामा से कहती है: "इससे लाभ तो है नहीं, उलटे प्राणहानि भी हो सकती है।[५] नन्नेचोड़ु के समय अपराधी को विचित्र-विचित्र हिंस्र दण्ड दिये जाते थे:

१. 'कुमारसंभवमु', ६-७७।
२. 'कुमारसंभवमु', ६-९६।
३. 'कुमारसंभवमु', ६-१४६।
४. 'कुमारसंभवमु', ८-८४।
५. 'आन्ध्र महाभारत', अरण्य पर्व, ५-२९६।

"यह खल है,···है सर्ववध्य, मत देर करो,
शिवदूषक है, जीभ काटकर नमक भरो,
पिघला सीसा अंग-अंग पर डालो जी,
पिघला लोहा कंठनाल में डालो जी,
इस दुरात्मा की चमड़ी उधेड़ डालो,
आँखों के कोये गड्ढों से कढ़वा लो,····[1]
या, छाती पर छाप मिलावा, उसको छोड़ दिया।"[2]

बालिकाएँ "चिलुक गुड्डे, गजदन्त के गुड्डे, काँच के खिलौने, काठ के खिलौने (आदि लेकर) घरौंदे बनाती थीं,····खाना पकाकर गुड्डों-गुड़ियों के ब्याह रचाती थीं।"[3] चमड़े के पुतलों का उल्लेख 'महाभारत' में भी है।[4]

उन दिनों के जन-मनोरंजन के साधनों तथा विनोदों में से बहुतेरे आज भी प्रचलित हैं। 'अंकमल्ल विनोद,' मुरगों की लड़ाई, तीतरों की लड़ाई, भैसों-भेड़ों की लड़ाई, कबूतरबाजी, बाजों की लड़ाई, गीत-वाद्य-नृत्य और नाच, कथाएँ (गेय वीरगाथाएँ), पहेली-बुझौवल, शतरंज, साँप नचाना, गौड़ी-माध्वी-पैष्टी-सुरा-सेवन आदि अनेक मनोरंजनों के विषय में 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' में विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

शिल्प-कला की उन्नति विशेषकर दक्षिण भारत में हुई है। मय के नाम से सम्बद्ध जो वास्तु-शास्त्र प्रसिद्ध है, उसका सम्बन्ध 'मय' आदि आर्येतरों से है। राज-प्रसादों की वास्तु-रचना के सम्बन्ध में भी कुछ ब्यौरा 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' में मिलता है। घरों में खम्भे लगाने की पद्धति दक्षिण की उपजी विशिष्टता ही हो सकती है। चतुश्शाल, त्रिशाल, द्विशाल, एकशाल आदि कई प्रकार के शाल (शालाएँ, भवन)

१. 'कुमारसंभवम्', २-८४।
२. 'कुमारसंभवम्', ४-१६।
३. 'कुमारसंभवम्', ३-३६।
४. 'महाभारत, विराट् पर्व, ३-१६४।

बनाये जाते थे। चतुर्द्वारयुक्त, चतुश्शाल को 'सर्वतोभद्र' कहा गया है। इसी प्रकार नन्द्यावर्त्तम्, वर्धमानम्, स्वस्तिकम्, रुचिकम्, आदि भी भवनों के ही प्रकार-भेद होते थे। गृह-निर्माण के आरम्भ और अन्त में की जाने वाली वास्तु-पूजा की विधियों के भी विस्तृत वर्णन मिलते हैं। श्री रामचन्द्र जी ने वनवास-काल में जब पर्णकुटी निर्मित की तो उन्होंने वास्तु-पूजा करके 'गृहाधिदेवता' को एक हिरन की बलि चढ़ाई थी। अब यह प्रथा केवल ब्राह्मणेतरों में ही पाई जाती है।[1]

अभियोगों और विवादों पर विचार करने के लिए पंचायतों की व्यवस्था थी। पंचायत संस्था भारत की अति प्राचीन संस्था है। यही सच्चा स्वराज्य है। संसार-भर की राजनीति में पंचायत-जैसी कोई दूसरी पद्धति पैदा ही नहीं हुई। अंगरेजी अदालतों के आने के बाद ही कानूनी पैंतरेबाजियाँ, तर्क-वितर्कों के कुतर्क, दलील-दल्लाल, झूठी गवाहियाँ, झूठी कसमें आदि अनेक खुराफ़ातें पैदा हुई हैं। इसी बात को दिल्ली के आख़री बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र ने अपने एक शेर में यों ही कहा था :

"रहते थे इस मुल्क में पीरोवली शम्सोकमर।
जब घुसीं फ़ौजें नसारा हर वली जाता रहा।"

(इस देश में पीर, वली, सूरज, चाँद, सब रहते थे, पर अंगरेज़ी फ़ौजों के घुसते ही सभी वली भाग खड़े हुए।)

पंचायतों के प्रश्न पर अभी आगे के अध्यायों में भी चर्चा की जायगी। पश्चिम-चालुक्य-नरेश ने अपने राज की पंचायती सभाओं को ध्यान में रखते हुए जो कुछ 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' में लिखा है, उसका सारांश यह है :

पंचायत के सदस्य ऐसे व्यक्ति हों जो वेद शास्त्रार्थ-तत्वज्ञ, सत्य-वादी, धर्मपरायण, शत्रु-मित्र-समदृष्टि एवं धीर-वीर हों, लोभी-लालची न हों, जनता में साख रखते हों, व्यवहार-कुशल हों और विप्र हों। ऐसे

१. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि,' प्रकरण १, अध्याय ३।

ही व्यक्तियों को राजा पंच नियुक्त करे। स्वयं वे, या उनकी सहायता से राजा, झगड़ों का निपटारा करे। पंचायत में ऐसे पाँच या सात सदस्य रहें। कुलीन, शीलवान, धनवान, वयोवृद्ध तथा अमत्सर वैश्य भी पंचायत के सदस्य हो सकते हैं। अध्यक्ष ऐसा ब्राह्मण होना चाहिए, जो अर्थशास्त्र-विशारद, लोक-ज्ञानी, प्राड्विवाक्, इंगितज्ञ तथा ऊहापोह-विज्ञानी (मनोविज्ञानी) हो। अध्यक्ष ही प्राड्विवाक् (जज) कहलायँगे। राजा की अनुपस्थिति में विचारपति वही होंगे। ब्राह्मण के अभाव में किसी अन्य कुलीन की नियुक्ति हो सकती है। द्विजों में से किसी को भी अध्यक्ष बनाया जा सकता है, पर शूद्र को कदापि नहीं।"

अभियोग दो प्रकार के होते थे। ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिक-विक्रय, अमानत में खयानत (ग़बन), वेतन का अपहरण, लेन-देन, खरीद-बिक्री, स्वामी-सेवक-विवाद, हदबन्दी के झगड़े, वाक्पारुष्य (अर्थात् कड़वे वचन, अपमान, गाली-गलौज आदि), दंडपारुष्य (अर्थात् शारीरिक यंत्रणाएँ), चोरी, नारी-अपहरण (अग़वा), दायभाग, जुए, आदि से सम्बद्ध सभी प्रकार के झगड़े, विवाद, आरोप, अभियोग, अपराध आदि पंचायतों में निपटाये जाते थे। वादी पंचों के आगे खड़ा हो जाता। पंच उससे कहते, "क्या कष्ट है, बेधड़क बताओ।" वादी की बात सुनकर वे प्रतिवादी (मुद्दालेह) को बुलवाते। यदि वह बीमारी या ऐसे ही किसी अन्य उचित कारण से सभा में उपस्थित न हो सकता तो आपत्ति की कोई बात न थी। कुलीन पराई स्त्रियों, युवतियों, प्रसूतिकाओं तथा रजस्वलाओं को सभा में बुलाने की मनाही थी। वादी और प्रतिवादी की बातें सुनकर उनके वक्तव्य लिख लिए जाते थे। तब सदस्य उनसे गवाही तलब करते थे। विचार स्मृति-शास्त्रों के अनुसार होता था। गवाही न हो तो 'दिव्यम्' अर्थात् अग्नि-परीक्षा-जैसी कड़ी परीक्षा देनी पड़ती थी। हत्यारे को प्राण-दंड मिलता था। उससे कम संगीन जुर्मों के लिए 'छेदन-दंड' दिया जाता था, अर्थात् नाक, कान, जीभ, हाथ, पैर या उँगलियाँ कटवा ली जाती थीं। साधारण अपराध के लिए 'क्लेश-दंड'

ही दिया जाता था, अर्थात् अपराधी को बेंत मारकर या चेतावनी देकर ही छोड़ दिया जाता था। अर्थ-हरण अर्थात् चोरी या गबन पर २०० से १७०० 'पण' तक का जुर्माना किया जाता था। यही न्याय का ढंग था।[1]

पश्चिम-चालुक्यों का सम्बन्ध कर्णाटक से था। लेकिन बाद के काकतीयों ने चालुक्यों का ही अनुकरण किया था। इसलिए पश्चिमी चालुक्यों के 'कर-विधान' पर सोमेश्वर ने जो-कुछ लिखा है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि तेलुगु देश के अन्दर भी ऐसा ही कुछ अवश्य होता था।

'पशुहिरण्य' (पशुधन अथवा पशु और सोने) पर ५०वाँ भाग, अनाज पर ८वाँ, ६वाँ या १२वाँ भाग; घी, सुपारी, रसगंध, औषधियों तथा फल-फूल, घास-पात, बर्तन-बासन आदि पर छठा भाग कर के रूप में लिये जाने का विधान था। श्रोत्रिय ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था। पशुओं के चरने के लिए कुछ गोचर भूमि खुली परती छोड़ देने का भी नियम था।

दक्षिण देश में आन्ध्रों और कर्णाटकों में ललित कला को प्रधानता प्राप्त थी। कुछेक दक्षिणी भाव-भंगिमाएँ और बाजे-गाजे उत्तर से भिन्न थे। 'ताप्तमुद्रानिषेध' में उच्च कुल वालों के लिए नाचने-गाने की मनाही थी: "नृत्यगीतादिक द्विजन्मों का धर्म नहीं।" मूर्त्तियाँ गढ़ने और चित्र बनाने की कला भी शूद्रों के हाथों में थी।[2] काकतीयों तथा विजयनगर के शासन-काल में साधारण जन भी घर की दीवारों पर चित्रकारी करवाते थे। इस कारण चित्र-लेखन-विद्या के विषय में 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में जो-कुछ लिखा है, उसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस पुस्तक में 'आलेख्य-कर्म' के नाम पर पूरे १०० पृष्ठ भरे पड़े हैं। चित्र-

---

१. 'अभिलषितार्थचिंतामणि', प्रकरण १, अध्याय २। ('पण' सोने का एक सिक्का होता था।)

२. 'अभिलषितार्थचिंतामणि', प्रकरण भूमिका।

कला पर प्राचीन साहित्य बहुत कम है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में (जो सम्भवत: सन् ८०० से १००० ई० तक के काल का है) इसकी कुछ सविस्तार चर्चा है। इसी को स्टेला क्राम्रिश नाम की कला-समीक्षिका ने अंगरेजी में अनूदित किया है। परन्तु चित्र-कला-शास्त्र (आलेख्य कर्म) उससे कई गुनी अधिक उत्तम रचना है। बल्कि यों कहना चाहिए कि चित्र-कला पर इससे अच्छी रचना हमारे यहाँ नहीं है। बहुत लोगों का विचार है कि कदाचित् इस 'चित्र-कला-शास्त्र' के प्रणेता सोमेश्वर ही हैं। पुस्तक के इस भाग का तेलुगु-अनुवाद अवश्य होना चाहिए। चित्र के लिए उपयुक्त रंग तैयार करने की विधि भी इसमें बताई गई है। लिखा है कि पहले तो दीवार को पक्के चूने से पोतकर चिकनी कर लेनी चाहिए। भैंस के चमड़े को टुकड़े-टुकडे करके उन्हें कुछ दिन तक पानी में भिगोये रखना चाहिए। गल जाने पर उसकी तलछट निकालकर उसे मक्खन की तरह घोट लेना चाहिए और उसका लेप चूने से पुती दीवार पर चढ़ा देना चाहिए। नीलगिरि के शंखचूर्ण को पीसकर उसके घोल में विविध रंग बनाये जाने चाहिए। बाँस की बारीक तीलियों में ताँबे की टोपी लगाकर उसके अन्दर बिठाये गए गिलहरी के बालों की वर्तिका तूली का काम दे सकती है।[1] 'सित लौहित, गैरिक, पीत, हरित, नीलादि रंग' और उन्हें बनाने की विधियाँ भी इस पुस्तक में बता दी गई हैं। देवताओं, मनुष्यों, पशुओं आदि के 'प्रमाणों' (नापों) का भी विस्तृत वर्णन इसमें है।

नन्नेचोड़ु के समय चित्र-कला पर सम्भवत: और भी लक्षण-ग्रन्थ मौजूद थे: **"चित्र साधन जुटा, पट तान सजा, उसको चमका, 'त्रिपद' कर नाप से कसकर, ऋज्वागत से रेखाएँ साधकर, पत्रिकाओं, बिन्दुओं, निम्नोन्नतापांग मानोन्मानों को सँवारकर विधिपूर्वक चित्र उरेहा।"**[2]

---

१. 'अभिलषितार्थचिंतामणि', प्रकरण ३, अध्याय १।

२. 'कुमारसम्भवमु' ५-११८।

घरों के द्वारों के दोनों ओर चित्र उतारे उरेहे जाते थे।[1] श्रीनाथ ने 'शृंगार नैषधमु' के सातवें आश्वास में दरवाजों के ऊपर बनने वाले चित्रों का वर्णन किया है। पाल्कुरिकि, गौरन आदि ने भी अपनी कृतियों में इस विषय की चर्चा की है।

युद्ध-तंत्र

चालुक्य-युग में भी उसी युद्ध-तन्त्र का चलन था, जो बाद के काकतीय काल में भी चालू रहा। सीमांतों पर किलों की रक्षा के लिए 'पालेगार' (रिसालदार पहरेदार) रखे जाते थे। इन 'पालेगारों' को अपने पास एक नियत संख्या में सेना भी रखनी पड़ती थी। अवसर पड़ने पर 'पालेगार' सेनाएँ राजा की सेनाओं की कुमक का काम करती थीं। इस सेवा के लिए 'पालेगारों' को 'जीतपुट्टल्ल'[2] दिये जाते थे। मूल संस्कृत महाभारत में इन वेतन-ग्रामों का कहीं उल्लेख नहीं है। फिर भी तिक्कन्न सोमयाजी ने 'आन्ध्र महाभारत' में उन्हें स्थान दिया है।[3]

देव-दानव-युद्ध के नाम पर नन्नेचोडु ने अन्ततः अपने ही समय के युद्ध-विधान का सविस्तर विवरण दे दिया है। एकादश तथा द्वादश, दोनों आश्वास इस विवरण से भरे पड़े हैं। उस विवरण से निम्न-लिखित बातें प्रकाश में आती हैं।

"कुमारस्वामी देवताओं की सेना के सेनानी बने। उन्हें तिलक लगाया गया। उन्होंने तुरन्त ही कूच का डंका बजवा दिया। सारी सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध हो उठी। हरावल टुकड़ी आगे-आगे रवाना हुई। सेना के खर्च के लिए खजाना भी साथ-साथ चला। घुड़सवार आगे-आगे चल रहे थे। धार (बाका) तथा शंख बज रहे थे। हाथियों का झुंड

१. 'कुमारसम्भवमु' ८-१३५।
२. 'वेतनग्राम' या 'जीवितम् ग्राम' (निर्वाहार्थ प्रदत्त ग्राम) दोनों अर्थ हो सकते हैं। सं० हिं० सं०।
३. 'आन्ध्र महाभारत', विराट पर्व ३-११९।

साथ चल रहा था। राजाओं, मंत्रियों तथा मुखियों के रनिवास भी साथ चल रहे थे। कुछ सेना रनिवास की रक्षा के काम पर तैनात थी।[1] (हिन्दू राजाओं के रनिवास और मुसलमान सुलतानों के हरम की स्त्रियों का दंड-यात्रा में साथ चलना भारतीय इतिहास में एक साधारण बात है।) ध्वज फहरे। दुंदुभियाँ बजीं। वीरगण डक, ढोल, मृदंग तथा सिंघे बजाने लगे। सेनाओं के आगे पीछे तथा बराबर में बड़े-बूढ़ों से आशीष पाये हुए सेनानी चल रहे थे। सैनिकगण 'कुंतल', 'ईंटें', छुरी, भाले, तीर, कटार, गदा आदि आयुधों से सुसज्जित थे। उनमें से कुछ तो 'वीर-संन्यासी' बन गए थे और कुछ ने यह समझकर 'सर्वस्व दान' कर दिया था कि अब जीवित लौट आने का क्या भरोसा ? इस प्रकार सज-धजकर अश्वदल, गजदल, रथदल और पैदलों की चतुरंग सेना शत्रुओं पर टूट पड़ी। मार-काट मच गई। अँधेरा होते ही दोनों ओर से लड़ाई रोक दी जाती थी। (यह हिन्दुओं का युद्ध-धर्म है। मुसलमानों ने इस नीति का पालन नहीं किया। वे प्रायः अंधेरी रातों में अचानक हिन्दू सेनाओं पर टूट पड़ते, घोर मार-काट मचाते और इस तरह युद्ध में जीत जाते थे।) रात के समय जब युद्ध बन्द रहता, तो दोनों ही पक्षों के लोग रण-भूमि में हताहत पड़े अपने सैनिकों को खोज लाते, मृतकों की अंत्येष्टि करते और घायलों की मरहम-पट्टी तथा दवा-दारू की व्यवस्था करते। सवेरा होते ही फिर युद्धारम्भ हो जाता। इस प्रकार जब शत्रु-संहार हो गया, तो सेना जय-जयकारों के साथ लौट पड़ी।"

यह है 'कुमारसम्भवम्' के युद्ध-वर्णन का संक्षेप। 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' में भी राजाओं की दंड-यात्रा के विषय में विस्तार के साथ लिखा गया है।[2] "कूच के लिए शरत् अथवा वसंत ऋतु उत्तम हैं। कूच के समय शकुनापशकुन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। पत्रा देखकर घड़ी-मुहूर्त आदि निश्चित करने चाहिए। 'चतुर्विधोपायों का प्रयोग'

---

१. 'कुमारसम्भवम्,' ११-५।

२. प्रकरण १, अध्याय २, पृष्ठ ११७ से १७२ तक।

करना चाहिए। रणभूमि में सैनिकों का उत्साह बढ़ाकर शत्रु का नाश करना चाहिए।" आदि युद्ध-नीति-वचन इस पुस्तक में विस्तार के साथ वर्णित हैं। चालुक्यों की युद्ध-पद्धति से काकतीयों की युद्ध-पद्धति का भी कुछ पता चल सकता है।

पश्चिम-चालुक्यों ने युद्ध में घोड़ों के महत्व को पहचाना था। सोमेश्वर ने लिखा है: "यवन देश तथा कांबोज देश (अफगानिस्तान) के घोड़े हों और उनसे काम लेना जानने वाले सुशिक्षित सैनिक भी हों तो रिसाले की शक्ति बढ़ी-चढ़ी होती है। शत्रु दूर भी हो तो रिसाला उस पर विजय प्राप्त करके लौट सकता है। घोड़ों से यश की प्राप्ति होती है। जिसके पास अश्व-दल हो, उसका राज्य स्थायी होती है:
'यस्याश्वाः तस्य भूस्थिरा।'[1]

'अभिलषितार्थचिन्तामणि' से उस सुख-भोग पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है, जो उन दिनों राजा-महाराजा और धनी-मानी भोगा करते थे। यहाँ पर हम इस पुस्तक में वर्णित सुख-भोगों से सम्बद्ध तथ्यों का सारांश-भर ही दे रहे हैं:

"स्नान-गृह जगमगाते स्तम्भों, स्फटिक के चमचमाते चबूतरों, काँच के कुट्टिमों (फर्शबन्दियों), मूर्त्तियों तथा चित्रों से शोभित हों। हर तीसरे दिन 'अभ्यंग स्नान' करना चाहिए। द्वितीया, दशमी तथा एकादशी की तिथियाँ वर्जनीय हैं। 'गेंदगी', 'जाजिकाय' (जायफल ?), पुन्नाग, चंपक आदि को 'यंत्रसंपीड़ित तिल-तैल' में पकाकर सिर-स्नान[2] के लिए उपयोग करना चाहिए। तेल की चिकनाई दूर करने के लिए शरीर पर बेसन का उबटन मलना चाहिए। उबटन के बेसन में 'कोष्ठमु', 'तक्कोलमु,' 'मुस्त', 'माचिपत्रि', 'तगरम', 'सांसी', 'वायिट', कमलगट्टे आदि जड़ी-बूटियाँ छाँह में सुखाकर और फिर नींबू, तुलसी तथा 'आर्जकम्' की

१. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', प्रकरण, १, अध्याय २, पृष्ठ ६६।
२. स्नान के समय सिर को भी धोयें तो वह 'शिर-स्नान' कहलाता है, सिर भिगोया न जाय तो 'कंठ-स्नान'।

पत्तियों के साथ पीसकर, इलायची, जायफल, सरसों, तिल, धनियाँ, 'तगिरिस', (चकवँड[१]) लवंग, लोध्र, 'श्रीगंधमु', अगुरु आदि के साथ सिद्ध कर लेना चाहिए।''

उनका तांबूल अर्थात् पान का बीड़ा भी असाधारण ही होता था। ''सुपारी को कपूर के रस में भिगोकर उसमें श्रीखंड चन्दन और कस्तूरी मिलाकर सुखा लेना चाहिए। उसमें और भी द्रव्य साथ ही डालकर, 'शोधा' जाय तो ठीक है। मोती को उपलों की भट्टी में उतारकर उसकी भस्म के चूने को पान के साथ खाना चाहिए। हरा कपूर, कस्तूरी, घनसार आदि पान के साथ ही खाये जायँ। तक्कोल, जायफल आदि को कूट-पीसकर उनकी गोलियाँ बनाकर रखनी चाहिए। ये गोलियाँ भी पान के साथ ही खाई जायँ।''

उस युग में राजाओं के 'वस्त्र-भंडार' अलग होते थे। इस पर एक पृथक् अधिकारी नियुक्त रहता था। देश-देशांतरों से वस्त्र मँगवाए जाते थे। पोहलपुर, चीरपल्ली, अवंती, नागपट्टणमु, पांड्यदेश, अल्लिकाकरमु, सिंहल, गोवाकमु (गोवा), सुरापुरमु (उत्तर सरकार का सुरपुर), गुंजरण, मूलस्थान (मुलतान ?), तोंडीदेश (मद्रास के दक्षिण में स्थित तुडीर), पंचपट्टण, महाचीन (चीन), कलिंग, वंग (बंग, बंगाल) आदि से रंग-बिरंगे कपड़े आते थे। मंजिष्ठ, लाख, कौसुंभ, सिंदूर, हरिद्रा, नील आदि से नानाविध रंग तैयार किये जाते थे। चीर (साड़ी), 'घट्टकमु', सेल्ला, दुप्पट्लु, (दुपट्टा या चादर), अंगी (अंगिका:, अंगरखे), उष्णीष (पगड़ी), टोपी, (टोपिका:) आदि विविध परिधानों का प्रचलन था। तब तक 'अंगी' शब्द तो काफी प्रचलित हो चुका था, पर 'टोपी' शब्द पहली बार यहीं पर सुनने में आता है। ''वसंत ऋतु में सूती कपड़े, गर्मियों में बारीक उजले कपड़े और वर्षा ऋतु में ऊनी कपड़े पहनने चाहिए।[२]

१. दक्षिण के पठारों में जाड़ों का जोर नहीं होता। सर्दी वर्षा-ऋतु में ही पड़ती है।

२. इसे लगाने से चमड़े की खुजलाहट मिटती है।

राजाओं को सदा अपनी अंगी-टोपी पहने रखनी चाहिए।"

'अभिलषितार्थचिंतामणि' में अन्नभोग, आसनभोग तथा आस्थानभोग इत्यादि के जो विस्तृत विवरण दिये गए हैं, उनसे उस समय के राजाओं के सुख-भोग का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

इस अध्याय के प्रधान साधन ग्रन्थ

१. नन्नेचोड्ड : 'कुमारसम्भवमु'।
२. 'आन्ध्र महाभारत' (तेलुगु भारतमु), विराट पर्व के अन्त तक।
३. चालुक्य सोमेश्वर : 'अभिलषितार्थचिंतामणि', प्रथम संपुट, (मैसूर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित)

: २ :

काकतीय युग

वरंगल के काकतीय चक्रवर्तियों ने अनुमानतः सन् १०५० से १३५० ई० तक शासन किया। आन्ध्र के आदि कवि नन्नय भट्ट सन् १०५० ई० के लगभग हुए। वह पूर्वी चालुक्यों के आस्थान-कवि थे। इस प्रकार चालुक्यों तथा काकतीयों का शासन-काल लगभग एक ही रहा है।

नन्नय भट्ट से पूर्व आन्ध्र के सम्बन्ध में हमें जो थोड़ी-बहुत बातें मालूम हो सकी हैं, वे नहीं के बराबर हैं। नन्नयकालीन परिस्थितियों से भी हम लोग भली भाँति परिचित नहीं हैं। जो थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है, वह काकतीयों के ही सम्बन्ध में होती है।

काकतीय साम्राज्य की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करने के साधन हैं—शिलालेख, रचनाएँ, शिल्प-सामग्री, विदेशी यात्रियों के संस्मरण, सिक्के, दन्तकथाएँ और लोकोक्तियाँ। इनमें से हमें जो कुछ भी और जितना कुछ भी मिल जाय वह हमारे लिए काम का होगा। इन्हीं के आधार पर हमें आन्ध्र जाति के आरम्भिक इतिहास के समय जनसाधारण की राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियों का थोड़ा-बहुत पता चलता है। आन्ध्र के अति प्राचीन ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रचरित्रम्' में लिखा है कि काकतीय वंश के राजा शालिवाहन सम्वत् के आरम्भ से ही शासन करते रहे, परन्तु यह सरासर ग़लत

है, क्योंकि आन्ध्र देश के इतिहास के अन्दर स्थान प्राप्त करने वाला पहला काकतीय राजा है प्रोलाराज्। इसीलिए इस अध्याय में सन् १०५० से १३२३ ई० तक अर्थात् वरंगल के पतन तक के आन्ध्र के उस सामाजिक जीवन की चर्चा की जाती है, जिसका विवरण अभी तक उपलब्ध हो सका है।

धर्म

हमारे लिए धर्म प्रधान जीवन-विधान है। इसलिए उसी के सम्बन्ध में सबसे पहले विचार करेंगे। उस समय आन्ध्र देश के अन्दर बौद्ध धर्म का लगभग अन्त हो चुका था, किन्तु जैनियों का जोर था। लगता है कि श्री शंकराचार्य का प्रभाव आन्ध्र देश पर नहीं पड़ा। यहाँ उनके समकक्ष कुमारिल भट्ट ही का बोलबाला था। कुमारिल के दर्शन-तत्व का प्रबल प्रचारक प्रभाकर तो उत्कल-निवासी था, पर स्वयं कुमारिल ठेठ आन्ध्र थे और गंजाम जिले में जयमंगल नामक ग्राम में पैदा हुए थे। कुमारिल भी जैनियों के परम शत्रु थे, किन्तु वह जैनियों को यहाँ से मिटा नहीं सके थे आन्ध्र और कर्नाटक के अन्दर जैनियों को तहस-नहस करने वाले 'वीर शैव' ही थे। वीर शैवों ने शास्त्रार्थ का अधिक सहारा नहीं लिया। जात-पाँत से रहित सर्वजन-समानता के जैनी सिद्धान्त को तो शैवों ने अपनाया, किन्तु जब तक और जहाँ-जहाँ वाद-विवाद और शास्त्रार्थ से जैनियों को झुका न सके तब तक और जहाँ-तहाँ उन अहिंसा वादियों पर हिंसा का प्रयोग करने में शैव लोग तनिक भी पीछे नहीं हटे। यही वीर शैव हैं, जिन्होंने राजाओं को अपने वश में करके उन्हें वीर शैव धर्म की दीक्षा देकर, उनके मन्त्री और सेनानी बनकर, अन्य राज्यों को अपने अधीन करके, कथा-कहानियों से, कपोल-कल्पनाओं से, कटार-तलवारों तथा अन्य अनेक उपायों से उस 'पर-धर्म' को जड़मूल से उखाड़ फेंका था और निष्कंटक होकर यहाँ पर वीर-विहार किया था। जैन मूर्तियों को उखाड़ फेंककर उन्होंने उनकी जगह पर लिंग-महादेव

की स्थापना की। हाँ, जैनियों की थोड़ी-बहुत नग्न मूर्तियों को शैवों ने यदि अपने वीरभद्र की मूर्ति में परिवर्तित कर लिया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हम लोग आज भी जहाँ-तहाँ मन्दिरों के बाहरी भागों में जैन मूर्तियाँ पाते हैं। हैदराबाद के अन्दर गद्वाल के निकट पूडूर नामक ग्राम में मन्दिर के बाहर कुछ ऐसी जैन मूर्तियाँ हैं, जिन्हें गाँववाले 'बाहरी देवता' के नाम से याद करते हैं। वहीं पर एक शिलालेख भी है, जो 'जैन शासन' कहलाता है और जो आठ सौ वर्ष पुराना है। इसी प्रकार करीम नगर जिले के 'वेमुलवाडा' में भी जैन मन्दिर 'शिवालय' में परिवर्तित हुआ। मन्दिर में पहले से प्रतिष्ठित असली जैन मूर्तियाँ बेचारी दरबान बनकर मन्दिर के दरवाजे पर खड़ी हैं। आन्ध्र के अन्दर ऐसे दृश्य अनेक स्थानों पर देखने में आते हैं। हिन्दू जब जैन मूर्तियों को जहाँ-तहाँ ऐसी दशा में पाते हैं तो उनकी नग्नता को छिपाने के विचार से उन पर मिट्टी पोत देते हैं, अथवा चिथड़ा या सूत लपेट देते हैं, जोगीपेट का कस्बा किसी समय पूर्णतया जैन (जोगियों की) बस्ती थी। वहाँ पर आज भी जैन धर्म के अनुयायी मौजूद हैं। यहाँ से कुछ दूर 'कोलन पाक' जैनियों का सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान है, जहाँ दूर-दूर से लाखों यात्री हर साल आते हैं। हैदराबाद शहर में भी जैनियों के प्राचीन मन्दिर मौजूद हैं। वरंगल और हनमकोंडा में शहर के अन्दर और बाहर पहाड़ी चट्टान पर भी बहुतेरी जैन मूर्तियाँ मौजूद हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी समय सारे तेलंगाने में जैन-धर्म का ही बोलबाला था।

काकतीयों के राज्य-काल में जैन, शैव और वैष्णवों में अपने-अपने धर्म के प्रचार और उसकी प्रबलता की प्रतिष्ठा के लिए परस्पर होड़ लगी रही। इन तीनों सम्प्रदायों के बीच यही एक समानता रही कि तीनों ही जात-पाँत को मिटाकर सब को समान मानते थे। यह कहा जा सकता है कि आन्ध्र के अन्दर कवित्रय अर्थात् आन्ध्र के आदि-कवि श्री नन्नय भट्ट, यर्राप्रगडा और तिक्कना सोमयाजी ही वर्णाश्रम धर्म के

प्रबल प्रचारक तथा पुनः-संस्थापक थे। नन्नय भट्ट ने अपने 'आन्ध्र महाभारत' में ब्राह्मणों की बड़ाई का प्रचार किया है। तिक्कना तो यहाँ दीक्षा लेकर और कुण्डल धारण करके बुधजन-विराजी सोमयाजी हो गये थे, किन्तु काकतीय शासन-काल में उनका सारा प्रचार सचमुच जैन, शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के प्रवाह में बह-सा गया। इन तीनों सम्प्रदायों ने अपने-अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के विचार से ही सही, वह काम किया, जिसकी आर्य-जाति को सचमुच ही परम आवश्यकता थी। उन्होंने जात-पाँत की जड़ें उखाड़कर विविध जातियों में समानता लाने और उन्हें एक जाति बनाने के लिए धूमधाम से प्रचार किया।

आन्ध्र में पहले जैन धर्म का ही अधिक प्रचार था। वरंगल के आदि शासक जैनी ही थे। फिर कल्याणी के विज्जल राज्य के अन्दर बसवेश्वर के नेतृत्व में वीर-शैव सम्प्रदाय की आँधी उठी। यह आँधी आन्ध्र देश की ओर भी बढ़ने लगी। उल्लेख है :—

> उस दिन कुछ शिवभक्त स्वयंभू के मण्डप में[1]
> जुड़ बैठे सुनते थे पाठ बसव-पुराण का,[2]
> इतने में हर-सेवा को राजा प्रताप भी
> आ पहुँचे! आसंभ्रम की क्या बात पूछना!
> भक्तों ने जब कहा, "पाठ हो रहा यहाँ है
> बसवेश्वर-पुराण का" सुन, पूछा राजा ने :
> "यह पुराण क्या है, क्या इसकी रीति-नीति है?"
> इस पर कोई धूर्त विप्र चुपके से जाकर
> भर्ता के कानों में बोला: "अप्रमाण है!
> पाल्कुरिकि सोमय्य नाम के किसी पतित ने
> छन्दोमर्यादा उलाँघकर द्विपद-छन्द में

१. वरंगल शहर का स्वयंभूदेव-मण्डप नामक शिव-मन्दिर।
२. वरंगल का राजा प्रतापरुद्र।

अभी-अभी है रचा इसे ! यह तो अनाद्या है !"
सुनकर राजा लौट गये । भक्तों ने जाना—

शैवों ने ये समाचार स्वामी सोमनाथ को पहुँचा दिये । सोमनाथ वरंगल के लिए चल पड़े । धूर्त ब्राह्मणों ने कुछेक अपने व्यक्तियों को शैव भेस में आगन्तुक सोमनाथ के पास भेजा । पिडुपर्ति सोमनाथ (सन् १६०० ई०) ने लिखा है कि स्वाँग रचे हुए ये सारे ब्राह्मण सोमनाथ के सम्पर्क में आकर सचमुच शैव हो गये ।

ऊपर के वर्णन से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है : मन्दिरों के अन्दर धार्मिक ग्रन्थ पुराण आदि का पाठ करना, लोगों का श्रद्धा के साथ मन्दिरों में इकट्ठे होना और उन पुराणों का श्रवण करना, नवीन वीर-शैवों का मुकाबिला करने वालों में ब्राह्मणों को ही महत्त्व मिलना, उससे ब्राह्मणों और वीर-शैवों के बीच बार-बार संघर्षों का होना, वीर-शैवों का ब्राह्मणों को 'धूर्त' कहना, ब्राह्मणों का वीर-शैवों को पतित कहना, जिस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लोक-भाषा पालि का उपयोग किया गया था उसी प्रकार वीर-शैवों का अपने पुराणों को संस्कृत भाषा में न लिखकर स्थानीय आन्ध्र, कर्नाटक (तेलुगु, कन्नड़) भाषाओं में उनका प्रचार करना, आदि-आदि । इतना ही नहीं, आदि कवि नन्नय भट्ट से लेकर 'वेणु गोपाल शतक' के रचयिता के समय तक अर्थात् सन् १६०० ई० तक तिरस्कृत रहकर "पक्की छिनाल", "पिछवाड़े की खिड़की" आदि कही जाने वाली 'द्विपद शैली' में, और फिर कहीं-कहीं यति प्रास का भी ध्यान न रखते हुए, "शिव कविता" की जोत जगाना और अपने धर्म का प्रचार किया जाना, राजाओं का भी जैन धर्म को त्याग कर महादेव जी की पूजा के लिए शिवालयों में जाना, 'आज कल' नये-नये निकले बसव पुराण को सुनने की उत्सुकता राजा तक में होना, आदि बातें भी ऊपर के उल्लेख से प्रकट होती हैं । स्वयं पाल्कुरिकी ने लिखा है कि जैनियों को नाना प्रकार की यातनाएँ दी गई थीं । जैनियों पर पथराव तक किये

गए थे। कहीं-कहीं सोमनाथ के लेखों में इसकी ओर स्पष्ट संकेत भी हैं।[1] इस प्रकार सन् १२०० ई० तक जैनधर्म क्षीण हो चुका था और उसकी जगह वीर-शैव धर्म स्थापित हो चुका था।

ठीक उसी समय आन्ध्र देश के अन्दर वैष्णव धर्म भी वीरावेश से आविष्ट हो रहा था। 'वीर वैष्णव' के रूप में वह भी 'वीर-शैव' के सामने ताल ठोंककर खड़ा हो गया। वैष्णव धर्म या शैव धर्म कोई नये सम्प्रदाय नहीं थे। तमिलनाडु के अन्दर वे चिरकाल से चले आ रहे थे। शैव-धर्म वैष्णव धर्म से भी अधिक प्राचीन हैं। ये दोनों सम्प्रदाय तमिलनाडु से ही आन्ध्र देश में आये। दोनों ही सम्प्रदायों के प्रचारकों के बीच खूब स्पर्धा रही। दोनों ने अपनी-अपनी संख्या बढ़ाने के लिए शूद्रादि जनों में अंध-भक्ति बिठाकर उन्हें अपना अनुयायी बना लिया। इस विचार से कि फिर कहीं वे अपनी गोदी से निकल न भागें, शैवों ने अपने अनुयायियों के गले में महादेव का लिंग बाँध लटकाया और वैष्णवों ने अपने चेलों के शरीर पर मुद्राएँ दाग-दाग दीं। वे शंख, चक्र आदि के मुहर आग में तपाकर भुजाओं आदि पर दाग देते थे और त्रिपुंड तिलक लगा देते थे। गोन बुद्धारेड्डी की रामायण को द्विपद में लिख डालना भी वास्तव में वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए शैवों का एक अनुकरण मात्र ही है। बाद में अपने छोटी-छोटी द्विपदों के कारण प्रसिद्ध तिरुवेंगलनाथ ने निरी शिव-निन्दा के द्वारा विष्णु भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने "परम योगी विलासम्" के नाम से एक पूरा पुराण ही द्विपद में लिख डाला।

जैनियों के रंगभूमि से लुप्त हो जाने के बाद इस धार्मिक उन्माद के गदा-युद्ध के लिए वीर शैव और वीर वैष्णव ही बचे रहे। इन दोनों ने

१. "जैनियों की ताड़ना करके" (पाल्कुरिकी)।
"जैन, बौद्ध, चार्वाक ये तीन दुष्पथ सम्प्रदाय हैं। इन तीनों को निर्मूल करने तक तीनों शाम तुझ पर तीन पत्थर फेंका करूँगा।" (पाल्कुरिकी बसव पुराण, १८०)। "जैनी कहलाने वाले सभी लोगों को मिट्टी में मिलाकर" (पाल्कुरिकी ब० पु० १९२)।

आपस में जो गाली-गलौज है, उसका एक पूरा महाभारत तैयार हो सकता है। इन्होंने मन्दिरों के अन्दर मूर्तियों के रूप भी, जब-जब बन पड़ा, बदल डाले। सुप्रसिद्ध तिरुपति वेंकटेश्वर मूर्ति के सम्बन्ध में काकतीय कालीन श्रीपति पंडित ने अपने 'श्रीकर भाष्य' में लिखा है कि वह वस्तुत: शैव वीरभद्र की मूर्ति थी, जिसे विष्णु की मूर्ति में परिवर्तित किया गया।[1] श्रीपति पंडित ने यह भी कहा है कि यह बलात् परिवर्तन श्री रामानुजाचार्य द्वारा हुआ है।

जिस प्रकार उन्होंने जैनियों के विरोध में पहले कहा था कि भले ही प्राण जायँ तो जायँ पर जैन मन्दिरों के अन्दर पग न धरेंगे, उसी प्रकार अब वीर वैष्णवों तथा वीर शैवों ने आपस में ही एक-दूसरे को चांडाल, आदि कहकर गाली-गलौज शुरू कर दी। वे अपने-अपने इष्टदेव को बड़ा सिद्ध करने के लिए "हमारा देव बड़ा, हमारा देव बड़ा" चिल्लाते वादविवाद करते रहे और अपने-अपने कथन की पुष्टि में कथाओं तथा पुराणों की सृष्टि करते रहे। जैनों, शैवों तथा वैष्णवों का यह परस्पर द्वेष-भाव ही काकतीय राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण बना।

शैवों तथा वैष्णवों के बीच चाहे जो भी झगड़े रहे हों, इसमें सन्देह नहीं कि उन दोनों ने ही जात-पाँत का नाम-रूप मिटाने का प्रयास किया है। शैवों ने घोषित किया कि गले में लिंग धारण करने वाले सभी लोग एक ही जाति के हैं। वैष्णवों ने घोषणा की कि समाश्रयण (मुद्रा दगवा) करके तिलक त्रिपुंड लगाने वाले सभी लोग समान-कुलीन हैं।

'पल्नाटि वीर चरित्र' के अनुसार ब्रह्मनायुडु का ब्राह्मण जाति से लेकर चांडाल जाति तक की स्त्रियों के साथ अनेकों विवाह करना, उसके

१. "ननु वेंकटेश्वर-विट्ठलेश्वरस्थाने विष्णोरीश्वर शब्दिश्रवणात्…… वेंकटेश्वरस्याभास विष्णुत्वं, तदंगे नागभूषणादि धर्माणाम् द्योतनात् मूलविग्रहे शंखचक्रादि लांछना नामदर्शनात्……किंच तत्पाण्यधोदेशे शिवलिंग-दर्शनादीश्वर शब्दो व्यवह्रियते।"

मुख्य अधिकारी कन्ननीडु का ब्रह्मननायुडु को पिता मानना, रणभूमि के अन्दर मालें, मादिगें (चमार, पासी) वेलमें (ठाकुर) लोहार, बढ़ई, कुम्हार आदि का वैष्णव मतानुयायी बनकर एक पंगत में बैठकर 'चटाई भोजन' पाना अर्थात् एक ही चटाई पर बैठकर भोजन करना, आदि सभी विषय विचार करने योग्य हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वेलमें सुधारवादी थे और रेड्डी कट्टर पंथी। स्वयं पल्नाटि-युद्ध का भी एक मुख्य कारण यह 'चटाई भोजन' था।[1]

वेलमें लोगों की चर्चा आई है, इसलिए संक्षेप में उनके बारे में भी दो शब्द लिख दें। ये वेलमें कौन थे ? इसका ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं लगा है। वरंगल में रुद्रमें देवी के शासन तथा मुसलमानों की दंड-यात्रा (चढ़ाई) के दौरान में इन रेड्डियों और वेलमों के बीच वह स्पर्धा उत्पन्न हुई, जो नित्य बढ़ती ही गई और अन्त में दोनों राज्यों के पतन और विनाश का कारण बनी। ऐसा लगता है कि रुद्रमें देवी ने वेलमों को एक प्रकार की विशिष्टता दे दी और रेड्डियों के साथ किसी दूसरे प्रकार का व्यवहार किया। कवि श्रीनाथ ने लिखा है कि वेलमें वीर वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे और कोंडनीडि रेड्डी राजा परम शैवाचार-परायण थे तो फिर 'क्रीड़ाभिरामम्' के इस वाक्य का क्या अभिप्राय होगा ?

—"यहाँ पर ग्वाल सौत-पुत्रों ने धरती को बाजी पर लगाकर घोर युद्ध किया ?" वलनाटि युद्ध के अन्दर आपस में ही लड़ मरने वाले इन दोनों ही पक्षों के लोग एक-दूसरे के जाति-भाई ही थे फिर कवि ने उन्हें 'ग्वाल-सौत-सन्तान' क्यों कहा ? मेरे विचार में वेलमें आन्ध्र देश के निवासी नहीं थे। रेड्डियों की भी यही दशा थी। ऐसा लगता है कि

---

१. "आरुवल्लि-वासिनी नायिका की कुमंत्रणा
कुक्कुट-रण का व्यसन, चटाई का सहभोजन
यही तीन हैं प्रथम हेतु, पल्नाटि युद्ध में
एकांगी संहार हुआ वीरों का जिनसे !"

—क्रीड़ाभिरामम्

इनमें से एक जाति तो उत्तर की ओर से आई थी और दूसरी दक्षिण की ओर से। उत्तर के 'राष्ट्रकूट' के निवासी जो यहाँ आ बसे, वे रेड्डी कहलाये और सं० ११००, ई० के लगभग वेल्लाल जाति के जो लोग दक्षिण के तमिल देश से आकर काकतीय सेना में भरती हुए, सम्भव है वही बाद में वेलमें कहलाने लगे हों।[1] नये-नये ही आये होने के कारण वेलमों को रेड्डियों ने अपने से हेठा माना और उनसे दुश्मनी मोल ली। पल्नाटि वीर चरित्र में हैहय दायादों ने युद्ध किया था। हो सकता है कि वे ग्वाले रहे हों, और इसीलिए कवि ने उपर्युक्त वर्णन प्रस्तुत किया हो।

वीर वैष्णवों की अपेक्षा वीर शैवों ने जात-पाँत का विध्वंस अधिक किया है। उन्हें इस मामले में ब्राह्मणों के विरुद्ध भी लड़ना पड़ा था। "कोपम् शेषेण पूरयेत्' के न्यायानुसार वे तर्क को त्यागकर 'त्वम् शुंठः', 'त्वम् शुंठः' कहकर अक्सर गाली-गलौज पर भी उतर आते थे। 'पाल्कुरिकी बसव-पुराण' के कुछ उद्धरण ये हैं :

> "शूलपाणि-भक्तों को उठते हाथ उठें यदि
> कंठ-रज्जु-उपवीत मालें को,—दोष नहीं क्या ?"[2]
>
> × × ×
>
> "असम-नयन की सेवा जो न करे वसुधा में
> अग्रज भी क्यों न हो भला, वह अधम मालें है !"[3]
> "पूज्य भला क्या ये त्रिपुण्ड्धारी कुत्ते हैं ?"[4]
> "···आगम-भाराक्रांत तथा ख्यापित ब्राह्मण ये
> वास्तव में लादी ढोते गर्दभ-समान हैं !"[5]

१. थर्स्टन : "कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑफ़ साउथ इंडिया।"
२. (पद्य) 'पाल्कुरिकि बसव-पुराणमु,' पृष्ठ १६।
३. (,,) ,, ,, , ,, २०७।
४. (,,) ,, ,, , ,, २३७।
५. (,,) ,, ,, , ,, २२५।

उन्होंने इतने ही पर बस नहीं किया। ब्राह्मणों को उन्होंने कर्म-चाण्डाल, व्रतभ्रष्ट, दुर्जात, पशुकर्मी आदि अनेक दुर्वचनों से बुरा-भला कहा है।

जात-पाँत का यह भेद-भाव वैसे तो हिन्दू धर्म में चिरकाल से चला आ रहा था। लेकिन इन वीर शैवों तथा वीर वैष्णवों के कारण काकतीय शासन के पतन के पश्चात् वह और भी स्थिर होकर अनेक नई जातियों के जन्म का कारण बना। शैवों में लिंगायत, वलिजॅ, जंगा, तंबळ इत्यादि नई जातियाँ पैदा हुई। इसी तरह वैष्णवों में भी नम्ब, सात्तार, दासरी आदि कई नई जातियाँ बन गईं। शैवों ने धर्म के नाम पर नवयुवतियों को 'बसविन' बना दिया। बसविनें आजीवन अविवाहित रहकर व्यभिचार-वृत्ति करती थीं। वैष्णवों ने भी समाश्रयण करके देवदासियों का जत्था तैयार किया। काकतीयों के बाद अधिकतर शैव वैष्णव हो गए। इन धर्म बदलने वालों में मुख्य रूप से रेड्डी ही थे।

काकतीय वंश में प्रोल राजु तक सारा राजपरिवार जैनी था। प्रोल राजु का बेटा शैव बना। इस राजवंश का काकतीय नाम काकती देवी के नाम पर था, पर यह 'काकती' कौनसी देवी है, इसका पता उस समय के लोगों को भी नहीं था—कलुवाचेरु के शिला लेख में लिखा हुआ है, **"काकत्याः पराशक्तेः कृपया कूष्माण्ड-वल्लिका काचित्। पुत्रमसूत तद्वे तत्कुलमनघम् काकति संज्ञमभूत्।"** काकतीय लोग क्षत्रिय नहीं थे, यह बात स्वयं विद्यानाथ ने लिखी हैं,[1]

शैव हो जाने के बाद काकतीयों ने जैनियों को खूब सताया। 'सौमदेव राजीयम्' में लिखा है कि गणपतिदेव ने "अनुमकांडॅ के बौद्धों तथा जैनियों को बुलवाकर उन्हें प्रसिद्ध विद्वान तिक्कनॅ के साथ शास्त्रार्थ करने पर मजबूर किया।" तिक्कनॅ नेल्लर के राजा मनुमॅसिद्ध का दरबारी कवि था। इसी 'सोमदेवराजीयमु' में लिखा है कि वरंगल के

१. 'अत्यर्केन्दुकुलप्रशस्तिमसृजत्'—प्रतापरुद्रीयमु।

राजा गणपति देव को अपना साथी बनाने के लिए नेल्लूर के राजा मनुमसिद्ध की ओर से तिक्कनं को वरंगल भेजा गया था। इसी अवसर पर उसने जैनों और बौद्धों को परास्त किया था। गणपतिदेव ने कवि तिक्कन्ना की वाक्पटुता से प्रभावित होकर जैनियों के सिर उड़ा दिए और बौद्धों को बरबाद कर दिया।[1] इन सब बातों से इस विचार की पुष्टि होती है कि आंध्र महाभारत के प्रणेता कवित्रय का आधिपत्य केवल भाषा तक ही सीमित नहीं था, वे केवल पुराणों के ही रचयिता नहीं थे, बल्कि मध्यकालीन जात-पाँत तत्त्व के समर्थक तथा प्रचारक भी थे।

काकतीय शासन-काल में बौद्धों तथा जैनों के सम्प्रदायों के अतिरिक्त और भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। अद्वैतवादी, ब्रह्मवादी, पंचरात्रवादी, एकात्मवादी, अभेदवादी, शून्यवादी, जातिवादी, कर्मवादी, नास्तिक, चार्वाक-पंथी, प्रकृतिवादी, शब्दब्रह्मवादी, पुरुषत्रयवादी, लोकायतवादी[2] इत्यादि मतावलम्बी भी उन दिनों मौजूद थे।[3]

काकतीय काल में शैवों ने अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए 'गोलकी मठों' की स्थापना की। मठाधीशों में कुछ महान् विद्वान् भी हुआ करते थे। वे अपने मठों के अन्दर विद्यादान तथा अध्यापन का काम किया करते थे। गोलकी मठों में शैव सम्प्रदाय की शिक्षा तथा शास्त्रों का अध्ययन संस्कृत भाषा में ही हुआ करता था। गोलकी मठ एक प्रकार से शैव-सम्प्रदाय के 'गुरुकुल' होते थे।

गोलकी मठों के संचालन के लिए राजा-महाराजा तथा धनी-मानी ग्रामदान तथा भूदान दिया करते थे और दान-पत्र लिख देते थे। पीछे गोलकी मठों का चलन नहीं रहा, केवल जंगम मठ अथवा जंगम-वाड़ी मात्र ही रह गए। हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत महबूबनगर

१. 'पंडिताराध्यचरित्र,' प्रथम भाग, पृष्ठ ५०६-७।

२. 'सिद्धेश्वरचरित्र'।

३. 'पंडिताराध्यचरित्र', प्रथम भाग, पृष्ठ ५११।

जिले के गंगापुर में दो सूने मन्दिरों के खँडहर हैं। गाँव वाले उन्हें 'गोल्लक्क—गुल्लु' कहते हैं। 'गोल्ल' के माने ग्वाले के हैं और 'अक्का' बहन को कहते हैं। शैव शब्द 'गोलकी' और ग्वालावाची शब्द 'गोल्ला' में शाब्दिक समानता पाये जाने के कारण गाँव में एक किंवदन्ती भी चल पड़ी कि किसी सुन्दरी ग्वालिन पर शिवजी मोहित हुए, उसके साथ सुखभोग किया तथा अन्त में उस ग्वालिन को यह वरदान देकर अन्तर्धान हो गए कि प्रतिदिन सवेरे अपनी मुट्ठी के अन्दर वह जो कुछ बन्द कर ले, वह सोना हो जायगा। कहते हैं कि ग्वालिन ने उसी सोने से ये मन्दिर बनवाये थे। सच तो यह है कि उसी स्थान या उसके आसपास उस समय गोलकी मठ रहे होंगे। यह भी लगता है कि गोलकी मठों के अन्दर गुरु भी शैव धर्म में दीक्षित ब्राह्मण ही हुआ करते थे।

"इन्हीं (ब्राह्मणों) के परामर्श के कारण प्रतापरुद्र के काल में आन्ध्र देश के अधिकतर शिवालयों से पुराने 'तम्मल्लु' पुजारियों को हटाकर उनकी जगह पर ब्राह्मणों को 'अर्चक' नियुक्त किया गया।"[1]

"पहले सभी शिवालयों के पुजारी तम्मल्लु या तम्बल्ल जाति के लोग ही हुआ करते थे, जो 'जिय्य' कहलाते थे।[2] आज भी कुछ शिवालयों के पुजारी तम्मळी ही चले आ रहे हैं। शैव देवलों से तंबल्लयों के हटाये जाने पर ही शायद किसी भक्त ने यह प्रक्षेप किया है :

> "शिवलिंग-समुद्भव के दिन से
> शिव को भजने वाला कोई
> ऐसा न हुआ, जिसने अर्चक
> तम्मळि का कभी विरोध किया !"[3]

काकतीय वंश के राजा गणपतिदेव ने एक गोलकी मठ के पीठ

---

१. वे० प्रभाकर शास्त्री, 'बसव-पुराण पीठिक' (भूमिका), पृष्ठ ७६।
२. वही, पृष्ठ ११४।
३. 'बसव-पुराण' (पाल्कुरिकि) पृष्ठ ७३।

गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य के हाथों दीक्षा ग्रहण करके कृष्णा नदी के तट पर मंदड नाम के ग्राम में गोलकीमठ, विश्वेश्वर विद्यामंडप की स्थापना की थी।[1]

"मंदडुग्राम के उपभोक्ता बनकर और दक्षिण राढ से आये हुए कालामुखियों के साथ वेलगॉपूडि के मठों में विद्यालय स्थापित करके आन्ध्र देश के अन्दर विज्ञान फैलाकर विश्वेश्वराचार्य जैसे विद्वद्गरण इन काकतीयों के समय में ही यहाँ पर जम चुके थे। कुमार स्वामी ने भी लिखा है कि काकतीय गरणपति देव ने गरणपेश्वर मन्दिर का निर्माण करके वहाँ पर अनेक विद्वानों को आश्रय दिया था। इन्हीं के सम्बन्ध में 'प्रतापरुद्रीयम' में विद्यानाथ ने कहा है—**"राजन्नेले गरणपेश्वर सूरयः"**।[2]

काकतीयों के शासन काल में ही सम्भवतः शैव वैष्णव सम्प्रदायों के समन्वय के विचार से हरि-हर भगवान की मूर्तियों की पूजा होने लगी थी। कहते हैं कि नेल्लूर में ऐसी एक मूर्ति थी। तिकन्ना सोमयाजी ने आन्ध्र महाभारत के अपने पहले पद्य में ही इस 'हरि-हर' मूर्ति का वर्णन किया है: "लक्ष्मी रूपी गौरी के लिए मनमोहक रूप धारण करके हरिहर भगवान की भद्र मूर्ति बनकर।" उसी प्रकार गुत्ति प्रान्त के निवासी नाचनें सोमनें ने भी अपनी "उत्तर हरिवंश" नामक कृति "हरि-हर" नाथ को ही समर्पित की है।

नाचनें सोमनें के समय (लगभग सं० १३०० ई०) में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के बीच द्वेष-भाव खूब रहा होगा। तभी तो उन्होंने लिखा है:

> **परस्पर वादविवाद मोह-मद**
> **पी-पी मरते हरिपद हर-पद**
> **यह शुभ वह शुभ के चक्कर में**

१. वे० प्र० शास्त्री, 'पीठिक' (भूमिका), पृष्ठ ७५।

२. 'पल्नाटि वीरचरित्र', द्वितीय भाग, अक्किराजु उमाकांतम् जी की पीठिक (भूमिका)।

रह जाते कैलाश शिविर में
जुड़े हुए ऋषियों-मुनियों में
माना हैं और हरिहर में
वही मुरारी, वही पुरारी
बने परस्पर के क्षमकारी
यह विचार ही घोर मोह है,
दोनों के प्रति महा झूठ है।[1]

हम कह सकते हैं कि मूर्ति-पूजा और अनेकानेक सम्प्रदायों ने ही हिन्दुओं में फूट डालकर उन्हें कमजोर कर दिया है। जन-साधारण ने "महा शक्ति" के शक्ति-भेद को भिन्न-भिन्न रूप देकर छूत के रोगों के लिए अलग-अलग देवियाँ बनाकर खड़ी कर लीं, और भक्त-जनों को देवता बनाकर पूजा। काकतीय काल में जिन देवी-देवताओं की पूजा होती थी वे ये थे—

१—एकवीर—यह कोई शैव देवी ही हो सकती हैं। इस पद्य के आधार पर स्पष्ट है कि यह देवी (परशुराम की माता) "रेणुका" हैं। "एक वीर काकतम्मा ही हैं।[2]" माहूर नामक ग्राम में प्रतिष्ठित होने के कारण इन्हें माहुरम्मँ भी कहा जाता है।[3]

यह एक नग्नमूर्ति है।[4] इसी देवी को आजकल तेलंगाण के रायल-सीमा के अन्दर 'एल्लम्मँ' देवी कहा है।[5]

वरंगल में 'एल्लम्मँ' नाम की एक प्रसिद्ध देवी का स्थान है। वह

१. उत्तर हरिवंशमु, अध्याय २, पद्य ६८।
२. क्रीड़ाभिराममु।
३. क्रीड़ाभिराममु।
४. "एकवीरम्मकु माहुरम्मकु अथाह्रींकारमध्यात्मकुन" (क्रीड़ाभिराममु) "क्रीड़ाशून्य कटीरमंडलमु देवी शम्भलीव्रालमुम् (क्रीड़ाभिराममु)
५. क्रीड़ाभिराममु।

अति प्राचीन भी लगता है। एल्लम्मँ बाजार के नाम से वरंगल में एक मुहल्ला है। पर यह नहीं मालूम कि वरंगल के अन्दर एल्लम्मँ के नाम से किसी नग्न देवता की मूर्ति आज भी है या नहीं। आलमपुर में जरूर ऐसी एक मूर्ति है। यह स्थान दक्षिण काशी और श्रीशैल (शैलेश्वर) पर्वत का पश्चिमी द्वार कहलाता है। 'नव ब्रह्मालय' के अति प्राचीन मन्दिर भी यहाँ पर हैं। अष्टादश महाशक्तियों में से एक शक्ति "जोगुळांम्बँ" इसी जगह पर है। "जोगी अम्बा" इस शब्द से ही प्रतीत है कि असल जैन ही को कदाचित् बलात् शैव देवी बना दिया गया है। इसी आलमपुर में दो और मूर्तियाँ हैं जिनमें से एक का धड़ मात्र है, सिर नहीं है, और दूसरी एक स्थूल नग्न मूर्ति है जिसे स्थानीय जन एलम्मँ और रेणुको नाम से याद करते हैं। कहते हैं कि परशुराम ने पिता की आज्ञा से माता के सिर पर फरसा चला दिया था। कहते हैं कि सिर कटकर चमारों की चमरौटी में जा गिरा और धड़ मात्र वहाँ रह गया। उसी स्थान पर प्राप्त एक हस्तलिखित ग्रन्थ में उल्लेख है कि यह देवी बाँझ स्त्रियों को सन्तान प्रदान करती हैं।

इसी एल्लम्मँ की कथा रेणुका की कथा के रूप में आज भी रायलसीमा के अन्दर और हैदराबाद के महबूबनगर जिले के अन्दर बवनीड नामक मादिगँ (चमारों की एक) जाति वाले दो-दो दिन तक जवनिकँ (या जमडिकँ) नामक ढोल बजाकर गा-गाकर सुनाते हैं। काकतीयों के शासन-काल में इसी बवनीड जाति की स्त्रियाँ भी एल्लम्मँ की कथा घोर-वीर-आवेश के साथ सुनाया करती थीं। उनके बाजे की धुन होती थी—जुकँ जुम् जुम्, जुकँ जुम् जुम्।[1]

(२) मैलार देव—कदाचित् यह भी 'एक वीर' की तरह पहले जैन देवता रहे थे और पीछे शैव देवता बन गये होंगे।[2] मैलार एक गाँव का नाम है। इसीलिए इनका नाम मैलार देव पड़ा। शैव कविता में

१. क्रीड़ाभिरामम्‌ु।
२. क्रीड़ाभिरामम्‌ु।

मैलार देव को भैरव का जोड़ीदार बताया गया है।[1]

(३) अन्य देवी-देवता ये हैं---भैरव, चामुंडेश्वरी वीरभद्र, सानम्मॉं कुमार स्वामी, पांडव, स्वयंभूदेव (शिव), मुद्दारु, मुसानम्मा।[2]

(४) वीरगुड्डुम---आज भी कई जगहों पर वीरगुड्डुम खड़े हैं। किसी स्थानीय व्यक्ति के वीरोचित कृत्यों के लिए स्मारक खड़ा करना उन दिनों का आचार था। उमाकान्तम ने कहा है कि पल्नाटि वीर-युद्ध सं० ११७३ के लगभग की घटना है। उन वीरों की पूजा पल्नाटि में आज भी जारी है। जिस दिन यह युद्ध समाप्त हुआ उसी दिन से वीर पूजा का आचार चल पड़ा था।

पल्नाटि वीर-पुरुष परम-दैवत शिवलिंग भवननाटी (वरंगल में भी) वर्तमान।

> **कलिनि-ग्राम की पोतुलय्य, गुरिजाल ग्राम की गंगम्मा**
> **कुलदैवत ही नहीं, परम:बांधव भी ग्रामदेवियाँ ये**
> **उन अधीर-पेशी वीरों के लिए सदैव सहाय रहीं,**
> **जो पल्नाटि-समर-आँगन में लड़ते हुए काम आये।**

कलिनी[3] पोतुलय्य तथा गुरिजाल गंगमाम्बा आदि ग्राम-देवी-देवताओं के मन्दिर भी वहाँ पर थे। और ये पल्नाट वीरों के कुल-देवता थे।

(५) माचेर्ला चन्ना---वास्तव में चन्ना केशव स्वामी से ही बना है, पल्नाड की कहानी में भी कहा गया है कि बालचन्द्र की माता ने सन्तान के लिए माचर्ला में चन्ना केशव स्वामी की सेवा की थी। उन दिनों ऐसे ही और भी अनेक देवी-देवता थे। देवताओं की कोई कमी नहीं थी।

जात पाँत

धर्म के साथ तत्सम्बन्धी जात-पाँत के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना उचित है।

---

१. क्रीड़ाभिराममु।
२. क्रीड़ाभिराममु।
३. क्रीड़ाभिराममु।

अठारह की संख्या को न जाने क्यों काफी महत्व प्राप्त है। नागुल-पाटी के शिलालेख में उल्लेख है कि हिन्दुओं में अठारह जातियाँ मुख्य थीं।

लिखा है कि यह गाँव वहाँ की अठारह जातियों की संस्था समस्त प्रजानुरंग भोग—जनता की सुख सेवा के लिए दान दिया गया है। इन जातियों के नाम इस प्रकार गिनाये गए हैं—बनिया, कलाल, गडरिया, धोबी, जुलाहा, नाई, कुम्हार। इन जातियों के सम्बन्ध में विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। ये सभी जगह पाये जाते हैं। फिर भी बनियों के बारे में कुछ लिख देना अनुचित न होगा। बनिये के लिए तेलुगू में "कोमटी" का शब्द आया है जो कोई बहुत पुराना नहीं है। यह नाम किस प्रकार आया कहा नहीं जा सकता। कुछ लोगों का विचार है कि यह शब्द "गोमठ" से बना है। गोमठेश्वर जैन तीर्थंकर का रूपान्तर है। मानव-अंग-स्वरूप-शास्त्र (एथनॉलाजी) के अनुसार कहा जाता है कि इन कोमटियों में आर्यों के लक्षण पाये नहीं जाते। मानपल्ली रामकृष्ण कवि ने अपने 'भद्रभूपाल' नामक नीति शास्त्र के पहले पद्य में अपना निर्णय दिया है कि आन्ध्र देश में कोमटी का शब्द सन् ११५० ई० से कुछ पहले पहली बार प्रयुक्त हुआ है। उसके बाद पल्नाटि युद्ध में यह शब्द सुनने में आता है। और श्री अक्किराजु का मत है कि यह युद्ध सन् ११७२ ई० में हुआ था।

फिर पाल्कुरिकी सोमनाथ ने अपनी रचनाओं में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग किया है। बेरी[1] बच्चु, नाणेकाडु[2] इन शब्दों को पूर्वसूरियों ने कोमटी का पर्यायवाची माना है। इसके अरिरिक्त उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। महत्वपूर्ण पर्यायवाची शब्दों को हमारे प्राचीन निघण्टुकारों ने छोड़ ही दिया है। कोमटियों को गौर और चेट्टी (सेट्टी) भी कहा जाता था। चालुक्य और काकतियों के समय यह चेट्टी या सेट्टी शब्द वीर शैव

१. आन्ध्रनाम संग्रहमु, मानव-वर्गु
२. साम्बनिघण्टुवु, मानव-वर्गु।

सम्प्रदाय के अनुयायी बलिजें जाति के लिए साधारणतया एक सम्मान-पद था। आज भी उन्हें बलिजें-सेट्टी कहा जाता है। ऐसा लगता है कि कोमटियों ने जब शैव सम्प्रदाय को अपनाया तो साथ ही उन्हें वह पदवी भी मिल गई। शुक सप्तति के रचयिता पालवेकरि कदिरीपति ने कोमटी के लिए गौर का शब्द प्रयोग किया है। यह कदरीपति सन् १६०० ई० के लगभग हो गए हैं।

वास्तव में यह कोमटी गौड़-देश (बंगाल) के निवासी थे। छठी-सातवीं ईसवी शताब्दी में स्थानीय शासकों के अत्याचारों से ऊबकर ये लोग समुद्र-मार्ग से तेलुगू-देश में उतरे। गौड़-देश से आने के कारण गौड़ या गौर कहलाने लगे। जब ये जैनी बने तब कोमटी कहलाये। कोमटियों की कुल-देवी का नाम है 'कन्यकाम्बा'। इस कान्यकाम्बा के सम्बन्ध में यह कथा प्रख्यात है कि राजा विष्णुवर्धन ने उसके साथ बलात्कार किया था। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह छठी-सातवीं शताब्दी के लगभग ही यहाँ आये होंगे।

इनके अलावा और भी कई-एक जातियों के नाम तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। "भोई" के शब्द के सम्बन्ध में भी शंका की कुछ गुंजाइश है। विजयनगर साम्राज्य के समय बेंडर-भोई नाम की एक जाति थी। विजयनगर-कालीन कवियों ने भोइयों को शिकारी, अत्याचारी के नामों से सम्बोधित किया है। आज भी हैदराबाद के अन्दर करीमनगर और नलगोंडा जिलों में यह भोई जाति विशेषतया पाई जाती है। कुछ लोगों का मत है कि 'भोई' शब्द 'भोय' अर्थात् 'भोज' शब्द से बना है। जब अंग्रेज मद्रास उतरे तब ये उनके यहाँ शायद घरेलू काम-काज के नौकर रखे गये। भोय (भोज) शब्द ही को अंग्रेजी में 'ब्वॉय' लिखा गया, जिसके माने अंग्रेजी में लड़के के हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी में नौकर को चाहे वह बच्चा हो या बुड्ढा 'ब्वॉय' ही कहा जाता है।

पल्नाटि-युद्ध में बालचन्द्र के हाथों पिटकर भागे हुए लोगों में से कुछने यह कहकर अपनी जान बचाई थी कि—

"हम भोई हैं। देखो हमारे कंधों पर घट्ठे पड़े हैं।"

हाल-हाल तक भी भोई लोग पालकी ढोया करते थे। इससे सिद्ध होता है कि सन् ११७२ में भी भोइयों का यही पेशा था। इसके अतिरिक्त नलगोंडा प्रान्त में अधिक संख्या में इनके बसने का भी यही कारण जान पड़ता है कि दक्षिण भारत का कुरुक्षेत्र 'कारमपूड' इसी जगह पर था। सेनाधीशों और उनकी रनवास की पालकियों को ढोने वाले यही भोई रहे होंगे।

कर्णाट किरात कहलाने वाले भोई काकतीयों के समय यहाँ नहीं थे। कर्णाटकी होने के कारण विजयनगर राज्य के साथ वे आन्ध्र में आये होंगे। रायचूर के पास बेंडरों (भोई) की एक रियासत थी। सन् १८५७ के गलत नाम वाले स्वतन्त्रता विप्लव के दौरान में वह रियासत मटिया-मेट कर दी गई। ग़दर के बाद जाँच करने को नियुक्त किये गए एक अंग्रेज अधिकारी मेडोज़ टेलर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"बेंडर राजाओं को कुओं से पानी लेने और मन्दिरों में प्रवेश करने की मनाही थी। सवर्ण हिन्दू उन्हें अछूत मानते थे।" पर पता नहीं कि कैसे एक ही शताब्दी के अन्दर हिन्दुओं की वह छूत-छात कहाँ भाग गयी!

रुंजा एक और जाति थी। पेशा था नगाड़ा या उस जैसा ही कोई रण-डंका बजाना। इस नगाड़े को रुंज कहा जाता था। पल्नाटि वीर चरित्र की पाल्कुरिकी की रचनाओं में इसका प्रायः प्रयोग मिलता है।

पिच्चकुंट्ला एक और जाति है जो तम्बूरे बजा-बजाकर रेड्डी राजाओं की कहानियां गाया करते थे। ऐसा लगता है कि पाल्कुरिकी के समय यह नाम भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने वाले विकलांगों का था।

"·····हम लूले हैं, पंखा नहीं झल सकते।

·····हम लँगड़े हैं चल नहीं सकते। हम अन्धे हैं। 'पिच्चक-गुण्डल' (विकृतांग) हैं।"

"धर्मात्माओ, हमें दान दो।"

इस तरह गा-गा अथवा पुकार-पुकार कर वे भीख माँगा करते थे।[1]

पंबल, बवनि, मेदर वगैरह दूसरी अनेक जातियों का सम्बन्ध पेशा अथवा वृत्ति से है। इसलिए उनकी चर्चा वृत्तियों के साथ किसी दूसरे अध्याय में होगी।

हिन्दुओं में उन दिनों धर्म-परिवर्तन की परिपाटी नहीं थी। ऐसी भावना वास्तव में उन सभी पावन्दियों के कारण पैदा हो चली थी जो भारतीय समाज के अन्दर पाँचवीं-छठी शताब्दी से चली आई हैं। मगर सच तो यह है कि शुद्ध करना, पर-धर्म को स्वीकार करना, और धर्म का प्रचार करना, इत्यादि कामों को ईसाई और मुसलमानों ने भी हिन्दुओं और बौद्धों से ही सीखा है। ईसा मसीह से १५० वर्ष पूर्व हेलियोडोरस नामक एक यूनानी ने मध्यप्रदेश के विदिशा रेलवे स्टेशन के समीप बेसनागर स्थान पर एक स्तूप खड़ा करके उस पर खुदवा दिया था कि उसने भागवत सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया है। मुसलमानों के सिन्ध प्रान्त को अधिकृत कर लेने के बाद जिन हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया था, उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में लौटा लेने के लिए ही ग्यारहवीं शताब्दी में 'देवल स्मृति' की रचना की गई थी। मुसलमानों द्वारा वरंगल के ध्वंस के बाद भी आन्ध्रों ने शुद्धि की प्रथा चलाई थी। खब्ती मुहम्मद तुग़लक द्वारा वरंगल के उजाड़े जाने के बाद बहुत सारे हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया गया था। ख़ास-ख़ास लोगों को मुसलमान बनाकर दिल्ली ले जाया गया। उनमें से कविवर कन्नय नायक का भाई भी था। इस नव-मुस्लिम आन्ध्र को तुग़लक ने कम्पिली राज्य का अधिपति नियुक्त किया था। परन्तु वह कम्पिली पहुँचते ही "मुहम्मदीय" मत को त्यागकर फिर से हिन्दू हो गया था और दिल्ली के ख़िलाफ़ बग़ावत कर बैठा था। यह बात सन् १३४५ ईसवी की है।

---

१. पंडिताराध्य चरित्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३४८।

समाज-सुधार

हिन्दू धर्म के सुधार की दृष्टि से ही शैव तथा वैष्णव धर्मों का प्रचार हुआ था। परन्तु उन्होंने भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक की है। जैनियों में महान् तार्किक विद्वान् थे। उनकी रचनाओं में इस जात-पाँत के सिद्धान्त का बड़े ही योग्यतापूर्ण तर्कों से खण्डन किया गया है। बौद्धों के साथ-साथ उन जैनियों ने ही आन्ध्र देश के अन्दर समाज-सुधार का आरम्भ किया। काकतीयों के शासन-काल में अनेक अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह हुए। रानी रुद्रम्म के ब्राह्मण मन्त्री इन्दुलूरि अन्नय्यँ ने रानी की दूसरी बेटी रुय्यम्में के साथ विवाह किया। राज-परिवार के अन्दर ही जब जात-पाँत के बन्धन टूटते हैं, तब जनसाधारण में उनकी मर्यादा कहाँ तक बाकी रह सकती है? पल्नाटि युद्ध के चटाई-भोज की चर्चा और ब्रह्मनायुडु का अनेक जातियों की स्त्रियों के साथ विवाह करना हम पहले ही बता आये हैं। इसी प्रकार एक शब्द 'पालेम' है, जो खास दक्षिणी शब्द है। जिसका अर्थ है, प्रदेश अथवा प्रान्त। पालेम की रक्षा करने वाले पालेगार कहलाते थे। उनकी सेनाओं में मालँ मादिगँ आदि (पासी, चमार) भरे होते थे। आज भी इन जातियों में ढालवाल, सींग-वाल, कटारवाल के वंश-नाम मिलते हैं, जिनसे उनके पूर्वजों की सैनिक सेवाओं का पता चलता है।

शैव धर्म में चाकलि, मंगलि, मालँ, मादिगँ आदि (धोबी, हजाम, चमार, पासी) सभी जातियों के लोग सम्मिलित थे। पाल्कुरिकी सोमनाथ के 'बसव पुराण' में हमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। आजकल (दक्षिण में) अन्न-सत्रों के अन्दर भोजन केवल ब्राह्मणों को दिया जाता है, किन्तु काकतीय युग में कुछ अन्न-सत्रों में सभी जाति वालों को बराबर भोजन मिलता था। शैव-सम्प्रदाय के अनुसार सत्र में चाण्डाल को भी अन्न-वस्त्र-दान का प्रबन्ध था।[1]

वरंगल के राजा प्रतापरुद्र के समकालीन एकाग्रनाथ ने अपने गद्य-

१. मल्कापुर शासन (शिलालेख) : (तेलंगाणा शासन-ग्रन्थ)।

ग्रन्थ 'प्रतापरुद्र-चरित्र' में लिखा है:—

"एक दिन सन्तूर नामक एक ग्राम में कृष्णमाचार्य नामक एक ब्राह्मण के छोटे भाई अनन्ताचार्य ने एक धोबिन के साथ सम्भोग किया। धोबी ने दोनों ही को एक साथ मार डाला। बस्ती ब्राह्मणों की भी थी। ब्राह्मणों ने कहा—'ब्राह्मण की लाश के साथ शूद्रा की भी लाश पड़ी है, इसलिए हम उस ब्राह्मण की लाश का भी दाह-संस्कार नहीं करेंगे; न ही उसे अपने कंधों पर उठायेंगे।' यह देखकर कृष्णमाचार्य ने भगवान् वासुदेव की स्तुति की और लाश अपने-आप खिसकती हुई चिता पर पहुँच गई।"

वीर-शैव और वीर-वैष्णव दोनों ही एक हद तक समाज-सुधारक ही थे। किन्तु उन्होंने असहनशीलता तथा धार्मिक उन्माद का भी हिन्दू समाज के अन्दर प्रवेश कराया। जनता में अन्ध-विश्वास बढ़ गया। यह हुई धार्मिक समीक्षा। अब अन्य विषयों पर विचार करेंगे।

युद्ध तन्त्र

हिन्दुओं के अन्दर धीरता-वीरता तो थी, किन्तु युद्धोपयोगी शस्त्रास्त्रों का उन्होंने कोई आविष्कार नहीं किया। नवीन और बढ़िया मारात्मक हथियारों का उपयोग पहले उनके विरुद्ध मुसलमानों ने ही किया। फिर योरप वालों ने उससे बढ़े-चढ़े हथियारों से हमारे देश को हथिया लिया। आन्ध्र जाति के पास भाले और तलवारें बस यही दो खास हथियार थे। आजकल के-से हथियार न होने के कारण ही उन दिनों कोट-किले बनाने की आवश्यकता थी। आन्ध्र में सबसे पहले राजा गणपतिदेव ने वरंगल के क़िले को तैयार करवाया। रुद्रम्मदेवी ने उसे पूरा किया। पत्थर वाले भीतरी क़िले को बड़ा क़िला और बाहरी किले को भूमि कोट अर्थात् मिट्टी का किला कहा जाता था। मिट्टी का क़िला भी कोई मामूली क़िला न था। सन् १२९६ में अलाउद्दीन खिलजी ने मलिक काफ़ूर को वरंगल पर धावा बोलने के लिए नियुक्त किया। मलिक

काफूर ने क़िले को घेरकर मिट्टी की दीवारों को गिराना चाहा। किन्तु क़िले की दीवारों में फौलादी बरछियाँ भोंकने पर भी मिट्टी की एक पपड़ी तक नहीं झड़ती थी। गोलाबारी करने पर गोलियाँ उछल-उछल-कर लौट पड़ती थीं मानो बच्चों के खेलने की गोलियाँ हों।[१] इस मिट्टी के क़िले की लम्बाई-चौड़ाई १२५४६ फुट बताई जाती है।

क़िले को घेरने वाले मुसलमानों पर क़िले की दीवारों से लोहे आदि की गरम-गरम पिघलन उँडेली जाती थी। मुसलमानों ने 'मञ्जनीकों' का प्रयोग किया और हिन्दुओं ने 'अरद्दों' का। दोनों ही पत्थर फेंककर मारने के गुलेल के-से साधन थे। खुसरो ने इनके बारे में लिखा है—"**मुसल-मानों के गोले तेजी से आसमान में उड़ा करते थे। और हिन्दुओं के पत्थर एकदम कमजोर, मानो ब्राह्मणों ने जनेऊ से फेंक मारे हों!**"[२] यह मंजनीक पाश्चात्य देशों से आते थे और दोनों ही सेनाएँ उनका प्रयोग करती थीं।

वरंगल के युद्ध में ही पहला बार अग्नि-वर्षा का प्रयोग किया गया था यही बाद की तोपों और बन्दूकों का श्रीगणेश था। फारसी के इतिहास-कार ने लिखा है—"**आतिश मीरेखबंद अर्थात् आग बरसाते थे।**' उसी ने आगे लिखा है—"**किताबाते हिन्दू के गोयंद? बरदश!**" अर्थात् हिन्दुओं की ओर से सैनिक घटनाओं को कौन लिखा करते थे? "बरदश!" यह बर्द क्या है? निश्चय ही 'बर्द' कोई तेलुगू शब्द है। युद्ध-भूमि की वीरोचित कथाएँ आदि सुनाने वालों को 'बन्दी', भट्ट अर्थात् भाट कहा करते थे, शायद यही भाट या भट्ट ही बिगड़कर बर्द हो गया।

'प्रतापरुद्रीयम्' में आन्ध्र जाति के युद्धोपयोगी शस्त्रास्त्रों का वर्णन मिलता है। बहुतों के तो अर्थ भी नहीं मालूम कि वे कौन शस्त्र थे और असल में थे भी या नहीं। शब्द-कोष से खोजकर कुछ के अर्थ भी

१. 'खजाइनुल-फुतूह';—अमीर खुसरो।
२. 'तारीखे-फ़ीरोजशाह';—बर्नी।

निकाले हैं, पर उनसे भी मतलब सिद्ध नहीं होता। क्योंकि निघंटुकार ने अक्सर इतना ही लिखकर बस कर दिया है कि 'यह एक प्रकार का हथियार है।' फिर भी नाम सुन लीजिए—

तोमर—दण्ड विशेष, डण्डे जैसा हथियार।

काक्षेपका:—खड्ग, तलवार।

मुसुन्दय:—दारुम आयुध विशेष; यह भी काठ का ही एक हथियार है।

कार्मुका:—धनुष।

गदा:—मुद्गर।

कुन्ता:—बराबर फेंक मारने वाला एक हथियार।

पहस:—लोहे की छड़ या डण्डा।

अच्छी तलवारें लोहा, पीतल, ताँबा और काँसा इन चार धातुओं को मिलाकर तैयार की जाती थीं।[१]

पल्नाटि युद्ध में जिन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ उनके नाम हैं—कुन्त, परसा, गदा, मूसल, मुद्कर या मुद्गर, नोकदार कटार, चक्रतोमर, छुरी, धनुष-बाण, शूली इत्यादि।[२]

शत्रुओं से घिर जाने पर किले की रक्षा किस प्रकार की जाती थी? इसका कुछ वर्णन इस प्रकार है:—

"कोट को सजाकर, बुरजों पर छत छाकर,
नौकरों के लिए छप्पर छवाकर,
कंगूरे चढ़ाकर, गोल-गोल छल्लियों में
नोंकदार खोंचें कसकर,
खाई खुदवा कर और उसमें तैरने लायक पानी भरकर,
नगर के चारों ओर बाड़े खड़े करके,
बीच-बीच में मंच बनाकर,

---

१. 'प्रतापरुद्रीयमु', चतुर्थ प्रकरण, ११वाँ श्लोक।
२. 'पल्नाटिवीर चरित्र', पृष्ठ १०५।

फाटकों पर बड़े-बड़े दरवाजे लगाकर,
भाले, कोंकी तलवार, कुन्त, गुलेल, कत्तल,
धनुष-बाण आदि जुटाकर; बीच बस्ती में,
ढेर-ढेर मिट्टी के टीले बनाकर।[1]

आन्ध्र सैनिक कूच के समय क्या-क्या किया करते थे, युद्ध-भूमि में उन्हें कैसी-कैसी तकलीफें झेलनी पड़ती थीं, युद्ध-धर्म कैसे थे; आदि का वर्णन हमें 'पल्नाटि-चरित्र' में मिलता है।

कूच से पहले अपने किले की रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लिया जाता था। फिर ब्राह्मणों को बुलाकर, कूच के लिए मुहूर्त का निश्चय होता था। फिर कूच का डंका बजता था। सेना के साथ-साथ डेरे, तम्बू, खाट पलंग, पालकी और रसद व खजाने की गाड़ियाँ भी चला करती थीं।[2]

उन दिनों युद्ध के समय नगाड़े, डफ, सिंघे, शंख, शहनाई, ढोल, रुञ्ज, घण्टे इत्यादि सभी बाजे एक साथ बज उठते थे, बे-सुर-ताल का एक महाशोर-सा छाया रहता था।

ऊपर के शब्दों में से रुञ्ज एक प्रकार का नगाड़ा होता था। गोल्लेन और पटकुटीर दो शब्द डेरे और तम्बू के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन दोनों में अन्तर था। पटकुटीर को डेरा तो कहा गया है, पर वास्तव में वह तम्बू होता था। और गोल्लेन होता था डेरा, जिसके बीचों-बीच एक खम्भा होता था। बीच का खम्भा बैठ जाने पर सारा डेरा धड़ाम से बैठ जाता था।[3] युद्ध के बीच जब एक पक्ष हारकर संधि करना चाहता तब वह सिंघे बजा देता था उसीको 'धर्मदारा' कहा गया है।[4] घमासान युद्ध के बीच भी जो सिपाही शत्रु के वार से बचना चाहता था वह कई प्रकार से अपने प्राणों की भिक्षा माँगता था। कुछ तो कहते

१. नाचन सोमन : 'उत्तर हरिवंशमु'।
२. 'पल्नाटि वीर चरित्रमु'।
३. 'पल्नाटि वीर चरित्रमु'।
४. 'क्रीड़ाभिरामम'।

थे कि हम सिपाही नहीं हैं, पालकी ढोने वाले कहार-मात्र हैं, हमें माफ करो। कुछ लाश बनकर धरती पर चित पड़ जाते थे। कुछ पड़ी हुई लाशों को ओढ़कर छिप जाते थे, और कुछ अधमरे बनकर अपने बीवी-बच्चों को याद करते हुए बिलखते थे। यही नहीं, किन्तु कुछ लोग दीमक की बड़ी-बड़ी बाँबियों पर बैठकर तपस्वी बन जाते, कुछ घास के ढेरों के बीच छिपकर बैठ जाते, कुछ मुँह में उँगलियाँ देकर चूसा करते थे, कुछ बाल बिखेरकर नाचते और कुछ पीठ दिखाकर भाग खड़े होते थे।[1]

शस्त्रास्त्र उतार फेंकने के कारण ऐसे लोगों को दुश्मन मारते नहीं थे। जो पकड़े जाते वे शत्रु के सामने जमीन में मुँह लगाकर घास कुतरते, 'पाँच-दस' करते अर्थात् दोनों हाथ जोड़ देते या अगला कदम पीछे हटाकर धरती पर पैर जोड़कर खड़े होते, पीठ दिखाते या पैर पीछे हटाते। इन सबका एक ही अभिप्राय है।

उस समय युद्ध में हाथियों, घोड़ों और बैलों का अधिक प्रयोग होता था। राजा पालकियों में सवार होकर युद्ध-भूमि में जाते थे। आन्ध्र की सेनाओं में अनुशीलन, क्रमशिक्षा (कवायद) वरदी, बढ़िया घातक शस्त्रास्त्र कम थे। जिन सेनाओं ने केवल संख्या पर ही भरोसा किया है वे प्रायः हारी ही हैं। पल्नाटि युद्ध में बालचन्द्र की मार के आगे जो टिक न सके उनमें से कुछ ने कहा है कि:—

> **"दुश्मन तुम्हें देखते ही भाग खड़ा होता है,**
> **तुम्हें कोई भय नहीं, इस प्रकार**
> **नागम्मा के प्रोत्साहन देने पर हम आये थे,**
> **यदि प्राण बचे तो,**
> **बाल-बच्चों के साथ घास-पात खाकर ही गुजारा कर लेंगे।"**

क्या ऐसे बेगारों की टुकड़ियाँ या टोलियाँ कहीं जीत प्राप्त कर सकती हैं? किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि शिक्षित सेना थी ही नहीं। थी, पर बहुत कम। वरंगल में एक मुहल्ला ही मोटरीवाडा

१. **'पल्नाटि वीर चरित्रमु', पृष्ठ ११०।**

कहलाता था। यह प्रायः सैनिकों की ही बस्ती (फौजी छावनी) थी। उनकी वरदी भी होती थी जिसे दरजी लोग सीकर तैयार करते थे। उस वरदी में तीन चीजें शामिल थीं—जाँघिया, अंगी या अँगरखा और एक कमरबन्द! काकतीय नरेश की नौ लाख की सेना थी। विद्यानाथ ने कहा है—**"नव-लक्ष-धनुर्धराधिनाथे, पृथिवीं शंसति वीर रुद्र देवे!"** सेना की ऐसी बड़ी संख्या अधिकतर सरहदी सरदारों या पालेगारों के पास होती थी! सरहद की रक्षा के लिए उन्हें अपने पास निश्चित संख्या में सेना रखनी पड़ती थी। ये सरहदी सरदार ही आन्ध्र राज्य के पतन के कारण बने। ये सरदार ताक में रहते थे कि कब केन्द्रीय शक्ति क्षीण हीन होती है कि वे विद्रोह करके सफल हो बैठें। सामग्रिक दृष्टि से तो यह मानना ही पड़ेगा कि आन्ध्रों का युद्ध-तन्त्र मुसलमानों के मुकाबिले में *बहुत ही गया-गुज़रा था और मैदान में जमकर रहने का दम उसमें* न था।

कलाएँ

रचनात्मक शिल्प, विद्याध्ययन, चित्र-कला, शिल्प-कला और दस्तकारी को कलाओं में सम्मिलित मानकर उन पर यहाँ विचार किया जायगा। काकतीय युग में आन्ध्र के अन्दर उत्तमोत्तम कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ। उससे पहले पूर्वी पश्चिमी, चालुक्यों ने अनेक नये शिवालय बनवाये और प्राचीन मन्दिरों को सुधारकर उनके लिए भूमि-दान किया। वरंगल के काकतीय नरेश और उनके सामन्त और भी नये मन्दिर बनवाकर जगह-जगह अपने शिला-लेख छोड़ गए हैं। काकतीयों की राजधानी तेलंगाने में थी, इसलिए मन्दिर-निर्माण-कला के अधिकतर नमूने वहीं मिलते हैं।

वरंगल आन्ध्र-नगर के नाम से प्रसिद्ध था! किसी और शहर को यह मान प्राप्त नहीं था। इससे प्रतीत होता है कि काकतीयों के अन्दर आन्ध्राभिमान सबसे अधिक था। वरंगल के क़िले में सात फसीलें थीं।

सबसे भीतरी शिला-कोट में राजा का निवास था। वह चक्रवर्ती कहलाता था। कोट के बाहरी भाग में नीची जातियों के लोग रहा करते थे। उस मुहल्ले में "मैला बाजार" के नाम से सप्ताह में एक बार हाट लगती थी। कोट के भीतर "शुद्ध बाजार" भरता था। उसमें गलियाँ भी थीं। किले की फसीलों के परिधि, प्राकार, टेढ़ी राह, बड़ा दरवाजा इत्यादि अलग-अलग नाम थे। यह सब क़िले का ब्यौरा है। इस क़िले के अन्दर रथ, घोड़े, शकट (गाड़ी), हाथी और यूथ संभार (सैनिक सफबन्दी) की व्यवस्था थी।[1] राजमार्ग हाथी, घोड़े, गाड़ियों और अनेकों सैनिकों (भटकोटि) से खचाखच भरा रहता था। कुछ प्रशान्त गलियाँ भी थीं। बिचले बाजार[2] में वेश्याओं के घर भी थे। बीच शहर में 'स्वयम्भू' भगवान् का मन्दिर बना था। इसे मुसलमानों ने तहस-नहस कर डाला। उस मन्दिर के चारों ओर बड़े-बड़े खम्भों के साथ हंस-द्वार बने हुए थे, अर्थात् उन खम्भों के सिरों पर सुन्दर हंस खुदे हुए थे। उन खम्भों में से अब दो ही बचे हैं। शहर बहुत सुन्दर था। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। सन् १३२१ में मुसलमानी फौजों के एक सिपहसालार अलफखान ने जब एक टीले पर चढ़कर शहर का जो दृश्य देखा, उसी के शब्दों में सुन लीजिए:—

"जिस किसी तरफ देखो दो-दो मील की लम्बाई में पानी के फव्वारे लगे हुए हैं। बागों में आम, केले और कटहल के पेड़ हैं। फूल सभी हिन्दुस्तानी हैं। चम्पा, केवड़े और चमेली के फूल खिले हैं। शहर मुहल्लों में बँटा हुआ है। मुहल्लों के अलग-अलग नाम हैं: जैसे अक्कल-वाड (बहनों का मुहल्ला), बोगम् वीधि (वेश्याओं का मुहल्ला), वेली-पालेमु (थवइयों का मुहल्ला), मोहरीवॉड (सैनिकों का मुहल्ला) आदि।[3] मन्दिरों और राजभवनों के अतिरिक्त होटल-ढाबे आदि भी हैं।"

१. 'क्रीडाभिरामम्'।

२. " ।

३. नूहेनिपेहर् (?) अमीर खुसरो।

जैन बनने के बाद काकतीय नरेश ने जैन-मन्दिर बनवाये। हनुम-कोंडा की पहाड़ी चट्टान पर भी उन्होंने जैन तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियाँ बनवाईं। उसी पहाड़ी पर पद्माक्षी का मन्दिर भी है। बाद में शैवों ने उस मन्दिर को हथियाकर अपनी पूजा-पद्धति चला दी। पहाड़ के नीचे वाले तालाब में आज भी जहाँ-तहाँ टूटी-फूटी और साबित मूर्तियों के ढेर देखे जा सकते हैं।

फिर शैव हो जाने के बाद काकतीय राज-घराने ने हनुमकोंडा (वरंगल) में हज़ार खम्भों का मन्दिर बनवाया। इसके अतिरिक्त भी आन्ध्र देश-भर में अनेक सुन्दर शिल्पकला-पूर्ण मन्दिर जहाँ-तहाँ बनते गए। परन्तु मुसलमानों के हाथों उनके तहस-नहस हो जाने के कारण अब केवल विषाद, दुःख और उस शिल्प-कला के बचे-खुचे टूटे-फूटे खँडहर ही हमें नसीब हैं। वरंगल से चालीस मील की दूरी पर 'रामप्पॅ-गुडि' नामक प्राचीन मन्दिर है। इसे वरंगल के एक सामन्त रेड्डी सरदार रुद्र सेनानी ने सन् ११६२ में बनवाया था। मन्दिर की मूर्तियाँ, खम्भों की शिल्पकारी और विशेषकर मन्दिर के चारों दरवाजों पर ऊपर की ओर चारों कोनों में काले पत्थर की बनी हुई नर्तकियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं। उन नर्तकियों के शरीरों के गहने, उनकी सजावट और उनकी त्रिभंगी नाट्य-कला मानो शिल्पकारों को ही मोहित करती है। इसी कारण उन शिल्पियों ने उन सुन्दरांगियों की मूर्तियों में जी भर प्रसाधन-क्रियाओं का समीकरण करके और उन्हें पूर्णतया नग्न रूप में खचित करके अतीव आनन्द का अनुभव किया। मन्दिर के खम्भों पर उत्तमोत्तम नृत्य-भंगियों के साथ मृदंगादि के वाद्यकारों की सूक्ष्म रेखाएँ अंकित की हैं। उन्हीं दिनों जाय सेनानी नामक कवि ने संस्कृत में नृत्य-कला पर एक ग्रन्थ लिखा था। वह हस्तलिखित ग्रन्थ आज तंजावर के संग्रहालय में मौजूद है, परन्तु कोई उसके प्रकाशन की ओर ध्यान नहीं देता। कहते हैं कि जाय सेनानी के उस ग्रन्थ के उदाहरण उस मन्दिर की इन नर्तकियों के चित्र ही हो सकते हैं। क्या ही अच्छा हो यदि उस शास्त्र को और उन

मूर्तियों को व्याख्या के साथ प्रकाशित किया जाय।

हैदराबाद के अन्तर्गत महबूबनगर जिले में बूदुपुर एक गाँव है। (सम्भवतः यह गाँव बुद्धारेड्डी का बसाया हुआ बुद्धापुर है।) वहाँ पर कुछ जीर्ण मन्दिर हैं। उन पर मुसलमानों के हथौड़ों की चोट पड़ चुकी है। उनमें से एक को मसजिद बना लिया गया है। उस मसजिद में आज भी शिलालेख मौजूद हैं। उन मन्दिरों को बुद्धारेड्डी की बेटी और मल्यालगुण्डॅ सेनानी की पत्नी कुप्पम्मॅ ने बनवाया था। कुप्पम्मॅ तथा गुण्डय्यॅ ने महबूब नगर जिले की ही नागर-कर्नूल तहसील में वर्धमान (वर्तमान नाम वड्डामान) में कुछ सुन्दर शिवालय बनवाये थे। वहाँ से १५ मील की दूरी पर बुद्धारम् ग्राम है। वह भी बुद्धारेड्डी ही के नाम पर बसाया गया था।

नलगोंडा (नल्लगोंडॅ) जिले में पिल्ललॅमर्रि ग्राम में नामि रेड्डी ने कई अत्यन्त ही भव्य मन्दिर बनवाये थे। काकतीयों के शिलालेख आलमपुर में भी मिलते हैं, परन्तु वहाँ पर नये मन्दिरों को नहीं बल्कि पुराने मन्दिरों को ही जायदादें दान में दी गई हैं। कर्नूल के पास त्रिपुरान्तक में काकतीयों के शिलालेख मौजूद हैं। उनमें विमानों के निर्माण की चर्चा है। विमान का अभिप्राय सम्भवतः मन्दिरों के महाद्वारों पर बने हुए गोपुरों से है। ऐसे निर्माण भी पाये जाते हैं, जिनमें कोंडपर्ती बिलकुल ऊपरी भाग में हैं।

विद्या की व्यापकता

काकतीय काल में, पूर्ववर्ती युग की ही तरह, अनेक प्रान्तों में कला-शालाएँ अर्थात् कालेज थे। उन विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ वेदों, संस्कृत-काव्य-ग्रन्थों, न्याय-मीमांसा आदि शास्त्रों की शिक्षा भी दी जाती थी। विद्यार्थियों को भोजन मुफ्त दिया जाता था। आज-कल के वाडी रेलवे जंकशन के आस-पास नागवायी (वर्तमान नागाय) पर एक बड़ा-सा विद्यापीठ था। गोलकीमठ भी सब-के-सब विद्या-केन्द्र

ही थे। राजा, धनी और भक्तजन सब-के-सब विद्या-संस्थाओं का पोषरण करते थे।

आज भी पूरे आन्ध्र प्रदेश में वर्णमाला को 'ओनमालु' कहा जाता है। आन्ध्र देश के अन्दर शैव मत के प्राबल्य का यह भी एक प्रमाण है। यह सिद्ध है कि शैवों के षडक्षरी मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' से अक्षराभ्यास आरम्भ हुआ करता था। उत्तर भारत और केरल में 'श्री गणेशाय-नमः' के साथ विद्यारम्भ होता है। परन्तु आन्ध्र और कर्णाटक के अन्दर 'ॐ नमः शिवाय'[1] के साथ 'सिद्धम् नमः' भी जोड़ दिया जाता है। पहले यहाँ जैन-धर्म का प्रचार था, इसी कारण कदाचित् जैनी 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' के मन्त्र के साथ विद्याभ्यास करवाते थे। कविवर क्षेमेन्द्र ने अपनी रचना 'कवि कण्ठाभरणम्' में वर्णमाला को विचित्र रूप में श्लोकबद्ध किया है। पहला श्लोक है—

ॐ स्वस्त्यंकस् स्तुमः सिद्धमं तर्याद्यमितीप्सितम्,
उद्यदूर्जपदम् देव्या ऋ ॠ लृ लॄ नि गूहनम्।

अन्त में कहा है :

एतान्निमः सरस्वत्यैयः क्रियामातृकाष् जपेत् ॥

ऊपर के श्लोक में 'स्तुमः सिद्धम्' शब्द विचार करने योग्य हैं। क्षेमेन्द्र कश्मीरी था। विशेषज्ञों का मत है कि कश्मीरी शैव-सम्प्रदाय और तमिल शैव-सम्प्रदाय में अन्तर है। प्राचीनकाल में भारत-भर में विद्यारम्भ संस्कार 'ॐ नमः शिवाय' अथवा 'ॐ स्वस्त्यंकम् स्तुमः सिद्धम्' अथवा केवल 'स्तुमः सिद्धम्' से होता होगा वही 'स्तुमःसिद्धम्' आन्ध्र देश में 'नमः सिद्धम्' हो गया है। ऊपर के विषय से तो यही सिद्ध होता है।

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में सूचित इस विषय को लेकर एक सज्जन ने किसी साहित्यिक सभा में भाषण देते हुए आपत्ति उठाई कि

१. कुछ पीढ़ियों पहले बिहार में भी 'ॐ नमः सिद्धम्' से अक्षरारम्भ होता था और खड़िया पकड़ने को 'ओनामासी पढ़ना' कहते थे।

'सिद्धम् नमः' कहना व्याकरण के विरुद्ध है। मैंने तो लिखा ही था कि इस तरह कहना व्याकरण के नियमों के विरुद्ध है, और 'नमः सिद्धेभ्यः' होना चाहिए। मैंने यह भी लिखा था कि 'सिद्धम् नमः' जैनियों से प्रचलित हुआ है। 'गाथा सप्तशती' के दूसरे अध्याय का ६१ वाँ श्लोक यों है—

वर्णावलीमप्यजानंतो लोकालोकैः गौरवाभ्यधिकाः।
सुवर्ण कारतुला इव निरक्षरा अपिस्कंधैरुह्यंते ॥

इस पर जयपुर निवासी साहित्याचार्य भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री ने इस प्रकार व्याख्या की है :

"**जनैः 'ॐ नमः सिद्धम् सिद्धिरस्तु' इत्यारभ्याद्य वर्णमालामप्यजानंतो लोकाः गौरवाभ्यधिकाः परमादरणीया इति कृत्वा निरक्षरा अपि निर्विद्या अपि सुवर्णकारतुला इव स्कंधैरुह्यंते सादरं नीयंत इत्यर्थः।**" इन साहित्याचार्य तक ने कहा है कि लोग 'ॐ नमः सिद्धम्' के साथ अक्षराभ्यास किया करते थे। क्या आलोचक उस पर भी आक्षेप करेंगे! साहित्याचार्य उत्तर भारत के निवासी हैं। उनके मुख से 'सिद्धम् नमः' का निकलना उस प्रान्त के आचार-व्यवहार को सूचित करता है। इसी से हमने लिखा था कि 'सिद्धम् नमः' का प्रचार भारत-भर में समान रूप से था। यह भी हो सकता है कि 'शुक सप्तति' दक्षिण भारत की रचना होने के कारण साहित्याचार्यजी ने दक्षिण की प्रथा को दरसाने की दृष्टि से ही ऐसी व्याख्या की हो।

कहीं कुछ रूपान्तर हो या इसमें व्याकरण आदि का दोष भी पाया जाय तो चिन्ता की बात नहीं है। भले ही कोई शब्द अपाणिनीय हो, अपातंजलीय हो, जब देश-भर में वह गलत शब्द ही चल पड़े तब पाणिनीय पातंजलीय आदि सिद्धान्त उसे बदल नहीं सकते। ज्यों-ज्यों भाषा बदलती है वार्तिक और भाष्य भी बदलने पड़ते हैं। भाषा किसी के नियमों से कदापि बँधी नहीं रह सकती। इस नाते हमें 'सिद्धम् नमः' को सही मानना पड़ता है। ऐसी बला से हमारी सन्तानों का भी पाला पड़ा ही है!

काकतीय राज्य-काल में आन्ध्र के अन्दर कई महान् कवि और प्रकांड विद्वान् हो गए हैं। तिक्कना सोमयाजी, केतनँ, मारनँ, मंचेनँ, गोनॅबुद्ध, पाल्कुरिकी सोमनाथ, भद्र भूपाल, राविपाटि तिप्पन्नँ, नाचनँ सोमुड्ड, भास्कर, मल्लिकार्जुन पंडिताराध्य आदि सभी उसी युग के हैं। उसी प्रकार संस्कृत में भी उच्चकोटि के विद्वान् मौजूद थे। कवियों के सम्बन्ध में अधिक लिखने लगें तो यह प्रकरण ही 'कवि चरित्र' बन जाय! अतः इसे यहीं तक समाप्त करते हैं।

चित्रकारी

हमारे पूर्वजों में जो कला-दृष्टि थी, वह अब हममें पाई नहीं जाती। साधारण लोटे पर भी यदि तोते आदि का चित्र न होता तो वह मुञ्ज लोटा कहा जाता था। चित्रित आँचल के बिना साड़ी या धोती का पहनना अमंगल माना जाता था। घर की दीवारों पर दोनों ओर रंग-बिरंगे चित्र उरेहे जाते थे। दरवाजों की चौखटों पर सुन्दर चित्रकारी होती थी। कपड़ों पर बेल-बूटों तथा चित्रों की रँगाई होती थी। धनिक वर्ग के लोग चित्रकारों से सुन्दर चित्र बनवाते थे। काकतीय युग में चित्रकारी को जन-साधारण में अच्छा सम्मान प्राप्त था। आँगन में सवेरे छिड़काव के बाद घर की बहू-बेटियाँ रंगोली से सुन्दर चित्र बनाती थीं। (दक्षिण भारत में यह प्रथा अब भी है।) राजा प्रतापरुद्र की प्रेमिका माचल देवी ने अपने मकान में एक चित्रशाला बना रखी थी।

(पद्य) **"आँगन में चन्दन का छिड़काव है। कश्मीरी केशर तथा उज्ज्वल रंगोली से उस पर चित्र अँके हैं। द्वारों पर कमल के तोरण बँधे हैं।"[1]**

"क्यों? इसलिए कि "माचल् देवी चित्रशाला में प्रवेश कर रही है! पुण्याहवाचन का समय है।"

वहाँ उन सुन्दर चित्रों का भी वर्णन दिया गया है। दाफकावन के

1. 'क्रीड़ाभिरामसु'।

शिव-पार्वती, कृष्ण-गोपिकाएँ, अहल्या-शाप-विमोचन, तारा-चन्द्र, मेनका-विश्वमित्र आदि चित्र 'मय्यर' से बनाये जाते थे। तमिल भाषा में "मैर" बालों को कहते हैं, "मय्यर" बालों का बना ब्रश हो सकता है। एकाग्रनाथ ने लिखा है कि वरंगल नगर में चित्रकारों के १५०० घर थे। वेश्याओं को यदि एक विशेष प्रकार के ही चित्र पसन्द हों तो यह कोई आवश्यक नहीं कि वही दूसरों को भी हों। लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चित्र बनवाते थे।

"हे वैश्यराज्य, देखिये उस त्रिशूल वाली लाठी के पास जो चूने का चबूतरा बना है उस पर शील ब्रह्मनायुडु आदि सैनिक वीरों के चित्र अंकित हैं।"[1]

'कर्दमद्रव', 'मषीरस', 'हरिदल', 'धातु-राग' इत्यादि रंगों से तूलिका अर्थात् कूची द्वारा चित्र उतारे जाते थे। (काशी खंड १-१२३)।

दस्तकारी

तेलुगु-प्रान्त प्राचीन काल से बारीक मलमल के लिए प्रसिद्ध है। मछलीबंदर (मचिली-बंदर), जिसे अंग्रेजों ने मसूलीपट्टम का नाम दिया है, मसूला नाम की बारीक मलमल की बुनाई का केन्द्र था। अंग्रेजी भाषा में मलमल के लिए प्रयुक्त "मसलिन" शब्द इसीसे बना है। पाल्कुरिकी की सोमनाथ का विवरण पढ़ने पर हमें चकित हो जाना पड़ता है कि उन दिनों यहाँ कितने प्रकार के कपड़े तैयार होते थे :

"वेंजावलि (यु), जयरंजि (यु), मंचु
पुञ्जं (बु), मणि पट्टु, भूतिलकम् (बु),
श्री वन्नियं (यु), महा चीनी चीनिमु (नु),

---

१. क्रीड़ाभिरामम् । ('पल्नाटिवीरचरित्रम्' में श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण भगवान् की कथाओं को सूचित करने वाले चित्रों के लाये जाने का प्रसंग है। इससे सिद्ध होता है कि आन्ध्र में चित्र-लेखन की कला और भी प्राचीन है। 'पल्नाटिवीर चरित्रमु,' पृ० १२)

भावज तिलकमु (बु), पच्च (नि) पट्टु,
रायशेखर (मुनु) रायवल्लभ (मु),
वायुमेघमु, गजवाळ बु गंड
वडमु, गावुलु, सरिपिट्टु (नु), हंस
पडीयु, वीणावलि पल्लड वट्टी,
वारणासी (यु) जीकुआयु, किंदोगरु
गौरिगनयमुनु, क्षीरोदकमु (बु),
पट्टु (नु) रत्नमु (बु), पट्टु (नु) संकु
पट्टु (नु), मरकत-पट्टु, पोंबट्टु,
नेरपट्टु, वेलिपट्टु, नेत्रं (बु) पट्टु,
(मरि) तवराजमु (बु), मांदोळरवि (यु) !"[1]

पट्टु का अर्थ है 'रेशम'। उन दिनों कई प्रकार के रेशमी कपड़ों का प्रचार था। और भी बीसियों नाम कपड़ों के गिनाये गए हैं।

त्रिपुरांतक मन्दिर में भगवान् के सामने का ध्वज-स्तम्भ पंच-धातु का बना हुआ था। लोहा, पीतल, ताँबा, काँसा और हेम (सोना), ये पाँच धातुएँ उसमें मिलाई गई थीं। ब्रह्मनायडु ने उसकी अर्चना की थी।[2] लाख से गुड़ियाँ बनाने का काम बहुतायत से होता था। नाचना सोमड्ड ने इन पुतलों का वर्णन करते हुए कहा है:—"स्वर्ण वर्ण के पुतले फूले पलास के समान प्रतीत होते थे।"[3] 'जंत्र' (यंत्र) के पुतले भी बनते थे। 'यंत्र' का मतलब यही हो सकता है कि ये पुतले नचाये जाने के लायक हो सकते थे या नचाये जाते थे।[4] वरंगल के 'मैला बाजार' में 'सुसरभेत्'

१ 'बसव-पुराण', पृष्ठ ५६। (कोष्ठकों में बन्द अक्षर तेलुगु भाषा की अलामतें हैं। उन्हें हटा देने पर पूरे पद्य में सिर्फ कपड़ों के नाम ही नाम रह जाते हैं।)

२. 'पल्नाटिवीर चरित्रमु', पृष्ठ ६।

३. 'उत्तर-हरिवंशमु', पृष्ठ १८०।

४. ,, ,, अध्याय ५, पृष्ठ २१२।

कहलाने वाली औषधि या पाउडर-जैसी वस्तु बिका करती थी ।[1] उसे हाथी-दाँत के डब्बे में बन्द करके बेचा जाता था। कदाचित् हाथी-दाँत का काम अत्यधिक मात्रा में होता था। यहाँ तक कि मालें, मादिगें (चमार, पासी) आदि लोग भी हाथी-दाँत की बनी चीजें खरीदा करते थे। युद्धोपयोगी विविध शस्त्रास्त्र युद्ध-भेरी, नगाड़े, नाच-गाने के बाजे-गाजे, स्त्रियों गहने-जेवर, भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग आदि बनाने वालों तथा धनी-मानी उनके द्वारा जीवनोपार्जन करने वालों की संख्या भी काफी बड़ी थी। पालकियों की सवारी करते थे। पालकियाँ बनानेमें बढ़ई अपनी कारीगरी का सुन्दर प्रदर्शन किया करते थे।

वरंगल में जो मट्टेवाड़ें बस्ती है उसका यह नाम इसलिए पड़ा कि उस सारे मुहल्ले में मट्टे अर्थात् पैर की उँगलियों के छल्ले बनाने वाले बसते थे। वरंगल में ऊन के सुन्दर कम्बल तैयार हुआ करते थे। मुसलमानों ने इन 'रत्न कम्बलों' की सारी कारीगरी भी हमसे छीन ली।[2] उसी को उन्होंने बाद में कालीन की दस्तकारी में बदल दिया और उसे तरक्की दी। आज भी कालीन की यह कला वरंगल के अन्दर मुसलमानों के ही हाथों में है।

महारानी रुद्रम्म देवी के शासन-काल में जेनेवा निवासी मार्कोपोलो भारत आया था। उसने वरंगल राज्य की विशेषताओं के सम्बन्ध में लिखा है—**"काकतीय राज्य में बारीक तथा उत्तम कोटि के कपड़े बुने जाते हैं। वे बड़े महँगे होते हैं। यह कपड़ा सचमुच मकड़ी के जाले का-सा होता है। संसार में ऐसे कोई महाराजे न होंगे, ऐसी कोई महारानियाँ न होंगी, जो इसे पहनने के लिए लालायित न हो उठें।"**

निर्मल की तलवारें मशहूर थीं। आदिलाबाद जिले (हैदराबाद) में स्थित निर्मल के समीप कूनॅसमुद्रम् में यह तलवारें बनाई जाती थीं।

१. **'क्रीड़ाभिराममु'।**

२. **हा-हा नृपाल सिंहासनाधिष्ठान रत्नकम्बलकाभि रामरोमॅ (क्रीडाभिराममु)।**

निर्मल से तलवारें और लोहे के सामान दमस्कस (दमिश्क) तक जाया करते थे।

जन साधारण के लिए सुविधाएँ

वरंगल के राजाओं ने अपनी प्रजा की भलाई का सदा ध्यान रखा। प्रजा-पीड़न का कहीं कोई नाम-निशान नहीं मिलता। हो सकता है कि वीर-शैवों के उग्रपंथी प्रचारकों के कारण अन्य धर्मों के अनुयायियों को थोड़ा-बहुत कष्ट रहा हो, किन्तु राज्य की ओर से प्रजा के लिए औषधालय और पाठशालाएँ थीं। स्त्रियों के लिए प्रसूति-गृह भी बने हुए थे। वेद-वेदांगों की शिक्षा के लिए कलाशालाएँ अथवा कालेज खोल दिये गए थे। सम्वत् ११८३ (शालिवाहन) में रुद्रमे देवी ने वेलगपूडि नामक एक गाँव को जनहित के लिए दान दे डाला था। वहाँ पर एक मठ और एक धर्मसत्र बनवाया गया था। सत्र में रसोई बनाने के लिए छः ब्राह्मण लगे हुए थे। प्रजा के स्वास्थ्य की देख-भाल के लिए एक कायस्थ वैद्य नियुक्त किया गया था। गाँव की रक्षा के लिए दस वीरभद्र अथवा वीर-भट रखे गए थे। इक्कीस तलार या प्यादे भी थे। इन सिपाहियों को 'वीरमुष्टि' कहा जाता था। वीरमुष्टि जाति आज भी पाई जाती है। ये लोग जो नीच माने जाते हैं, और बनियों से माँग-चाहकर गुजारा करते हैं। लेकिन शब्दार्थ पर विचार करके देखिये तो पता लगता है कि वीर+मुष्टि=वीरता के लिए मुट्ठी-भर दाना दिया जाना, और वह भी बनियों द्वारा दिया जाना। वास्तव में ये लोग बाजार में रात के समय पहरा देने के लिए नियुक्त किये जाते थे। बस्ती के अन्दर मार-पीट आदि फौजदारी या कोई अपराध करने पर गाँव के अधिकारी उन्हें दण्ड दिया करते थे। अपराधी को कोड़े लगाये जाते थे या और कोई शारीरिक दण्ड दिया जाता था। हाथ-पैर, यहाँ तक कि सिर भी कटवा दिये जाते थे।[1]

---

१. मल्कापुर शासन (शिलालेख), जॉ० ए० हि० रि० सो० संख्या ४, पृष्ठ १४७-१६२।

राजा, सामन्त, सरदार और धनिकों ने बहुत-से तालाब बनवाये। इस प्रकार वे खेती की उन्नति में सहायता करते थे। गणपति देव के सेनानी रुद्र ने पारवाल का तालाब बनवाया। कार-समुद्र को कार-चमूपति ने, चौड़-समुद्र को चौड़-चमूपति ने, सब्बि-समुद्र, गौर समुद्र और कोमटी समुद्र को नामिरेड्डी ने और एरका-समुद्र को एर्रक्कसानम्माओं ने बनवाया। इनके अलावा चितल समुद्र, नामासमुद्र, विश्वनाथ समुद्र आदि भी बनवाये गए थे। इन तालाबों के जल की सिंचाई से गन्ने और पान की काश्त भी होती थी।[1] जगत्-केसरी तालाब भी इन्हीं दिनों बनाया गया था। (दक्षिण में तालाब बहते नालों, नदियों आदि को रोककर बड़े-बड़े बाँध से बनाये जाते हैं, तालाबों में पानी कई-कई मील तक फैला रहता है। अनु०।)

अम्बादेव नामक एक कायस्थ अधिकारी ने जमीनें नापकर उनके लिए कर मुकर्रर किये थे। जमीन की नाप के लिए 'पेनुम्-वास मान-दण्ड' की माप प्रसिद्ध है।[2]

काकतीयों ने सोने और चाँदी के सिक्के ढलवाये थे। यह कहना कठिन है कि आज के सिक्कों के साथ उन सिक्कों का अनुपात क्या था! एकाग्रनाथ ने बार-बार स्वर्ण निष्क की बात कही है। प्रोलराजु के काल में तौल का प्रमाण इस प्रकार था :—

१२० रत्ती = १ तोला

१२० तोला = १ वीसा

१२० वीसा = १ बारुवा

वरहँ का सिक्का भी उसी समय चला था। इसका 'वरहँ' नाम वाराह-लांछन के कारण पड़ा था। एक कर्णाटकी वेश्या ने अपना शुल्क 'शाटी हाटकनिष्क' अर्थात् एक साड़ी और सोने का एक सिक्का

---

१. मल्कापुर का शासन (शिलालेख)।

२. ,, ,, (तेलंगाना शासन-ग्रन्थमु)।

बतलाया था।[१] एक और वेश्या ने सोने के दो सिक्के माँगे थे। नागुल-पाडि के शिलालेख में 'वरहा' की चर्चा है। जमीनें रेहन रखने में 'रूका' (रुपया) का उपयोग होता था।

"पाँच सौ 'रूका' के कर्ज के बदले में (पद्य) जोन्नें गड्डे अग्रहार (इनामी ग्राम) रहन रखा।"[२]

वरंगल के 'खाँ-साहब-बाग' में जो शिलालेख है, उसमें चिन्नामुनु (छोटे सिक्कों) की बात दो-तीन, बार कही गई है। सबसे छोटा सिक्का शायद 'तारा' कहलाता था। एक पिच्चकुट्ला भिखारी भीख माँगते हुए कहता है : "धर्मात्मा लोगो, 'तारा' दान करो !" साधारण व्यवहार में 'माडा' का चलन था।

पलनाडि के बालचन्द ने कहा है कि—

"हमारे कुल में ओलिमाडा का चलन है !"

'ओलि' कन्या-शुल्क को कहते हैं। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि उन दिनों वेलमें जाति के अन्दर 'ओलि' चलती थी। मखमल मुसलमानों की दस्तकारी थी। आन्ध्र में मखमल[३] अच्छा चल चुका था।

अनाज के नापने में कुञ्चम, (१ मन), इरुसा (२ मन) और तूम (४ मन) चलते थे।[४]

व्यापार

काकतीय युग में व्यापार की अच्छी उन्नति हुई। राज्य के अन्दर पूर्वी द्वीपों और पाश्चात्य देशों से माल आता था। बन्दरगाहों पर तट-कर लिया जाता था। हर बन्दरगाह पर भिन्न-भिन्न करों की दरें सबकी जानकारी के लिए शिलालेखों के रूप में खुदवाकर लगवा दी गई थीं।

१. 'पण्डिताराध्य चरित्र', (भाग २, पृष्ठ ३०७)।

२. 'क्रीडाभिरामम्'।

३. मखमल्लुगुड्डलु, 'पाल्नाडिवीर-चरित्र', पृष्ठ १७।

४. 'बसव पुराणमु', पृष्ठ १४९-१५२।

आन्ध्र में मोटुपल्ली और मछली बन्दर (मसूली पट्टम) प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। इन बन्दरगाहों पर अरब, ईरान और चीन के देशों से आया हुआ माल उतरता था। मोटुपल्ली में जो शिलालेख है उससे प्रतीत होता है कि अन्ध्र देश के अन्दर कपूर, चन्दन इत्यादि सुगंधित सामग्री बाहर से आया करती थी। हाथी दाँत, मोती और रेशमी कपड़ों का आयात अधिक होता था। वह शिलालेख गणपति देव का लगवाया हुआ है।

गाँवों और कस्बों में भी चुङ्गी ली जाती थी। वरंगल के अन्दर मैला बाज़ार में भी करों की दर लिखी हुई थी। जिस स्थान पर यह शिलालेख है वह आज खाँ साहब का बाग कहलाता है। शिलालेख से प्रतीत होता है कि मैला बाजार में सभी तरह का माल बिकता था। पान-सुपारी, भाजी, तरकारी, नारियल, केले, आम, इमली, तिल, गेहूँ, मूँग, धान, ज्वार, तेल, घी, नमक, गुड़, सरसों, काली मिर्च, राँगा, सीसा, ताँबा, चन्दन, कस्तूरी, रेशम, हल्दी, प्याज, लहसुन, अदरक आदि सभी चीजें वहाँ बिकती थीं। लेख है कि "एक स्त्री चिल्ला-चिल्लाकर मदनमस्त का तेल बेच रही थी।"[1]

मनोरंजन

नन्नय भट्ट ने तेलुगु देश की जन-भाषा को भी और पूर्व कवियों की कविता-पद्धतियों को भी पर्याप्त रूप से रूपान्तरित कर दिया। जान पड़ता है कि तेलुगू के प्राचीन कवि मध्याक्षर, द्विपद, त्रिपद, षट्पद, रगड़ जैसे सरल छन्दों में कविताओं की रचना करते थे। जन-साधारण उन्हें चाव से सुनता और स्वयं भी गाया करता था। नन्नय के बाद दो सौ बरसों के भीतर-ही-भीतर द्विपद का मान घट गया। इसीलिए शायद पाल्-कुरिकी सोमनाथ ने द्विपद की श्रेष्ठता की विशेष रूप से चर्चा की है :

"ऊँचे-ऊँचे गद्य-पद्य की अपेक्षा
सरल "जानुतेलुगू" (जनतेलुगू) में कहने से

---

१. 'मखुमल्लुगुड्डलु', पल्नाडि, पृष्ठ १४।

सर्व साधारण भली भाँति समझ सकेगा।

इसलिए मैं पूर्णतया द्विपदों की ही रचना करूँगा।"[१]

उनके समय और उनसे पहले लोगों के अन्दर तरह-तरह के गीत-प्रकार, जैसे भ्रमर-पद, पर्वत-पद, शकर-पद, निवालि-पद, वालेशु-पद, चन्द-पद इत्यादि प्रचलित थे।[२] धीरे-धीरे ये सारे पद लुप्त हो गए और इसके कारण जनता में विद्या का प्रचार और विद्या-प्राप्ति के साधन कम हो गए। कारण, जनता में गीतों को ही अधिक महत्त्व प्राप्त था। वह स्वयं अनेकों प्रकार के गीत गा लिया करती थी।

"जगह-जगह लोग 'भक्तकूटों'[३] में
स्वयं पद रच-रचकर गाते सुनाते थे,
प्रस्तुतोक्ति, गद्य-पद्य काव्यमय
सांग या भाषांग या क्रियांग नाट्य
अभिनयन करते थे। चौपालों में
जुड़-जुड़कर, और कुछ नहीं तो फिर—
कूटने या काटने के पद ही गा लेते थे।
अथवा 'रोकटि-पाँट'[४] के 'पाडुद'।"[५]

'रोकटि-पाँट' आज भी तेलुगू में चालू है। कूटते-पीसते, खेत काटते और पानी सींचते हुए लोग अब भी ये पद गाया करते हैं। 'भक्तकूट' चौपालों और 'रोकटि-पाँट' अपढ़ जनता में आज तक जीवित हैं। यह बात समझने योग्य है।[६]

---

१. 'बसवपुराण', पृष्ठ ५।
२. 'पंडिताराध्य चरित्र', द्वितीय भाग।
३. अर्थात् भजन-मण्डलियों में।
४. 'रोकटि पाट'=मूसल के गीत।
५. पाडुद—पद।
६. 'बसवपुराणमु', पृष्ठ १२४।

और फिर—

"........'रोकटि-पॉट' बने है वेदों के स्वर
मानो हम शिव-भक्तों के घर आकर।"[१]

यहाँ पर कवि ने 'रोकटि-पॉट' को वेदों के समतुल्य मानकर उनके महत्त्व को ही जताने की चेष्टा की है।

नाचना सोमयाजी ने 'जाजर' गीत की बड़ी प्रशंसा की है—

"दूधिया चाँदनी में वीणाएँ लेकर
गातीं रमणीक पदों के गीत मनोहर,
ब्राह्मण-टोलों की सुघड़ रमणियाँ मृदु स्वर !
रसिकों-गुनियों को तो प्रिय हैं पद 'जाजर' !"

यह उद्धरण 'वसन्त-विलाप' से लिया गया है। पूर्व-सूरियों द्वारा उद्धृत वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। उक्त 'जाजर' क्या है, यह हमें कुछ भी मालूम नहीं। सन् १६५० ई० तक शायद हमारे पूर्वजों को इसकी जानकारी थी। 'बहुळाश्व चरित्र' में दामेर्लऽ वेंगळ भूपाल ने 'जाजर' शब्द का प्रयोग किया है, पर उससे हमें 'जाजर' का कुछ पता नहीं चलता। ब्राह्मण-टोलों में 'जाजर' गाने की बात कही है। इससे अनुमान हो सकता है कि यह गीत-प्रकार ब्राह्मण महिलाओं में अधिक प्रचलित रहा हो।

इस सिलसिले में जाजर के सम्बन्ध में दो बातें जान लेने योग्य हैं। कविवर श्रीनाथ ने 'जाजर' की जगह 'जादर' शब्द का प्रयोग किया है। अपनी उस कविता में वे कहते हैं :

"छक-छककर पिये वारुणी, दक्ष की वाटिका-वेदिका पर
चन्द्रिका में कनक-बीन झंकारती मोहिनी अप्सराएँ
उन भुवन-मोहिनी-मूर्ति-धर भीम-प्रभु के हृदय मोहती
मोदमय टेक के 'जादर-जादरमु' चर्चरी-गीत गायें।"[२]

१. 'बसवपुराणमु', पृष्ठ २१६।
२. 'भीमेश्वर-खण्डमु', ५-१०३।

नाचनें सोम ने ब्राह्मण-टोले में 'जाजर'-गीत गवाया था तो श्रीनाथ ने वेश्याओं द्वारा वीणा के साथ 'जादर' गवाया। चाँदनी रातों में यह गीत और भी आनन्ददायक रहा होगा। खेतों के अन्दर काम करते हुए मजदूरों के जाजर-गीत गाने का रिवाज तेलंगाना के कुछ जिलों के अन्दर अब भी है। वरंगल जिले के अन्तर्गत मान कोटा के एक सज्जन ने एक ऐसा गीत हमें लिख भेजा है :

"जाजीरि जाजीरि जाजीरि पापा[1]
जाजू खेलो चूड़ी की पापा
पूरब से आया रे भूरा सियार
पच्छिम से आया पहाड़ी सियार
यह सियार वह सियार खोद गये अयार
जोगय्या ने दिये थोड़े से ज्वार
खेती की हमने नदी-किनारे
बीस खण्डी ज्वार अगर खींच के मारा रे
उठा के पटका तो साठ खण्डी ज्वार
सब ले गया अप्पय्या सरदार
रेत-रेत छोड़ गया धड़ी-पँसेरी
भूसी भर पास रही, किस्मत में मेरी,
मिट्टी ही मन भर बाँटे हमारे
तुम्हीं कहो, दिन कैसे गुजारें
पीली-सी काँजी, सो भी अलोनी
दो जून खाके जिन्दगी ढोनी।
कडवी से सूखे तन-मन हमारे
टूटही खटिया पे लेटे गुहारें,
जाजीरि जाजीरि जाजीरि पापा !"

यह गीत किसानों की दुर्दशा की जीती-जागती तसवीर है। जमीन

१. पापा—प्यारा प्यारा।

भी अच्छी है, मिहनत की भी कोई कमी नहीं। बीज नहीं थे तो किसी साहूकार से कुछ ले आये। कर्ज पर। पैदावार तो खूब रही, पर लाभ क्या हुआ? साहूकार आये, सब उठा ले गए। किसानों के भाग्य में सदा भूख और नंग ही बदे हैं। पर ऐसी दशा में भी सर्व-हारा रैयत अपनी जाजरी गाकर सन्तुष्ट हो जाती है।

केतनें कवि ने 'मल्लें' नाम के किसी लोक-गीत का उल्लेख किया है:

"कल्लें (झूठ) बोलते हुए, मल्लें गाते हुए...."[1]

हो सकता है कि यह गीत उन दिनों प्रचलित रहा हो।

आन्ध्र-साहित्य में पुतली-नाच के उल्लेख प्राचीन काल से ही पाये जाते हैं। आन्ध्र की प्राचीन लोक-कला होते हुए भी पुतली का नाच अब महाराष्ट्रों के हाथ में चला गया है। 'पाल्नाडि-वीरचरित्रम्' में उल्लेख है: **"उसी प्रकार, जिस प्रकार पुतलियों को नचाने के लिए थामा जाता है।'** और नाचनें सोमयाजी ने उपमा दी है:

> **"....जिस प्रकार नचवैया पुतलियाँ नचा-नचा**
> **धरती पर ढेर किये देता है!"[2]**

आन्ध्र-साहित्य में पाल्कुरिकी सोमयाजी से लेकर तंजावर रघुनाथ राय तक के प्राय: सभी कवियों ने पुतली-नाच की चर्चा की है। पुतली-नाच का मतलब है चमड़े की पुतलियों का नाच। यह तो कहा नहीं जा सकता कि भारत के किन-किन प्रान्तों में चमड़े की पुतली के नाच का चलन था, परन्तु कर्णाटक और आन्ध्र में तो यह नाच प्राचीन काल से ही चला आया है। चारों तरफ से कपड़े की चार दीवारें खड़ी करके उसके अन्दर बाँस आदि लगाकर, सामने के पतले सफेद परदे पर, अन्दर की ओर से ये पुतले नचाये जाते हैं। तम्बू के अन्दर रोशनी के लिए मशालें जलाई जाती हैं। पुतलियों के हाथ, पैर, सिर, कमर,

१. 'दशकुमार-चरित्र'।
२. 'उत्तर-हरिवंशमु', पृष्ठ २८१।

गरदन आदि में सूत के डोरे बँधे होते हैं, जिन्हें संदर्भ के अनुसार खींचते-छोड़ते जाने पर परदे पर पुतलियाँ नाचा करती हैं। सुर-ताल के साथ कथा-गायन भी होता रहता है। बुद्धारेड्डी की 'द्विपद-रामायण' से दोहे सुनाये जाते हैं। पुतलियों को सूत की डोर अर्थात् सूत्र से नचाने के कारण नचवैयों को सूत्रधार कहा जाता था। संस्कृत-नाटकों में तो सूत्रधार मंच पर आकर, आने वाले विषय पर दो शब्द कहकर चला जाता है। किन्तु चमड़े के पुतलों के नाच में आदि से अन्त तक सूत्रधार का ही काम होता है। अतः नाटकों की अपेक्षा इन पुतलों के नाच के लिए ही 'सूत्रधार' शब्द पूरा चरितार्थ होता है। यह विषय विचारणीय है कि पुतलों के नाच वाले नाटकों के लिए सूत्रधार को लेकर नाट्य-विधान को तदनुसार सुधार लिया गया और नाटकों से ही यह शब्द पुतलों के नाच में पहुँचा।

चाम के पुतलों में रामायण, महाभारत के राम, लक्ष्मण, रावण, कुम्भकर्ण, बालि, सुग्रीव, हनुमान, अंगद, भीम, अर्जुन, कृष्ण आदि सभी पात्र विविध रंगों में रँग-रँगकर विधि पूर्वक बने होते हैं। आकार में कभी-कभी ये पुतले पोरसे-पोरसे-भर ऊँचे यानी आदमकद हुआ करते हैं। पुतले के परदे पर आते ही दर्शक यह समझ लेते हैं कि यह पुतला अमुक पौराणिक पात्र का अभिनय करेगा। इन पुतलों और इनकी पोशाकों के रंगों से प्राचीन वेश-भूषा का अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा की पोशाक कैसी होती थी, अथवा सवार या सिपाही किस प्रकार की वरदी पहनते थे। चमड़े की पुतली के नाच में बीच-बीच में हास्य का पुट भी होता है। परन्तु वह हास्य बहुत ही असभ्य होता है। शासकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। सिनेमा की असभ्यता-अश्लीलता के साथ-साथ इसे भी हटाने की चेष्टा होनी चाहिए।

आजकल मेलों के अन्दर जो बड़े-बड़े झूले गोल चक्करों में घूमते हुए देखे जाते हैं, वे अपने प्राचीन आदर-सम्मान को आज भी बनाये हुए हैं। तेलुगू भाषा में इसे 'रंकु राट्नम्' कहा जाता है। बढ़ई इन्हें

बनाते तो हैं ही, पर ऐसा लगता है कि इन भूलों का खेल भी वही करते थे :

> चटिल-जटिल संसृति में जीव-घट
> चक्र-कर्म-पटु-परिवर्ती-भ्रमणों के समान
> किसी कील पर सुतार
> वक्र चक्र 'रंकु राट्नम्' को नचाता है ![1]

कोलाटम यानी गिल्ली-डंडों का नाच—कोला के अर्थ हैं छड़ या डण्डा, आटा के माने हैं खेल। हाथ-भर के छिले डण्डे दोनों हाथों में लेकर, एक-दूसरे के डण्डों को बजाते हुए चक्राकार में घूमने के खेल को 'कोलाटम' कहते हैं। सोमयाजी के कोलाटम के साथ प्रेरणी, गोंड्ली, प्रेंखण आदि नाम भी गिनाये गये हैं।[2] गोंडली गर्भ-नृत्य को कहते हैं और प्रेरणी घड़े के नाच को। गोंड जाति के इस खेल को, जिसमें खिलाड़ी कुण्डलाकार वृत्त में नाचते हुए घूमते हैं, चालुक्य राजा सोमेश्वर ने अपने राज्य के अन्दर खूब ही प्रचलित किया था। आन्ध्र जाति के दो खास खेल हैं। एक उप्पनपट्टे, और दूसरा गिल्ली-डाँडी। "उप्पनपट्टे (नमक चोर) खेलते समय यादव उप्पु (नमक) लाया करते हैं।"[3] आज भी यह खेल खेला जाता है। हैदराबादी उर्दू बोली में इसे 'लोन-पाट' कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्र-तट से नमक उठाकर राज्य-कर तथा चोरों आदि से बचाकर घर तक नमक पहुँचाने में जो कठिनाइयाँ पड़ती थीं, उन्हींको खेल का रूप दिया गया है।

गिली-डाँडी को उत्तर में भी बच्चे खेलते रहते हैं। यह तो मानो हमारा देशी 'क्रिकिट' है। यह खेल डंडे की सहायता से लकड़ी के एक छोटे टुकड़े को जमीन से उछालकर मारने का खेल है। आन्ध्र में इसका खूब ही प्रचार था। बिल्लंगोवि, दंडु-गुली, चर्रागोने, चिल्लँगोडे, सब इसीके

१. 'पाल्कुरिकी बसवपुराणमु', पृष्ठ १०२।
२. नाचनें सोम, 'उत्तर हरिवंशमु', पृष्ठ १७२।
३. नाचनें सोम, 'उत्तर हरिवंशमु', पृष्ठ १५८।

नाम हैं। दस-दस बारह-बारह की टोलियाँ बनाकर बड़े-बड़े मैदानों में सयाने लोग भी यह खेल खेला करते थे। डंडे की चोट खाकर गिल्ली आकाश में उड़ती हुई सौ दो सौ गज दूर जा पड़ती थी। अधिक चालू पद्धति यह है कि एक छोटी लकड़ी को दूसरी बड़ी लकड़ी से मारा जाता है और फिर बड़ी लकड़ी से छोटी लकड़ी तक पहुँचने तक बड़ी लकड़ी से नापते जाते हैं। इस नाप में एक, दो कहने के बजाय कन्नु, रेंगचि, भूल-मुञ्जि, गेरगेरा, इस प्रकार सात तक गिनते हैं।[1] कहा नहीं जा सकता कि सात की संख्या तक की गिनती को इसी एक खेल में क्यों बदल दिया गया है। कवि बुद्धघोष लगभग १४०० वर्ष पूर्व का है। उसने अपने काव्यों में 'घटिका खेलनम्' का वर्णन किया है। उसीने अपनी व्याख्या में छोटी लकड़ी को बड़ी से मारने को 'घटिका' कहा है। इससे प्रतीत होता है कि अन्य प्रान्तों में भी यह खेल प्रचलित है। महाभारत में भी कौरव-पांडवों ने छोटी लकड़ी को बड़ी से मारकर खेला था। महाभारत में इसका वर्णन इस प्रकार है :—

"जिस समय द्रोणाचार्य ने पहली बार हस्तिनापुर में प्रवेश किया उस समय कौरव-पांडव शहर के बाहर गेंद खेल रहे थे। वह स्वर्ण गेंद जाकर एक कुएँ में गिर पड़ी।" यह तो 'आन्ध्र महाभारत' का पाठ है। (आदि पर्व—५-२०६)। मूल संस्कृत पाठ यह है :

क्रीडंतो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन्मुदा।
पपात कूपे सा वीटा तेषाम् वै क्रीडतान्तदा॥

'वीट' शब्द का अर्थ महाभारत की टीका में यों दिया गया है :

"वीटया यावाकारेण प्रादेशमात्रकाष्ठेन यत् हस्तमात्र दंडेन उपर्यु-परि कुमारा प्रक्षिपंति।" अर्थात् बीते-भर की लकड़ी को हाथ-भर की लकड़ी से मारने का खेल।

मराठी साहित्य के इतिहास का कहना है कि :

---

१. पूरबी हिन्दी में गिल्ली-डंडे की सात तक की गिनती यह है : 'एँड़ी, दोंड़ी, तिलिया, चौंड़ी, चम्भा, सेख, सुद्दे'।—संपा० हिं० सं०।

"पहले महाराष्ट्र में चिल्लागोडे का खेल नहीं था। अब इसे वीटि दंडु या बीटाडंडा कहते हैं। खेलते समय मराठी बच्चे साल तक की जो गिनती गिनते हैं, वह तेलुगू गिनती है। यह कैसे हुआ ? सन् १३५० ई० में जब महाराष्ट्र में भारी अकाल पड़ा था, तब लाखों महाराष्ट्री, आंध्र, कर्णाटक, तमिल आदि दूसरे प्रान्तों में चले गए थे। साथ में उनके बाल-बच्चे भी थे। अकाल मिटने पर वे अपने प्रान्त को लौट आए। उस समय जो महाराष्ट्री आन्ध्र में गये थे, वे जब अपने प्रान्त को लौटे, तब अपने साथ आन्ध्र-देश के खेल-कूद, गीत-गान आदि भी लेते आए। आज भी बच्चों में 'चिल्लन गोडे' और बच्चों के तेलुगू गीत वहाँ चालू हैं।"

अत्तीवंच तिगा, दूगा, सत्ता, दस,
चौगा, वंचि, चव्वां चीरै, दित्तिग
इट्टु ग, बन्नलु........................

('उत्तर हरिवंशमु', अध्याय ३, पृष्ठ १२०-१२१।

इस सम्बन्ध में पृष्ठ १०६ से १२६ तक चौपड़ का ही वर्णन दिया गया है। परन्तु इन पद्यों में प्रयुक्त अधिकांश शब्दों के अर्थ नहीं जाने जा सकते।)

हम यह कह सकते हैं कि यह खेल आंध्र में जम चुका है। अब भी ब्राह्मण, स्त्री-पुरुष इसे दो पासों (पाचिकर) से खेला करते हैं। अन्य जाति वाले छः या सात कौड़ियों से खेलते हैं। इसे 'पच्चीसी' कहते हैं। पच्चीसी उर्दू अथवा हिन्दी शब्द है। ऐसा लगता है कि आंध्र में आकर मुसलमानों ने इस खेल को अपनाया और उसे अपने नाम दिये। फिर उन्हीं नामों को आंध्रों ने अपना लिया। पच्चीसी के नाम के साथ दस, बारह, पच्चीस, तीस आदि संख्या-नामों को भी ज्यों-का-त्यों अपना लिया। यह मुसलमानी खेल नहीं है। खेल के आरम्भ में कविवर सोमयाजी ने 'हरिवंश' में चौपड़ का वर्णन करते हुए लिखा है कि सबसे पहले चौपड़ के चित्र को लकड़ी के तख्ते पर खड़िया मिट्टी-जैसे नरम पत्थर से खींचते थे। फिर 'स्वर' देखते थे कि सूर्य नाड़ी चल रही है अथवा चन्द्र नाड़ी।

खेल आरम्भ करने से पहले बाजी भी बढ़ते थे। रुक्मिणी तथा श्रीकृष्ण भगवान् ने इसी प्रकार चौपड़ खेला था। इस खेल में जो संकेत बरते गए हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं। दूगा, तीगा, सत्ता, बद्रा आदि संख्या-नाम बरते गए हैं। 'शब्द रत्नाकर' में बद्रा का अर्थ 'बारह' दिया है। पाँसे दो होते हैं। दोनों पाँसों के चार-चार पहलू होते हैं। हर पहलू पर छै-छै, चार-चार, तीन-तीन या एक-एक अर्थात् आठ जोड़ों पर अठाईस बिन्दियाँ होती हैं। उन पाँसों को हथेली पर तौलकर फेंकने पर पाँसों के पहलू के अनुसार १२, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, २ के नौ-नौ पाँसे पड़ जाते हैं। उक्त अत्तीवंच पद्य में जो गिनती गिनाई गई है उसके अर्थ इस प्रकार होंगे : अत्तीवंच (अतीवंच-तीवंच) = चार, तीगा = तीन, दूगा = दो, सत्ता = सात, तच्चौकँ = आठ, वंचि = एक, तच्चौक वंचि = आठ-और एक नौ, चौवंच = पाँच, इरँदु = दस, इत्तिगा = छै।

अब हम देखें कि यह खेल खेला कैसे जाता है। खेलने के पाँसे हाथीदाँत, लकड़ी या धातु के बने होते हैं। चौकोर और कुछ लम्बे से। हर पाँसे पर चारों ओर नीचे दिये चिह्न बने होते हैं:—

इस प्रकार हर पाँसे पर १, ३, ४, ६ के चिह्न होते हैं। पासों को हथेली पर लेकर जमीन पर छोड़ देते हैं ऊपर की ओर पड़े हुए चिह्नों की संख्या को गिनकर चौपड़ या चौसर पर गुट्टियों (कुकड़ियों) को बढ़ाया जाता है। पच्चीसी को, जिसे कौड़ियों से खेला जाता है, पाँच कौड़ियों के चित पड़ने पर पच्चीस और छै कौड़ियों के चित पड़ने पर तीस कहा जाता है। और पच्चीस या तीस घरों को आगे बढ़ाकर गुट्टी (कुकड़ी) बिठा दी जाती है। किन्तु चौसर में जितनी गिनती निकलती है उतने ही घर आगे बढ़ते हैं। इसमें गुट्टी (कुकड़ी) जोड़ी से चल सकती

है। तब प्रतिपक्षी की गुट्टियाँ (कुकड़ियाँ) भी जोड़ी से ही आकर उन्हें मार सकती हैं। बाकी सभी बातों में पच्चीसी और चौसर दोनों एक ही समान होते हैं। चौपड़ का चित्र देखें। पच्चीसी भी इसे कहते हैं। इसमें प्रत्येक पक्ष में आठ गुट्टियाँ (कुकड़ियाँ) होती हैं। पहचान के लिए दोनों के अलग-अलग रंग होते हैं।[१] मार से बचकर चारों ओर के घरों से होते हुए अपने बीच के खाने से चौसर के बीच में पहुँचने पर और इस तरह सारी गुट्टियों को केन्द्र के घेरे में ले जाने पर जीत होती है। नाचनें सोमयाजी ने जिस खेल का वर्णन किया है, वह तेलुगू-देश में प्रचलित रहा होगा। कर्णाटक में भी सम्भवतः वही रहा हो। आजकल आन्ध्र वाले इसे जिस ढंग से खेलते हैं, वह ढंग सोमयाजी के वर्णन से लगभग मिलता-जुलता है। तमिलनाड का खेल कुछ भिन्न है। वहाँ भी इससे मिलता हुआ एक खेल होता है, जिसे 'करल' कहते हैं। उसमें तीन पीतली पाँसे होते हैं। पहले पर एक चिह्न, दूसरे पर दो, और तीसरे पर तीन होते हैं। गुट्टियाँ या कुकड़ियाँ छै-छै होती हैं। एक खिलाड़ी दाएँ से खेलता है तो दूसरा बाएँ से।

वैदिक-काल अथवा महाभारत-काल का चौपड़ इससे भिन्न होता था, वेदों और पुराणों के अन्दर इस खेल को 'अक्ष खेलनम्' कहा गया है। यह नाम इसलिए पड़ा कि पाँसों में जो चिह्न होते थे उनकी आकृति आँखों की-सी होती थी। अक्ष का शब्दार्थ है आँख। उस समय अखरोट की लकड़ी के पाँसे बनते थे। वेदों के अन्दर कवष एलूष नामक शूद्र ऋषि ने उस समय व्यापे हुए इस खेल का जोरदार विरोध किया है, क्योंकि उस समय यह खेल इतना बढ़ गया था कि एक व्यसन ही बन गया था।[२]

वेद-काल और पुराण-काल में पाँसे के चारों ओर क्रम से १, २, ३

१. दो की जगह चार खिलाड़ी हों तो, प्रत्येक की चार-चार गुट्टियाँ होती हैं। उनके रंग भी चार होते हैं।—सम्पा० हिन्दी संस्करण।
२. 'ऋग्वेद', मंत्र १०, सूक्त ३४।

और ४ के चिह्न बने होते थे। इन चारों चिह्नों को चार युगों के नाम दिये गए थे। १. कलि, २. द्वापर, ३. त्रेता, ४. कृत। प्राचीन काल से ही लोगों के विनोद और मनोरंजन के लिए भी नामों को बदलकर उनकी जगह संख्याएँ रख लेने की बात ध्यान देने योग्य है। 'छांदोग्योपनिषद्' में इस प्रकार लिखा है:—

यथा कृताय विजितायाधरेयाः
रुपत्येवमेनम् सर्वत्र तदभिसमेति,
यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति
यस्तद्वेदयत् स वेद समर्थे तदुक्त इति।[1]

इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चौपड़ खेलने में जिसकी बाजी में कृत युग का चिह्न आ जाता है, और वह शेष सभी बाजियों को जीत लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने अच्छे कर्मों के सारे फल एक साथ भोगता है। यही उदाहरण उसी उपनिषद् में दूसरी जगह पर भी मिलता है।[2]

महाभारत की सारी कथा इसी अक्ष के जुए पर चली है। महाभारत से प्रतीत होता है कि कौरव और पाण्डवों ने इसी कलि, द्वापर, त्रेता और कृत के पाँसे से जुआ खेला था। विराट् पर्व में द्रोणाचार्य के अर्जुन की प्रशंसा करने पर दुर्योधन बिगड़ खड़ा हुआ था। इस पर अश्वत्थामा ने कहा था:

नाक्षान् क्षिपति गांडीवम्, न कृतम् द्वापरं न च।
ज्वलतां निक्षितान् बाणाँस्तीक्ष्णान् क्षिपतिगांडिवम्॥

अर्जुन अपने गांडीव से कृत और द्वापर की गिनती करके बाण नहीं चलाता। जब उसके जानलेवा बाण चलेंगे तभी यह जान पड़ेगा कि वह कैसा व्यक्ति है। इन शब्दों से विदित होता है कि कौरव-पांडवों ने यही चौपड़ खेला था। तेलुगू प्रान्त में भी आज तक नक्कमुष्ट, नक्कमुष्टि या लक्कि-मुष्टि के नाम से एक खेल चालू है। इस कलि-द्वापर के खेल के, न केवल

१. 'छांदोग्योपनिषद्' ४-१-४०।
२. 'छांदोग्योपनिषद्' ४-३-६।

भारत में बल्कि एशिया योरप के अनेक देशों में भी, प्रचलित रहने के प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन यूनान तथा मिस्र में इस खेल का बड़ा जोर था। यूनानी किसी मनुष्य के मरने पर उसके शव के साथ उसके चौपड़ भी कब्र में गाड़ देते थे। १२०० ई० पू० के लगभग दस साल की अवधि तक जो ट्राय-युद्ध चला था, उसमें सैनिक लोग, समय काटने के लिए चौपड़ खेला करते थे।

यहाँ पर यह कह देना उपयुक्त है कि आंध्र साहित्य के अन्दर नाचनें सोमयाजी के बाद दो-तीन कवियों ने इस चौपड़ के वर्णन में सोमयाजी का अनुकरण किया है। पिंगळ-सूर ने 'कलापूर्णोदयमु' (३-१३१) में तच्चौक, चौवंद, इत्तुग, बारा, दूगॅ आदि गिनती के साथ चौपड़ खेलने की चर्चा की है।

इसी प्रकार संकुसाल रुद्रकवि ने अपने 'निरंकुशोपाख्यानमु' (२-२२) "बार पदि दच्चि (दस) इत्तुगॅ इगॅ" आदि की गिनती के वर्णन के साथ चौपड़ का उल्लेख किया है। उसने आगे और भी ब्यौरा दिया है (३-२०)। बहर-हाल नाचनें सोमयाजी से लेकर आधुनिक काल तक यह चौपड़ आंध्र के अन्दर चलता आ रहा है।[1] 'विष्णु माया नाटक' (मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित) के अन्दर तीन पद्यों में विष्णु तथा लक्ष्मी के चौपड़ खेलने का वर्णन है।

उत्तर भारत में बहुरूपिये की प्रथा युगों पुरानी है। आंध्र में आज-कल भी पिच्चकुण्टला जाति के लोग दिन के समय ही रंग-बिरंगे भेस

१. आज भी वैदिक ब्राह्मणों में चौसर खेलने की बात सुनकर लेखक स्वयं कर्नूल गये थे। किन्तु चार घंटों तक घूमते रहने पर भी किसी ब्राह्मण ने चौपड़ खेलकर नहीं बताया। अन्त में आलमपुर में ब्रह्मश्री गडियारम् रामकृष्ण शर्मा का खेल देखा। लेखक के वहाँ जाने, और उनका खेल देखने का फल यही रहा कि लेखक शर्मा जी का चौपाट (चौपड़ खेलने की बिसात, पाँसे और कुकड़ियाँ—सम्पा०) उठा लाए।

लेकर लोगों का मनोरंजन करके माँग खाते हैं। तेलुगु में उन्हें काकतीय-काल में भी पगटिवेषम् या दिन का भेष कहते थे।[1]

बच्चों में भी अनेक खेल प्रचलित थे। जवान पट्ठे तीतर-बटेर की बाजी में आनन्द लेते थे। वे हाथ के अँगूठों पर पिलिकिपिट (बटेर) बिठाकर चला करते थे।[2]

'पल्नाडि वीर चरित्रम्' में दिया है—

"कुँहड़े का खेल कुछ देर खेल-खेलकर
गन्ने की बाजियाँ बद-बदकर, बेखबर
कुछ समय बिकाओ सुपारी के खेल से
मोतियों की गेंदें उछालकर, गुलेल से;
घुच्चियों में पिला-पिला बाजियाँ करो सर,
ला-ला के कुटिल जन्तु मन्दिर में पूर कर
आपस में उनको भिड़ा-भिड़ा मजे लो,
रुपयों के ढेर भी लगा-लगा के खेलो"....[3]

इसे 'गुंत-मापला' कहा है, पर यह शब्द कोश में नहीं है। घुच्चियों में पिलाने का खेल शायद वही है जो आजकल भी कहीं-कहीं चालू है (एक तख्ती पर सात-सात चौदह गड्ढे खोदे जाते हैं इमली के बीजों को दोनों तरफ दो व्यक्ति भरकर फिर एक-एक गड्ढे से ढेरी उठाकर एक-एक खाने में एक-एक छोड़ते जाते हैं। जहाँ एक खाना खाली के बाद भरा गड्ढा मिले वहाँ वह जीत लिया जाता है। जिसके सब दाने पहले समाप्त हों, वह हारा।—अनुवादक।)

गेंद से अभिप्राय कपड़े की वह गेंद ही हो सकती है, जिसके खेलने का ढंग देश-भर में लगभग एक ही जैसा है। जन्तुओं की भिड़न्तों में भेड़ों

1. "दैबंबनगलेदुता बहुरूपु" (बहुरूपियों का चलन न था); 'बसवपुराणमु', पृष्ठ २०।
2. "करयुल पैनि पिकिरिपिट्टल नुंड", 'पल्नाडिवीर चरित्र', पृष्ठ २८।
3. 'पल्नाडि', पृष्ठ ३८।

की भिड़न्त, भैंसों की भिड़न्त, मुरगों की लड़ाई, तीतर-बटेर की लड़ाई आदि के नाम लिये जा सकते हैं।[1] 'गजगा' (एक काँटेदार बेल के दाने) से भी कुछ खेल खेले जाते हैं। बाकी सब खेल क्या हैं? इनके नाम भी हम लोगों तक नहीं पहुँच पाए।

लट्टू का खेल बच्चों के खेलों में प्रधान रहा है। पल्नाड बालचन्द्र ने लट्टू का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया है। 'पन्नार' भी एक खेल माना गया है। कोश के अन्दर इसका शब्दार्थ बताते हुए कहा गया है कि यह बच्चियों का वह खेल है जिसमें खाना पकाने के मिट्टी के खिलौने होते हैं। पाल्कुरिकी ने भी इसके सम्बन्ध में लिखा है। न जाने वह क्या खेल है? पाल्कुरिकी ने लिखा है: **"पन्नार की आड़ में!"**[2]

मुर्गबाजी हिन्दुओं का अति प्राचीन मनोरंजन है। पल्नाडि-युद्ध का एक मुख्य कारण यह मुर्गबाजी ही थी। नायका-राली के मुर्गे का ब्रह्मनायुडु के मुर्गे को हराना, इस हार के कारण ब्रह्मनायडु का सात वर्ष तक राज-पाट त्यागकर परदेश में भ्रमण करना, फिर उसके बाद पल्नाडि युद्ध का होना आदि आंध्र के इतिहास की सुप्रसिद्ध घटनाएँ हैं।

> **"कृकवा कुस्ताम्र चूडः**
> **कुक्कुटश्चरणायुधः"**

इस प्रकार 'अमर-कोश' में मुर्गे को चरणायुध कहा गया है। क्योंकि मुर्गे पंजों से एक-दूसरे को मारकर लड़ा करते हैं। हमारे पूर्वज मुर्गों के पंजों में बित्ते-भर के छुरे बाँधकर उन्हें लड़ाया करते थे। यह प्रथा हम लोगों तक अविच्छिन्न रूप से चली आई है। तेलुगू भाषा में तो मुर्गबाजी पर एक पूरे शास्त्र की रचना हुई है। जाड़ों के मौसम में संक्रान्ति के अवसर पर अपने-अपने मुर्गों को बगल में दबाये, कुक्कुट शास्त्र को सिर पर गोल-गोल साफों में खोंसे और उस शास्त्र के नियमों को बरतते हुए ये खिलाड़ी मुर्गबाजी में मग्न हो जाते थे। बड़ी-बड़ी बाजियाँ दाव

१. **'पल्नाडि वीर चरित्र', पृष्ठ ४५।**
२. **'पंडिताराध्यचरित्र', प्रथम भाग, पृष्ठ १३०।**

पर लगाई जाती थीं। तीस वर्ष हुए कानून के द्वारा मुर्गों की लड़ाई की मनाही हो गई। तब से हमारा यह कुक्कुट शास्त्र भी कहीं कोनों अँतरों में पड़ा लुप्त हो जाने की बाट जोह रहा है।

सन् ७५० ई० के लगभग आंध्र में 'दंड' कवि के नाम से एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। उन्होंने अपने 'दशकुमारचरित्र' में मुर्गबाजी पर काफी प्रकाश डाला है। लिखा है कि 'नारिकेल' जाति के मुर्गे को जीत प्राप्त हुई। केतनें ने भी 'तेलुगू दशकुमार चरित्र' में इस मुर्गबाजी पर बड़े ही विस्तार के साथ लिखा है। इससे यही प्रतीत होता है कि आंध्र-देश के अन्दर इसका प्रचार बहुत अधिक था।[1]

'क्रीड़ाभिरामगु' में तो इस पर और भी विस्तार के साथ लिखा गया है। कविता विनोदमय है और मनोरंजक रूप में लिखी गई है। विस्तार के डर से सूचना-मात्र देकर हम इसे यहीं पर छोड़ देते हैं।

जन-मनोरंजन का एक साधन, 'गंगिरेद्दू' भी था। गंगिरेद्दू गंगिर+एद्दू। एद्दू का शब्दार्थ है बैल। (बैल की पीठ पर रंग-बिरंगे लत्तों से तैयार की हुई एक भारी अम्बारी-सी उढ़ा दी जाती है। सींगों पर मोरछल बाँध दिये जाते हैं। थोड़ा-बहुत खेल भी उसे सिखाया जाता है। आंध्र में इसका रिवाज आज भी है।)[2]

ये हैं थोड़े-से खेल और मनोरंजन के साधन, जिनसे काकतीय युग में हमारे पूर्वज मनोरंजन किया करते थे।

स्त्रियों के आभूषण

पता नहीं पुराने जमाने में तेलुगू स्त्रियों को गहने इतने प्रिय थे। वे तरह-तरह के गहने बहुत पहनती थीं। हाथों-पैरों में कड़े, नाकों में नथ, कानों में बालियाँ, बाजुओं में बाजूबंद और बंकी (बांकी बिजायठ),

१. 'दशकुमारचरित्र'।

२. "गंगिरेद्दुलवाड्डुकारु मरांचि
मुकुदाडुपोडिचिन पोतेदुलड्डु!"—'पल्नाडि', पृष्ठ २०।

माँग में आगे से पीछे तक छोटे-बड़े बिल्ले (माँगटीके) आदि सब पहने जाते थे। गले में वे 'जोमाल हार' पहना करती थीं।[1] आजकल स्त्रियाँ, युवतियाँ तथा युवक भी मुख पोतने में खूब धन खर्च करते हैं। स्नो, पाउडर, तेल, आलते (नाखूनों के रंग), महावर आदि और फिर उनके आवश्यक उप-साधन ब्रुश, शीशे, कंघे इत्यादि का उपयोग धड़ल्ले से करते हैं। उन दिनों स्त्रियों के लिए हल्दी ही प्रधान अंगराग थी। रोएँ झाड़ने और मुख का रंग निखारने के साथ-साथ हल्दी के उबटन में कृमि-संहारक गुण भी हैं। उन दिनों स्त्रियाँ नाखूनों में मेंहदी लगाया करती थीं।[2]

होंठों में लाख का यावक (लाल रंग) लगाया करती थीं। आँखों में काजल लगाती थीं। पैरों में लाख का बना लाल रंग 'पाराणि' लगाती थीं।

दंडि ने अपने संस्कृत 'दशकुमार चरित्र' में स्त्रियों के गहनों के सम्बन्ध में मणि-नूपुर, मेखला, कंकण, कटक और ताटंकहार मात्र का वर्णन किया है। किन्तु केतनें ने अपने 'तेलुगू दशकुमार चरित्र' में महिलाओं के आभूषणों में अनेकों नाम गिनाये हैं। ऐसा लगता है कि आंध्र देश के धनी-वर्ग के अन्दर ये आभूषण प्रचलित थे। केतनें द्वारा वर्णित आभूषण ये हैं :

मट्टे (पैर के छल्ले), मणिनूपुर (झाँझन), करधनी, मोती, कञ्चवडम्, पट्टी, चमेली, बाजूबंद, अँगूठियाँ, हार, कंगन, कर्णफूल, तिलक, मेंहदी, काजल आदि।

पल्नाडि-युद्ध तक खड़े शीशे (बड़े आइने) भी चल चुके थे।[3] वरंगल की स्त्रियाँ ताटंक और मोतियों के कर्णफूल, कांची-नूपुर, कंकण,

---

१. 'पंडिताराध्य', पृष्ठ १३६।

२. नन्नेचोड—'कुमारसंभवम्'।

३. 'पल्नाडि', पृष्ठ १६।

त्रिपर, (तिलड़ी, तिहरा हार) और कड़े कंगन भी धारण करती थीं।[1]

विविध वस्तुएँ

रक्षा के उद्देश्य से तावीज पहनना भी एक प्रथा-सीज ही हो गई थी। गले और बाजुओं में 'तावीज' बाँधे जाते थे। करधनी में भी तावीज पड़ते थे।[2] यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सन् ११७२ में पल्नाडि युद्ध के समय या जब कि श्रीनाथ ने उस युद्ध को छन्दोबद्ध किया, तब तावीजों की प्रथा थी या नहीं। किन्तु काकतीयों के समय तो तावीज जरूर थे। अप्प कवि ने इस पर खासी लम्बी चर्चा की है। तावीज को तेलुगू और कन्नड़ में 'तायेतु' कहते हैं। इस शब्द के उसने अर्थ यों किये हैं:—तायि (कन्नड) = माता, एतु = रक्षा। माताएँ अपने बच्चों की रक्षा के लिए ही तावीज बाँधती थीं। इसीलिए वह तायेतु कहलाता है। किन्तु क्या केवल बच्चों को ही तावीज बाँधे जाते थे? क्या केवल माताएँ ही बाँधती थीं? क्या बड़े भी नहीं बाँधते थे? क्या तान्त्रिकों से तावीज लेकर बूढ़े और युवक भी नहीं पहनते थे? फिर 'एतु' के लिए रक्षा का प्रयोग कहाँ हुआ है? मुद्दराजु ने 'तायतु' लिखा है, 'तायेतु' नहीं लिखा। अप्प कवि मुद्दराजु पर नाहक उछल पड़े। हमारा विचार है कि यह असल में तेलुगू शब्द है ही नहीं। यह अरबी शब्द तावीज ही है। कुरान की आयतों को लिखकर मुसलमान गले में डाल लेते हैं, और उसीको हम लोगों ने अपनाया है।

बीड़ा उठाना—राजस्थान आदि में जिस प्रकार किसी साहसपूर्ण कार्य के लिए बीड़ा उठाया जाता था, उसी प्रकार आंध्र में भी होता था। युद्ध आदि वीर-कृत्यों पर जाते समय वीर-ताम्बूल दिया जाता था।[3] ताम्बूल के माने हैं पान का बीड़ा। बीड़े को तेलुगू में 'ब्रिडेमु'

१. 'क्रीड़ाभिरामसु'।

२. 'पल्नाडि', पृष्ठ १०।

३. 'बसवपुराणमु', पृष्ठ २४१।

कहते हैं।

गठिया आदि वायु-रोगों के लिए वायु तैल तैयार होते थे। धतूरा, रेंडी, आक और सम्भालू आदि के पत्तों से सेका जाता था।[1]

बेगार—उस समय बेगार की प्रथा भी थी। यह भारत की अति-प्राचीन प्रथा है। संस्कृत शब्द वेष्टि से तेलुगू में वेट्टि (बेगार) बना है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में बेगार की चर्चा है। तेलुगू कवि पाल्कुरिकी ने एक जगह कहा है—

"शूद्र अधिकतर चल्लडमु या चिल्लाडमु (पियाऊ) बनाया करते थे।"[2]

गुलेल खेतों से चिड़ियाँ उड़ाने और युद्ध में शत्रु को भगाने के काम में आती थी।[3] नौकर को वेतन की जगह ज्वार दी जाती थी। नौकरी के बदले नाज का रिवाज अब भी है।

नन्निचोड़ु ने लिखा है :

"उधार का ज्वार जाँगर चलाके पटाऊँगा।"[4]

कथा पुराण—भागवतादि पुराणों की कथाएँ होती थीं। सभी लोग बैठकर सुना करते थे। पलनाडि के बालचन्द्र की माता ने कहा था—**"बेटा! ब्राह्मणों को बुलाकर भागवत की कथा करवाओ! महाभारत की कथा सुनो, जिससे ज्ञान बढ़े।"**

यह बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की बात है। सन् ११७२ तक महाभारत के केवल आरम्भिक तीन पर्व ही तेलुगू में लिखे गए थे। और तेलुगू भागवत तो बना ही नहीं था। अभिप्राय यह हुआ कि आंध्र-देश में तब ब्राह्मण लोग संस्कृत में भागवत, महाभारत आदि पढ़कर श्रोताओं को उसका अर्थ तेलुगू में समझा दिया करते थे।

व्याज-बट्टे का धन्धा खूब चलता था। "व्याज, घूसखोरी, वैद्यक,

१. 'बसवपुराणमु', पृष्ठ ७७।

२. वही, पृष्ठ ८३। 'पंडिताराध्य', प्रथम भाग, पृष्ठ ५२१।

३. 'उत्तर हरिवंश', अध्याय ३, पृष्ठ १०३।

४. 'कुमारसंभवमु', अ० ११।

वेश्या-वृत्ति, बूटॅ-कूलि (होटल)........"[1]

इससे प्रतीत होता है एक हजार वर्ष से पूर्व भी आन्ध्र में होटल की प्रथा मौजूद थी। हमारे पूर्वजों ने भी शायद इसी अन्न-विक्रय (होटल प्रथा) की निन्दा की है। जब ऐसे-ऐसे प्रशस्त कवियों ने इसकी निन्दा की है, तब इसका मतलब यही हुआ कि आन्ध्र देश में हजार वर्ष पहले भी होटलों का बोल-बाला था। जहाँ बड़े शहर बसेंगे वहाँ होटलों का चल पड़ना अनिवार्य है। वरंगल आन्ध्र का एक विशाल नगर था। इसलिए वहीं पर होटल भी खूब थे। 'क्रीड़ाभिरामम्' में एक पद है--

संधियों, विग्रहों यानादि संपुटनों
बन्धकियों, जारों, कुट्टनी-कुट्टनों
सबके जोर चलते अन्न-पण्यगृहों के भीतर
सबकी दलाली किया करते हैं पुष्पशर

मतलब यह कि आजकल की तरह उस समय भी शहरों के होटलों में वेश्या-वृत्ति चलती थी। 'क्रीड़ाभिरामम्' के रचयिता ने होटलों का रोचक, पर वास्तविक चित्र खींचा है। एक जून (समय) के भोजन में क्या-क्या चीजें इन होटलों में खाने को मिलती थीं उसका भी ब्यौरा कवि ने दिया है :

कपूरभोगी महीन चावल
सुस्वादु गेहूँ, पकवान में फल,
ताजा घी गाय का, मुट्ठी-भर शक्कर
मूँग की दाल और केले खूब जी भर
चार-पाँच चटनियाँ, अचार, दही छक्का,
लक्ष्मण वज्झल के घर मिलते हैं, पक्का![2]

अर्थात् उसके होटल में ऐसा बढ़िया भोजन मिलता था। और क्या

---

१. भद्रपाल, 'नीतिशास्त्र-मुक्तावलि', पद्य १४०। भद्रपाल ईसवी सन् १०५० के पहले ही हो गये हैं।

२. लक्ष्मण वज्झल कोई होटलिया रहा होगा।

चाहिए ? यह तो पूर्णतया पुष्ट, स्वादिष्ट और सन्तुलित भोजन हुआ। मानो आजकल के महाराजाओं की जेवनार हो।

'क्रीडाभिरामम्' के रचयिता ने कहा है कि "लोग राजा प्रतापरुद्र की उपस्त्री का नाटक खेला करते हैं।" पाल्कुरिकी ने भी कहा है कि "लोग उत्तम नाटक खेला करते हैं।"

आखिर वे नाटक कैसे होते थे ?

निश्चय ही, गीर्वाण पद्धति के नाटक तो नहीं ही थे। हो सकता है, यक्ष-गान-सम्बन्धी हों।

इन सूचनाओं से इन नाटकों की प्राचीनता का पता जरूर चलता है।

चुङ्गी को 'सुकम' (शुल्कम्) और चुङ्गी वसूल करने वालों को 'सुङ्करि' कहते थे। चुङ्गी की वसूली के 'घाट' (नाके) बने हुए थे। (प्रायः नदियों के घाटों पर होने के कारण उनका यह नाम पड़ा होगा) संस्कृत की एक कहावत है—'घट्टकुटी प्रभात न्याय'। इस कहावत के पीछे एक कहानी है। एक आदमी सरेशाम गाड़ी पर माल लादकर चुङ्गी से बचने के उद्देश्य से रात-भर रास्ता काटकर चलता रहा, परन्तु सवेरा होते-होते उसने देखा कि उसकी गाड़ी चुङ्गी-घाट की झोंपड़ी के सामने खड़ी है। भद्र भूपाल ने स्वयं कहा है कि ये चुङ्गी वाले बड़े दुष्ट होते थे। उसने लिखा है :

> **"न कोई टंटा ऐसा, जो कि जुए से बदतर**
> **न कोई पापी बड़ा 'संकुरी' से जगती पर !"**

नहीं। कोई नहीं।[1]

लोग रुपयों की थैली, जाली की अण्टी, कमर में बाँधा करते थे। आज भी गाँवों के लोग ऐसी अंटियों का उपयोग करते हैं।

वरंगल नगर में जनता के लिए सभी जरूरी अच्छी-बुरी चीजें मौजूद थीं। कपड़े सीने के लिए घरकोट और दरजी होते थे। ये लोग

१. 'नीति-शास्त्र-मुक्तावलि', पद्य १५५।

सैनिकों के मोहरीवाड़ा मोहल्ले में रहा करते थे। शायद यह सैनिकों का ही अधिक काम करते थे। फिर भी वेश्याएँ अपनी चोलियाँ इन्हीं-से सिलवाया करती थीं। जुआ आम था। लोग अपने शरीर पर की चादर तक बेच-बेचकर जुआ खेला करते थे। "पैसों के लिए चादर बेच दी है।" (क्रीडाभिरामम्)।

पशुओं की लड़ाई—भेड़ों की भिड़ंत और मुर्गों की लड़ाई प्रायः हर कहीं होती थी। कवि वेंकटनाथ ने अपने 'पंचतन्त्र' में भेड़ों की भिड़ंत का वर्णन किया है। (१—२३२)! सपेरे प्रचुरता से पाये जाते थे। ढोल-ढपली बजा-बजाकर कथा-कहानी सुनाने वाले भी होते थे। कोल्हू से तेल निकालने वाले तेली भी थे। धनी लोग "कालागुरु का लेपन करके दट्ट, पुनुगु, मृगनाभि कस्तूरी आदि से" अपना जाड़ा भगाते थे। चादर दुहरी ओढ़ते थे। ब्राह्मण आदि उच्च कुलों के लोग नई-नई मचमचाती चप्पलें पहनकर झूमते चलते थे।

उन दिनों राजाओं, सामन्तों और अधिकारियों को रखेलियाँ रखना और उसे लोगों में जताना बहुत भाता था। इस धन (हीन)-कार्य पर वे गर्व भी करते थे। "अंगना-हृदय सरोज-षट्पद" कहलाने में फूल-फूल उठते थे। एक बार वरंगल में तुण्डीर (तमिल) देश से एक पिल्ले नामक व्यक्ति आया और किसी वेश्या के साथ रहने लगा। बाद में उस वेश्या से उसका झगड़ा हो गया। "जारधर्म आसन" द्वारा झगड़े का निर्णय सुनाया गया। (अर्थात् उनकी अलग अदालतें थीं) एकाग्रनाथ ने कहा है कि वरंगल में "अगण्य वस्तु वाहन शोभायुक्त वेश्यागृहों की संख्या १२७०० थी।" यह तो अतिशयोक्ति लगती है। वेश्या-कन्या को कुल-वृत्ति में प्रवेश कराने के कुछ संस्कार होते थे। इन संस्कारों में सज-धजकर शीशे में सूरत देख लेना भी शामिल था। इस 'मुकुरवीक्षा विधान' से पहले वेश्या विट्ठ (व्यभिचारी) का आलिंगन नहीं कर सकती थी।

आंध्र देशाधीश के महल के बड़े दरवाजे पर घड़ी रखी थी। उन

दिनों आज का-सा गजर नहीं, बल्कि बड़ी घड़ी का घण्टा बजा करता था। चौबीस घण्टों को साठ घड़ियों में विभाजित करके दिन में एक से तीस घड़ियाँ और उसी तरह रात में तीस घड़ियाँ बजाई जाती थीं। समय की माप के लिए एक छेददार कटोरे का प्रयोग करते थे। इस कटोरे को पानी के बरतन में छोड़ देते थे। घड़ी-भर में छेद द्वारा कटोरे में इतना पानी आ जाता था कि कटोरा पानी में डूबकर बैठ जाता था। उसके डूबने की आवाज़ के साथ ही पहरेदार घड़ी का घण्टा बजा दिया करता था।

ऐसा लगता है कि स्त्रियाँ लाल पल्लू की सफेद साड़ी बहुत पसन्द करती थीं। (क्रीड़ाभिरामम्) इसे बोम्मंचु कहा जाता था। एक रसिक कवि ने नारियों के होठों की इन ही साड़ियों के लाल आँचल से उपमा दी है। श्री काकुलमु के मेले का वर्णन करते हुए कवि ने वेलमॅ युवकों और विधवा युवतियों के दुश्चरित्र के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा है। इस प्रकार की और भी अनेक बातें बताई जा सकती हैं। कहीं इसका आर-पार नहीं है।

काकतीय युग में आंध्र के सामाजिक इतिहास के लिए 'क्रीडाभिरामम्' प्रधान आधार है। कहा तो यह जाता है कि इसके रचयिता वल्लभराय थे। किन्तु उसकी शैली से पग-पग पर यही लगता है कि पुस्तक श्रीनाथ की लिखी है। अन्य आधार-भूत पुस्तकों की सूची नीचे दी जाती है :

१. **'क्रीडाभिराममु'**—प्रकाशक वेटूरि प्रभाकर शास्त्री।

२. **'काकतीयसंचिका'**—आंध्र इतिहास परिशोधन मण्डली, राज-महेन्द्रवरमु (राजमहेंद्री)।

३. **'पंडिताराध्य चरित्रमु'**—रचयिता, पाल्कुरिकी;
'बसवपुराणमु'—प्रकाशक, आंध्र-पत्रिका, मद्रास।

४. **'पल्नाडि वीर चरित्र'**—प्रकाशक अक्किराजु उमाकांतम्।

५. **'तेलंगाणा शासनमुलु'** (के शिलालेख)—लक्ष्मणराव परिशोधक मंडली, हैदराबाद।

६. 'उत्तर हरिवंशमु'—नाचनॅ सोमयाजी
७. 'प्रताप चरित्रमु'—एकाग्र नाथ
८. 'दशकुमार चरित्र'—केतनॅ
९. 'नीतिशास्त्र मुक्तावलि'—भद्रभूपालं

: ३ :

रेड्डी राजाओं का युग

एक साम्राज्य के पतन के साथ ही छोटे-छोटे सामन्तों का सिर उठाना और छोटे-छोटे कई स्वतन्त्र राज्यों का स्थापित हो जाना, भारतीय इतिहास की एक परम्परा-सी है। काकतीय साम्राज्य का अन्त होते ही उसके अधीनस्थ सामन्तों और सेनानियों ने अपने अलग-अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। उनमें से रेड्डी और वेलमों के राज्य ही मुख्य हैं। उसी समय विजयनगर राज्य ने भी अपनी जड़ें जमाईं। इन तीनों में काकतीय साम्राज्य के पतन के समय रेड्डी राज्यों के प्रधानता प्राप्त करने के कारण तथा वेलम राज्यों की परिस्थितियों से जानकारी प्राप्त करने के साधनों का अभाव होने के कारण इस युग को रेड्डी-युग का नाम दे देना हमारे लिए आवश्यक हो गया।

रेड्डी राजाओं ने अद्दंकि, कोंडवीड, राजमहेन्द्रवरम् (राजमंड्री) तथा कंदुकूर में ईसवी सन् १३२४ से लगभग १४३४ तक शासन किया। रेड्डियों का राज्य कर्नूल से लेकर विशाखापट्टम (वैज़ाग) तक फैला हुआ था। वर्तमान ज़िला नेल्लूर उसकी दक्षिणी सीमा थी।

काकतीय राज्य के पतन के साथ मुसलमान, जिन्हें तेलुगु में तुरुक कहा जाता था, सारे आंध्र देश पर छा गए और भयभीत जनता पर तरह-तरह के अत्याचार करने लगे। मन्दिरों को तोड़कर उन्हें मसजिदों में बदल दिया। तलवार के हाथ बलात् लोगों को मुसलमान बनाने

लगे। लूट-मार का बाज़ार गर्म कर दिया। जनता के प्रियपात्र नेताओं तथा राजाओं और मन्त्रियों को उसकी आँखों के आगे तोपों से उड़ा-उड़ा डाला। परिणाम यह हुआ कि शान्तिप्रिय व्यक्ति भी आग-बबूला हो उठे।

वरंगल का विध्वंस करने के बाद मुसलमानों ने पूरे आन्ध्र-देश में तबाही मचा दी। इससे छोटे-मोटे राजा, उनकी सेनाएँ और साधारण जनता घबरा उठी। मुसलमान के दिखते ही लोगों में भगदड़ मच जाती थी। प्रायः यह धारणा हो चली थी कि मुसलमान बड़े बली हैं, उनका सामना करना असम्भव है। भारतीय रंगमंच पर अंग्रेजों के आने तक मुसलमानों की यह धाक बनी रही। कवि वेंकटाध्वरि (१६५०-१७०० ई०) ने अपने 'विश्व-गुणादर्शमु' में इन बातों का सुस्पष्ट वर्णन दिया है।

मुसलमानों के हाथों की गई तबाहियों का वर्णन स्वयं उस समय के रेड्डी राजाओं ने जहाँ-तहाँ अपने शिला-शासनों में भी किया है! विशेषकर सन् १३२४ ई० से सन् १३३० ई० तक लगभग छः साल तक मुसलमानों ने आंध्रों पर घोर अत्याचार किये। आखिर प्रोलयनायक और कापयनायक ने मुसलमानों को आंध्र देश से एकदम बाहर भगा दिया। प्रोलयनायक ने अपने ताम्र शासन में उस समय की परिस्थितियों का ब्यौरा इस प्रकार दिया है:

"पापी यवनों द्वारा लोगों की जमीनें बरजोरी जोत ली जाती थीं और तैयार फसलें लूट ली जाती थीं। इस कारण धनी-दरिद्र का अन्तर न रहकर किसानों के कुटुम्ब-के-कुटुम्ब तबाह हो गए हैं। उस महान् विपदा के समय लोगों के लिए अपनी जायदादें और अपनी स्त्री आदि को भी अपनी समझना असम्भव हो चुका था। ताड़ी पीना, स्वच्छन्दता से विचरना, ब्राह्मणों को मार डालना यही इन यवनों का पेशा बन गया था। ऐसी स्थिति में धरती पर कोई प्राणी अपने प्राण बचावे भी तो कैसे? इन राक्षसों द्वारा प्रपीड़ित देश की रक्षा करने योग्य कोई व्यक्ति दीख नहीं पड़ता था। सारा देश चारों ओर से जलते हुए जंगल की

तरह संतप्त हो रहा था।[1]

मुसलमानों के आने की खबर सुनते ही दुर्गाधीश अपनी सेना और सवारों से भरे किलों को छोड़कर, मारे डर के जंगलों में जा छिपते थे।[2]

आंध्र की ऐसी दुरवस्था में से प्रोलयनायक नामक एक रेड्डी वीर उठ खड़ा हुआ। उसने बिखरी सेनाओं को एकत्र करके और सामंतों को साथ लेकर, मुसलमानी फौजों को मार भगाया, तथा 'आंध्रसुरत्राण' का विरुद पाये अपने बेटे कापयनायक के साथ वरंगल के राज्य पर शासन किया। किन्तु तुरकों का डर मिटते ही तेलुगू राजाओं ने फिर से आपस में लड़ना शुरू कर दिया। वेलमँ राजाओं ने राचकोंडा और देवरकोंडा के किलों पर कब्जा जमाकर तेलंगाना पर राज किया। रेड्डियों ने विशेषतया पूर्वी तट पर तथा गुण्टूर, नेल्लूर, कर्नूल पर शासन किया। रेड्डी और वेलमँ राजाओं के बीच निरन्तर वैर-भाव बना रहा। इसके अतिरिक्त रेड्डी-राज्य के लिए कर्णाटक कहलाने वाला हम्पीराज्य बगल में खुँपा भाला-सा बन गया। गुलबर्गा में बहमनी सल्तनत की स्थापना हुई। बहमनी सुलतानों में से एक-दो को छोड़कर सभी हिन्दू-द्वेषी बन गए थे। उन्होंने अत्यन्त बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया। उत्तर में ओढ्र अथवा ओड़ियों ने सदा देश-द्रोही बनकर आंध्र को हथियाने की चेष्टा की।

इस प्रकार रेड्डी राजा चारों ओर की घोर उलझनों के बीच फँसे थे। ऐसी दशा में अगर रेड्डियों ने पूरे सौ साल तक चारों ओर से दाबते आते शत्रुओं को रोकते हुए, मुसलमानों को हराते हुए और अपनी आन-बान को कायम रखते हुए शासन किया तो वे सर्वदा प्रशंसा के ही पात्र रहेंगे। रेड्डियों ने न केवल ओढ़ों, वेलमों, कर्णाटकों के राजाओं और मुसलमानों से ही मोरचा लिया, बल्कि उधर बंगाल तक और इधर मध्यभारत तक अपना विजय-डंका बजाया। उनके मन्त्री लिंगनँ की दिग्विजयों का ब्यौरा यों है :

१. 'रेड्डी संचिका', पृष्ठ ११।
२. वही, पृष्ठ १३।

झादेश[1] के, सममाडि[2] के,
बारहदोंति[3] के, जंत्रनाडु के[4]
अधिपतियों को कर रण-पराभूत
ओड्डादिक मकर-वंश-समुद्भूत
उदयार्जुन एवं पल्लव-पति से
कर वसूल करके नान्या-गति से
दंडक-कानन के रंभादिक-कुल
के पुलिंद को देके अभय विपुल
रविकुल के वीरभद्र की तथा
गरबीले देवेन्द्र की कथा
कथा-शेष करके धरतीतल पर
यवन, कर्णाटक, कटकाधीश्वर
राजाओं को अपने मित्र बना
लिंगन प्रभु ने जमा लिया अपना
स्वामि-राज्य आंध्र-देश के भीतर;
स्वामी अल्लाड धरणिनाथ-प्रवर
के द्वारा पलवाया तेलुगू-वपु,
धन्य-धन्य अरिएट्टी लिंगप्पु ![5]

सोमशेखर शर्मा ने वंतुनाद को ही जंत्रनाडु कहा है। झाड़ देश आजकल बोब्बिल जयपुर का इलाका है। सममाडे गंजाम के मन्ने दोराओं का इलाका था। बारह-दोंति उड़ीसा के अन्तर्गत है। जंगनाडु

१. बोब्बिल।
२. गंजाम।
३. उड़ीसा।
४. विशाखापट्टनम।
५. 'भीमखंडमु', अ० १।

ओड्डारि विशाखापट्टनम् (अर्थात् विज़ाग) का इलाका है।[1]

रेड्डी राजाओं ने बंगाल में पंडवा के सुलतान को भी हराया था।[2] पंडवा बंगाल में आज के मालदह जिले के अन्तर्गत है।[3] इन सफलताओं के लिए निश्चय ही उस राज्य में महान् शूरवीर, सेनानी, युद्ध-कला-कोविद आदि विद्यमान थे। वे सारे आन्ध्र-देश द्वारा प्रशंसित हुए और होने चाहिएँ। ऐसा मानने में न तो कोई अतिशयोक्ति है और न कोई विशेष आंध्र-अभिमान। उन महान् योद्धाओं में से मुख्य व्यक्ति थे, प्रोलयनायक, अनॅवेमॅ, पेदॅ कोमटी, काटयॅवेमुड्डु, अनॅपोतॅ रेड्डी, लिंगनॅ मंत्री, बेंडपूडि, अन्नय मंत्री इत्यादि।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि ऐसे रेड्डी-युग में आंध्र की सामाजिक दशा क्या रही होगी।

धर्म

राजा जिस धर्म को अपनाते हैं प्रजा भी अधिकतर उसी धर्म को अपनाया करती है—'राजानुमतम् धर्मम्'। यही उन दिनों लोगों का विश्वास था। काकतीयों के काल में जिस वीर-शैव धर्म ने जोर पकड़ा था उसी का बोल-वाला अब भी था। रेड्डी राजागण वीर-शैव-धर्म का अभिमान रखते थे। उन्होंने अनेकों शिव सूत्रों का उद्धार किया। श्रीशैल के पर्वतीय मन्दिर की सीढ़ियाँ उन्होंने बनवाईं। वे दिन में छः बार शिवजी की पूजा किया करते थे। अनेक यज्ञ भी रचाये। राजाओं का अनुकरण करके उनके मन्त्रियों और सेना-नायकों ने भी शैव-धर्म के प्रचार का विशेष यत्न किया।

रेड्डी राजा शैव मतावलम्बी होने पर भी वे अन्य धर्मों के अनुयायियों

१. 'हिस्ट्री ऑफ़ द रेड्डी किंगडम्स' (रि० आ० रे० कि०) भाग ५, पृष्ठ १३७-१४३।

२. 'पंडुवा सुरताणि पावडमु चिच्चिन,' 'भीमेश्वर-पुराणमु', अ० १।

३. हि० आ० रे० कि०, भाग १, पृष्ठ १४३।

को सताते नहीं थे : रेड्डी राज्य के अन्तिम दिनों में वैष्णव धर्म दक्षिण की ओर से आन्ध्र देश में प्रवेश करने लगा था। आयंगार लोग आ-आकर लोगों को तिरुमन्त्र की दीक्षा देने लगे थे। सन् १३४० ई० से सन् १३७० तक कारकोंडा में मुम्मडि नायक नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य-काल में श्रीरंग पट्टण से पराशर भट्ट नामक वैष्णव गुरु ने कोटकोंडा पहुँचकर राजा को अपना शिष्य बना लिया। फिर उसने सारे गोदावरी मण्डल में वैष्णव-धर्म को फैलाया।[1]

अन्तिम रेड्डी राजा कुमारगिरि इत्यादि स्वयं वैष्णव तो हुए, किन्तु उन्होंने दूसरों के साथ कोई बलात्कार या अत्याचार करके अपना धर्म नहीं फैलाया।

शैव-शक्ति नाम से लोगों में अनेकों देवियों का भजन-पूजन चलता था। 'कोमलादुवर्द्धेरुकोम्मॅ गोगुलम्मॅ', महितगुणमतल्ली श्री मंडॅतल्ली, नूकाम्बॅ, घट्टाम्बिकॅ, मणिका देवी इत्यादि शाक्त देवियों की मूर्तियाँ द्राक्षारामम् में वर्तमान थीं।[2] काकतीय युग की देवियों का प्रभाव अभी भी काफी था। "कलौ मैलारु भैरधा"[3]-जैसी संस्कृत-सूक्तियों के बन जाने के कारण इन नये देवताओं का आदर खूब बढ़ गया। एकवीरादेवी को भी लोग अभी भूले नहीं थे। शूद्र जातियों के अन्दर तो और भी अनेक देवियों का सम्मान था। कामाक्षी, महाकाली, चण्डकी, नवकाजिय्या, काली, कम्बिका, विंध्यवासिनी, एकवीरा यह सब उनकी आराध्य देवियाँ थीं, उन्हें ताड़ी, शराब के घड़े तथा मांसादि के भोग चढ़ाते थे। पूजा व इस विधि को साक पट्टु कहा जाता था और इस कार्य में स्त्रियाँ आगे-आगे रहती थीं।[4]

१. चिनकूरि वीरभद्र राव द्वारा लिखित 'आन्ध्रुला चरित्रमु' भाग ३, पृष्ठ १२४।

२. 'भीमेश्वर-पुराणमु', अ० १, पृ० ९९-१०२।

३. 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' (बत्तीसी), प्रथम भाग, पृष्ठ ८५।

४. वही, पृष्ठ १०३।

उक्त 'सांकपट्टु' शब्द का प्रयोग तेलंगाना के ग्रामीणों के अन्दर आज भी होता है। अर्थ है जल चढ़ाना, भोग चढ़ाना आदि। निघण्टु से इस शब्द की कोई व्युत्पत्ति नहीं मिलती। इससे यही सिद्ध होता है कि द्वात्रिंशिक का रचयिता तेलंगाना का ही निवासी था। गोपराजु ने 'काकती' को मूल शक्ति कहा है और वरंगल को ही एकशिला नगर कहा है।[1]

शैव-धर्म के प्रचार के साथ 'स्कंद पुराण' का विस्तार भी बढ़ता गया। शैव गुरु अपनी कल्पित कथाओं को 'स्कंद पुराण' में जोड़-जोड़कर यह भी कह दिया करते थे कि अमुक श्लोक अमुक खण्ड का है 'स्कन्द पुराण' सवा लाख श्लोकों का ग्रन्थ है, किन्तु उसमें कई लाख श्लोक नये और बढ़ा दिये गए हैं। 'स्कन्द पुराण' का असली रूप क्या था, इसका अनुमान अनुसन्धान के बाद ही लग सकता है।[2]

'मूलगूरम्मॅ' कोंडावीटि रेड्डियों की कुलदेवी थी। देवी का यह मन्दिर गुण्टूर जिले की नत्तेपल्ली तहसील के अमीनाबाद गाँव में आज भी विद्यमान है।[3]

आजकल के अपने त्यौहारों में और उन दिनों के त्यौहारों में कोई अन्तर नहीं था। किन्तु निम्न उद्धरण से त्यौहारों की विशिष्टता पर प्रकाश पड़ता है :

> "नाग-चौथ[4] के दिन जाड़े का श्रीगणेश,
> जाड़े-जाड़े में रथ-सप्तमी[5] के दिन प्रवेश।
> जब पूस और अगहन, दोनों का संधिकाल :
> सरदी के मारे दीन-जनों का बुरा हाल।

---

१. 'सिंहासन-द्वात्रिंशिक' (बत्तीसी), द्वितीय भाग, पृष्ठ ५०।
२. 'भीमेश्वर-पुराणमु', प्रथम अध्याय, पद्य २५।
३. 'रेड्डीसंचिका', पृ० ६६।
४. कार्तिक शुक्ल चतुर्थी। नागुल-चचविती और नाग-पंचमी भी कहते हैं।
५. माघ शुक्ल सप्तमी।

जिस दिन कि मकर-संक्रांति, तिपहरे, धूप-ढले,
भाई-भाई के खेल प्रेम के साथ चलें।
बैठीं चूल्हे के पास बहू के संग सास
रगड़ों-झगड़ों में गरमाती हैं सर्द साँस![1]

तैलंगाना में गरुड़-पंचमी को नाग पंचमी होती है। कृष्णा आदि जिलों में कातिक सुदी चौथ को। ऊपर के त्यौहारों को सभी जगह समान मर्यादा प्राप्त है। वैष्णव (आषाढ़) एकादशी को महत्त्व देते हैं, तो शैव शिवरात्रि को। तेलुगू देश के अन्दर इसका प्रचार बढ़ाने के लिए कवि श्रीनाथ से 'शिवरात्रि माहात्म्यमु' लिखवाया गया था। उस माहात्म्य से ही पता चलता है कि आज की तरह उन दिनों भी शिवरात्रि की रात को जुआ खेला जाता था।

दीपावली यानी दिवाली को तेलुगू में 'दिविली' भी कहते हैं। तेलुगू में हर पूर्णिमा तथा अमावस के अलग-अलग नाम हैं। ये नाम काकतीय युग से ही चले आ रहे हैं। जैसे एरुवाक या दवनपुन्नम, नूलिपुन्नम (सावन पूनो), आदि। पालकुरिकी सोमनँ ने अपने 'पण्डिताराध्य' में श्रावण पूर्णिमा को ही नूलिपुन्नम कहा है, क्योंकि इस दिन स्त्रियाँ पीपल के पेड़ पर सूत चढ़ाती हैं। 'नूलु' सूत को ही कहते हैं। विशेषकर स्त्रियाँ ही नाना प्रकार के व्रत आदि रखती हैं। इन व्रतों का उद्देश्य उनके गानों और पूजा-विधान से यही मालूम होता है कि अधिकतर व्रत सन्तानोत्पत्ति तथा ऐश्वर्य-वृद्धि के उद्देश्य से किये जाते हैं। (दक्षिण में व्रत के माने केवल उपवास के ही नहीं हैं। विशेष देवी-देवताओं की पूजा के लिए जो पूजा-विधान है, वही व्रत अथवा 'नोमु' कहलाता है। उपवास भी रखा जाता है। —अनुवादक)

भैरव आदि देवताओं को और काली आदि शक्ति देवियों को पशु-बलि दी जाती थी। इस आशय की सूचनाएँ तेलुगू साहित्य में जगह-

१. 'शिवरात्रि-माहात्म्यमु', चौथा अध्याय, पद्य २५ और २७ (चार-चार पंक्तियाँ)।

जगह मिलती है। शैव सम्प्रदाय में शाक्त तथा भैरव-तन्त्र आदि वाम-मार्ग-प्रेरक तन्त्र-साहित्य का धीरे-धीरे आधिक्य हो चला। लोग वीर-शैव बनकर प्रायः आवेश में आकर जहाँ-तहाँ आत्म-बलिदान भी कर दिया करते थे। इस प्रकार की घटनाओं की चर्चा पाल्कुरिकी ने बहुत की है।

महादेव की पूजा में अपने शरीरों की बलि देने वाले अथवा लिंगायत सम्प्रदाय के लिए अपने सिरों की भेंट चढ़ाने वाले व्यक्तियों की गणना अनुपम वीरों में होने लगी। स्मारक के रूप में जगह-जगह उनके लिए वीरशिलाएँ खड़ी की गईं। अपने-आप पेट में छुरा भोंके हुए और अपना सिर काटकर हथेली पर रखे हुए मूर्तियाँ देश के अन्दर जहाँ-तहाँ मिलती हैं। भक्तों और अभिमानियों ने उनके स्मारक के रूप में 'वीर गुड्डम्' भी बनवा छोड़े हैं।

शाक्त ग्राम-देवियाँ तथा शिवजी के रुद्र कहलाने वाले देवता सभी द्राविड़ी हैं। यह मूढ़ विश्वास कि मरे हुए लोगों की प्रेतात्माएँ भूत बनकर या शिव-शक्ति बनकर लोगों को सताती हैं, आदि काल से अब तक बराबर चला आ रहा है। हमारे पूर्वजों में भी इस प्रकार का विश्वास था। इसके प्रमाण प्राचीन कवियों की रचनाओं में भरे पड़े हैं। श्रीनाथ की रचनाओं में अनेक स्थलों के ऊपर इन मूढ़ाचारों पर प्रकाश डाला गया है। पल्नाडि के देवी-देवताओं के सम्बन्ध में भी श्रीनाथ ने बहुत-कुछ कहा है :

> **"वीर शैव ही महादेव के दिव्य लिंग हैं।**
> **विष्णु, चेन्नु या कल्लिपोत राजू ही सचमुच,**
> **गहरे डूब विचारो अगर, काल भैरव हैं।**
> **अंकम्म देवी, ग्राम शक्ति, ही अन्नपूर्णा !"**

डॉ० नेलटूर वेंकट रमणय्यं ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'ऑरिजन ऑफ साउथ इण्डियन टेम्पुल्स' ('दक्षिण भारत के मन्दिरों का उद्भव') में श्रीनाथ की रचनाओं के आधार पर ऐसे देवी-देवताओं के अनेक नाम गिनाये हैं। अक्किराजु उमाकांतम् ने 'पल्नाडिवीरचरित्रम्' की

भूमिका में उपर्युक्त पद्य को कुछ बदलकर लिखा है :

"वीर शैव ही महादेव के दिव्य लिंग हैं।
विष्णु नायुडु अथवा कल्लिपोल राजू ही,
आँखों वालों की दृष्टि में, कालभैरव हैं,
अंकम देवी ही तुहिनाद्रि-सुता गौरी हैं,
मणिकर्णिक विमलांबु गंगाधरा पोखर ही,
गरिमपुडि-पट्टण ही काशी है, कि जहाँ पर
मरने वाले शिवता को पहुँचा करते हैं।"

विजयवाड़ा के कनक दुर्गम्में के सम्बन्ध में नेलटूर वेंकटरमणय्यें ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—"एक गाँव में सात भाई ब्राह्मण थे। उनके कनकम्में नाम की एक छोटी बहन थी। भाइयों ने बहन के चरित्र पर सन्देह करना शुरू किया। कनका कुए में कूदकर मर गई। फिर तो वह शक्ति (भूत) बनकर लोगों को सताने लगी। बस क्या था उसके नाम से एक मन्दिर खड़ा हो गया।" नेलटूर ने ऐसी और भी घटनाओं का उल्लेख किया है। "नेल्लूर जिले की दर्शी तहसील के अन्तर्गत किसी गाँव में लिंगम्में नामक एक गरीब औरत किसी धनवान के घर काम-काज करती थी। मालिक ने उस पर चोरी का अभियोग लगा दिया। लिंगम्में कुए में कूद पड़ी और 'शक्ति' बन गई। पोदिलम्में भी ऐसी ही एक गरीब औरत थी। उसे लोगों ने किसी ऐसे ही अभियोग में मार डाला। बाद में वह 'शक्ति' बनकर पूजा की अधिकारिणी बनी। कोई सौ वर्ष की बात होगी, गूडा कोटय्यें नामक एक लिंगायत ने किसी सधवा गडरनी से सम्भोग किया, जिस पर गडरिये ने उस लिंगायत को मार डाला। मरकर वह "कोटय्यें कोंडें—देवरा" के रूप में प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार आंध्र-देश के अन्दर नित नये देवी-देवता पैदा होते आए हैं और मरते आंध्रों के अंध-विश्वास और मूर्खता को प्रकट करते रहे हैं।

नर-बलि देने की प्रथा भी थी। नर-बलि प्रायः बिखरे-बिखरे निर्जन

प्रदेशों में ही शक्ति या काली के मन्दिरों में हुआ करती थी :

भैरव के उस 'चंपुडु-गुडि' में छिन्न-कलेवर
दम्पति के सिर और धड़ यों पड़े देखकर
सम्पादित-भय रुद्राकम्पित उस 'सेट्टी'[1] ने
बन्द कर लिया दोनों आँखों को, घबराकर।[2]

काल-भैरव के मन्दिरों को 'चंपुडु गुडि' अर्थात् 'मारक मन्दिर' कहा जाता था। गोंड कोया आदि जंगली जातियों में नर-बलि की प्रथा अपेक्षाकृत अधिक थी। नर-बलि चढ़ाने का समारोह किस प्रकार का होता था, इसका वर्णन एक कवि ने यों दिया है—

"उस बस्ती की ओर से कोलाहल मचाते, सिंघे फूँकते, अलगोजे टेरते, ढोल-डफला पीटते और इन बेढब बाजों-गाजों की आवाजों के साथ अपनी चीख-पुकारों, धाड़-चिंघाड़ों को जोड़कर दिशाएँ गुँजाते, पहाड़ों-कंदराओं को फाड़ते हुए से वे जंगली लोग अपनी मण्डली के बीचोंबीच एक दीन-हीन व्यक्ति को कुङ्कुम, गुलाल, फूल आदि से पूजते सिर के बालों को बिखेरे उछलते-कूदते, हाथों में छुरे-कटार चमकाते आगे बढ़ आ रहे थे।"[3]

वीर शैव सम्प्रदाय की व्याप्ति के कारण इस प्रकार के कुछ घोर आचार तेलुगू देश में फैल गये। कुछ प्रबोधकों ने उपदेश दिया कि शिवार्पण करके अपने अंगों को आप काट-काटकर महादेव के लिंग पर चढ़ाना, आत्म-हिंसा करना और अन्ततोगत्वा अपने सिर को ही काटकर चढ़ा देना, असीम भक्ति के लक्षण हैं, ऐसा करने वाले निश्चय ही कैलाश-वास प्राप्त करेंगे; शिव-सायुज्य पाकर सच्चिदानन्द की प्राप्ति करेंगे! भक्त-जनों ने उस पर विश्वास किया और उसी प्रकार आचरण किया।

रेड्डी राजाओं में से एक अन्नय रेड्डी किसी युद्ध में वीरता के साथ लड़ता हुआ मारा गया। उसका पुण्य मानिये या कि और कुछ, श्री शैल

१. २. 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', प्रथम भाग २, पृष्ठ ७८।
३. ,, ,, द्वितीय भाग, पृष्ठ ९७।

पर्वत पर मल्लिकार्जुन के मन्दिर से नंदी-मंडप के समीप सन् १३३७ ई० में 'अन्नवेमु' ने अन्नय रेड्डी के स्मारक के रूप में एक 'वीर शिरोमंडप' का निर्माण करवा दिया। इस मंडप के अन्दर एक शिलालेख है, जिसमें लिखा है कि "**इस मंडप में अनेक वीर महा साहसपूर्ण कार्य किया करते थे। फरसों, गँडासों और कटारों से अपनी जीभ और सिर तक काट-काट लिया करते थे।**" ऐसे ही मंडपों को शायद चंपुडुगुडु (मारक मन्दिर) कहा जाता था।[1]

श्री शैल पर्वत पर भक्तों की सरल मृत्यु के लिए एक मार्ग और भी था। वह था 'कनुमारि'!

कनुमारि

यह शब्द न तो 'शब्द रत्नाकर' में है, और न ही 'आंध्र वाचस्पत्य' में। मेरे जानते तो इस शब्द का प्रयोग केवल दो ही कवियों ने किया है। पाल्कुरिकी सोमनाथ ने और नाचनॅ सोमयाजी ने। हाल ही में श्री वेंटूरि प्रभाकर शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'तेलुगु मेरुगुलु' में इस शब्द पर चर्चा की है। इससे मालूम हुआ कि तिक्कनॅ सोमयाजी ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है :

> "**प्रायश्चित्त ताड़ी के पीने के पातक का :**
> **कंठ में उँडेले गरम-गरम पिघला लोहा,**
> **धधकती ज्वाला में पैठकर जल मरे,**
> **या कि गनुमारी से महाप्रस्थान करे !**"[2]

'गनुमारि' या 'कनुमारि' का अभिप्राय है 'भृगुपतन'। मूल संस्कृत महाभारत में लिखा है :—"**मरु प्रपातन् प्रपतन्**"। इसकी व्याख्या यों की गई है : "**निर्जल-प्रदेश-पर्वताग्राल्-पतनम् !**" यानी निर्जल प्रदेश में पहाड़ी की चोटी से गिरकर मरना। नाचनॅ सोमयाजी का प्रयोग इस प्रकार है—

१. 'रेड्डी संचिका', पृष्ठ ३०, ३१।
२. 'आंध्र महाभारत', शांति पर्व, १-३०७।

कनुमारि दौड़ मरो
अथवा विष पीके,
धारा में डूब मरो,
क्या होगा जीके ?
मानो यदि मेरी बात
कर लो आत्मघात ![1]

इस पर श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री ने लिखा है :—"श्री शैल पर्वत पर कर्मारीश्वर नामक एक पुण्यस्थल है। वह एक पहाड़ी चोटी है। पुण्य लोक की प्राप्ति के उद्देश्य से लोग उस पर से धरती की ओर दौड़कर प्राण-त्याग किया करते थे। शिवरात्रि को कोई नीचे गिर रहा है तो कोई अधर में लटका-अटका है, और कोई दौड़ के लिए उद्यत खड़ा है। भक्तजन वहाँ पर लगातार दौड़ लगाते ही रहते थे। पता नहीं चलता था कि कौन दौड़ रहा है और कौन गिर रहा है। एक ताँता-सा लगा रहता था। शास्त्री जी ने 'पंडिताराध्य' का हवाला देते हुए लिखा है कि कर्मारेश्वर में दौड़ने वालों, गिरने वालों, और बीच ही में रह जाने वालों की लाशों की गिनती करना असम्भव था। 'पंडिताराध्य' के अंतिम भाग में 'कर्महरि-महिमा' नामक एक अध्याय[2] में लिखा है—"देखो यह कर्महरेश्वर है !"

प्राचीन-काल में 'बल्लह' नामक एक राजा कर्महरेश्वर में अपनी पत्नी के साथ मल्लिकार्जुन का स्मरण करता हुआ पहाड़ की चोटी से गिरकर 'शिवैक्य' को प्राप्त हुआ ! कर्मवीर का शब्द ही तेलुगू में 'कनुमारि' हो गया। तिक्कन्न और नाचन दोनों ने ही 'कनुमारि' का प्रयोग किया है। जिस प्रकार संस्कृत शब्दों को तेलुगू पदों में परिवर्तित किया जाता है उसी प्रकार तेलुगू शब्दों को भी संस्कृत बना लिया जाता था। कनु (देखना) + मारि (मृत्यु)। इसीसे कर्मारि, कर्महरि, कर्महरेश्वर

१. 'आन्ध्र महाभारत', शांति पर्व, ४-५६।
२. पृष्ठ ४७२, 'आंध्र-पत्रिका प्रकाशन'।

आदि बने होंगे। वीर शैव सम्प्रदाय के विजृंभण काल में—लोग अपने

"गलदेशों में, जीभों में, अथवा कानों में
पेटों में, सीनों में, गालों में, रानों में,
पलक-पपोटों तक में जलते बाण घुसाकर
अंग-अंग के चर्मस्तर को छेदों से भर"

लिया करते थे।[1]

भक्तजन अपनी जीभ, हाथ, स्तन और सिर तक को काटकर अपनी भक्ति प्रकट किया करते थे। ऐसे भक्तों की कोई कमी न थी।[2] काटने-छेदने के सिवा उन अंगों पर बड़े-बड़े दिये भी जलाते थे। ऐसी दशा में यदि श्री शैल पर्वत की किसी ऊँची चोटी से नीचे गहरे खड्ड में गिरकर भृगुपात द्वारा प्राण-त्याग को पुण्य-प्राप्ति का सरल साधन समझ लिया गया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? तिक्कन और नाचन के पहले ही यह कनुमारी काफ़ी प्रसिद्ध हो चुकी थी।

सगुन-असगुन पर लोगों का विश्वास भी अत्यधिक था। किसी राजकुमार के शिकार को निकलने पर जो असगुन हुए उनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

बिल्लियाँ लड़ पड़ीं, बोली छिपकली
तम्मळी दिख पड़ा, छींक आगे चली,
बिछुड़े बछड़े को बुलाती हुई
गाय भागी हुँकरती रँभाती हुई
काग की कर्कशा टेर कानों पड़ी
लादी लिये धोबिन आगे खड़ी,
कोढ़ी सामने आके डट गया
माथे तेल चुपड़े चुआता हुआ!
कौआ सारिका, बादुर, काठिया,

१. 'पंडिताराध्य चरित्र', पृष्ठ ४०६।
२. वही, पृष्ठ ४०७।

रहकटा सबने बाँये से दाँये किया
उल्लू डाके, खूसट चीखे
नाग फुँकारा, दब्बी तीखे
सुर गुहरा उठी, नीलग्रीवा उड़ा ![1]

सगुन के सम्बन्ध में 'क्रीडाभिरामम्' में कहा गया है :

पूरब में वह तारा टूटा, बाँये उल्लू बोला,
चलो, हमारे सारे कारज निश्चय पूरे होंगे !
पेड़ों की फुनगी-फुनगी पर मोर मनोहर स्वर में,
बोल रहे हैं, जीत हमारी होगी आज समर में !
मुर्गा, कठफोड़ा, गीदड़ या मोर अगर दिख जाये,
अन्त सफलता धरी मिलेगी, निश्चय जानो आगे !

गोधूलि के समय नगर में पैठो, शुभ फल होगा ! ब्राह्म-मुहूर्त सभी कार्य-प्रयोजनों के लिए उत्तम है । गार्ग्य सिद्धान्त ऊषःकाल के लिए है । बृहस्पति का मत है कि मुहूर्त्त निश्चित कर लेना चाहिए । विष्णु का मत है कि ब्राह्मण का वचन मानना चाहिए । जन्म-नक्षत्र के मुहूर्त के प्रश्न पर सब सहमत हैं । इसी प्रकार का एक पद्य 'क्रीडाभिराममु' में भी है । जिसका अन्तिम चरण है—"व्यास सतमु मनः प्रसादातिशयमु !" उसकी जगह श्रीनाथ ने "सर्व सिद्धान्त मभिजित्तु सम्मतम" कहा है । शेष तीनों चरण समान हैं ।

सगुन देखना केवल यात्रा के लिए नहीं, बल्कि अन्य सभी शुभ कार्यों के लिए भी जरूरी माना जाता था । तेल मलकर सिर से नहाने के लिए और बाल बनाने के लिए भी दिन-घड़ी देखी जाती है । नये घर में प्रवेश, खेतों की बुआई-कटाई, रोज़मर्रा के अनेक छोटे-बड़े कामों आदि के लिए घड़ी-मुहूर्त देखने की बात मनुस्मृति और पुराणों में कही गई है और हम लोग अनादि काल से उन पर अमल भी करते आये हैं । यह हमारी अमिट परम्परा है । यात्रा के लिए जब आज भी अच्छे दिन की

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिक', प्रथम भाग, पृष्ठ २५ ।

इतनी खोज रहती है तो फिर उन दिनों क्या दशा रही होगी !

जात-पाँत

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि रेड्डी-काल में जात-पाँत की अवस्था कैसी थी। रेड्डियों की गिनती चतुर्थ जाति (शूद्र) में थी। काकतीय राजाओं को भी स्पष्टतया शूद्र न कह सकने के कारण कवियों ने उन्हें **'अत्यर्केन्दुकुलप्रसून'** (चन्द्रवंशी या सूर्यवंशी नहीं) कहकर ही सन्तोष कर लिया था।[1] तब भी रेड्डी राजा यज्ञ, सोमपान इत्यादि क्षत्रिय-कर्म करते रहे। उन्होंने उन सभी लोगों से सम्बन्ध जोड़ा जो अपने को क्षत्रिय कहते थे या जो क्षत्रिय कहलाते थे। चोलों से, विजय-नगर के चक्रवर्ती राजाओं से, पल्लवों से, हैहयों से तथा अन्य कुलीन राजाओं से इन्होंने विवाह-सम्पर्क स्थापित किये। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वेलमों या कम्मों से भी इनकी कोई नाते-दारी रही होगी।

राचें और चोडें अपने को क्षत्रिय मानते थे। तमाम क्षत्रिय अपने सम्बन्ध में कहते हैं कि वे या तो सूर्य से पैदा हुए हैं या चन्द्र से। हम आज अच्छी तरह जानते हैं कि सूर्य या चन्द्र-मण्डलों से बच्चे पैदा नहीं हो सकते। अतः सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी आदि होने के गौरव के ढोल में पोल है। वास्तव में बलवानों ने अपने बाहु-बल से देश पर आक्रमण करके उसे जीत लिया था और पौराणिक ब्राह्मणों ने जब-जब उन पर दया की तब-तब उन विजेताओं को सूर्य अथवा चन्द्रमा से जोड़कर उन्हें क्षत्रिय बना-बना डाला। हूण, शक, बिष्क, कनिष्क आदि कितने ही अनार्य क्षत्रिय बन गए।

"चोडें राजा क्षत्रिय थे। उनके साथ रेड्डी राजाओं को किस प्रकार जोड़ा जा सकता है ? ऐसी शंका कुछ लोगों के दिलों में उठ सकती है। किन्तु चोडें चिरकाल से अपने को क्षत्रिय मानते और क्षात्र-वृत्ति निबाहते

---

१. **'भीमेश्वर-पुराणमु', तृतीय अध्याय, पृष्ठ ४१।**

आ रहे थे। इसलिए जब उन्होंने राजा की पदवी धारण की तब ब्राह्मणोत्तमों ने उन्हें सहज ही क्षत्रिय मान लिया। लेकिन रेड्डी राजा नये-नये ही राजा बने थे। वर्णाश्रम धर्म के बिगड़ने के बाद। इसीलिए ब्राह्मणों ने उन्हें क्षत्रिय न मानकर केवल उत्तम श्रेणी के शूद्र कहा है।"[1]

"पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में भी कोडँवीडु, राजमहेन्द्रवरम् के शासक रेड्डियों और राचॅ वालों की आपस में रिश्तेदारियाँ थीं। 'शिव-विलास' तथा 'कोरिमिल्ली' शिला-लेखों से उक्त कथन की सुस्पष्ट पुष्टि होती है।"[2]

श्रीनाथ ने 'भीमेश्वर-पुराण' आदि में कहा है कि 'चतुर्थ कुल' वाले भी क्षत्रियों के समान ही हैं तथा 'पद्मनायक वेलमॅं, कम्मॅं, सरिसर्ले, वंटर्ले आदि सभी बहुप्रकार शाखोपशाख' विभिन्न मार्ग हैं।"[3]

रेड्डी शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक चर्चाओं के बाद जो निष्कर्ष निकला है वह यह है कि ईसवी सन् की छठी-सातवीं शताब्दी से यह शब्द सुनने में आता है। पहले जब ये लोग छोटे-छोटे भूस्वामी थे, तब ये 'रट्टागुड़ी' कहलाये। रट्टा के अर्थ हैं राज्य, 'गुडि' के अर्थ हैं गुत्ता या ठेका। मतलब यह कि राज्य की रक्षा के लिए इन्हें गाँव दिये गए थे। ये रट्टगुडी ही बाद में रट्टाडि, रट्टडि, और फिर रेड्डी हो गए। 'पण्डिताराध्य' ने अपने 'शिवतत्त्वसार' में रेट्टडि शब्द का प्रयोग किया है, बाद के कवियों ने इस शब्द को ग्रामाधिकारी के अर्थों में और कहीं-कहीं दुष्ट और अत्याचारी के अर्थों में प्रयुक्त किया है। रट्टडी ही बाद में रेड्डी हो गया। सन् १४०० ई० से रेड्डी का शब्द स्थायी हो गया है। अन्यान्य जातियों के समान रेड्डियों में भी कई शाखाएँ हो गईं और उनके अलग-अलग नाम पड़ गए। पर ये शाखाएँ जाति नहीं, बल्कि सीमा अथवा प्रान्त सूचित करती हैं।

---

१. 'आंध्रुल' चरित्र, संपुट ३, पृष्ठ १३२।

२. ,, ,, ,, ३, ,, २६४।

३. 'भीमेश्वर पुराणमु', प्रथम अध्याय, पृष्ठ ३२।

गुण्टूर जिले की नरसारावपेट तहसील के कोंडीदेसा ग्राम के शिला-शासन में इस प्रकार लिखा है : "सम्वत् १०६९ की मकर-संक्रान्ति के दिन पोत्तपि चोड महाराजों के राज्यांतर्गत कम्मानाटी राचकोडुकुल (राजकुमार) मन्द डुलु, नूकनायकुलु, मोट्टावाडी गुटिकर्ता राजकुमार, देनटलु और नूकनायक सबने मिलकर कोय्यदोन केशवस्वामी भगवान् को 'ऊररुकम' और 'उलवरी परिकम' भेंट किये (दोनों स्थानीय कर हैं)। मतलब यह कि उन दिनों देवस्थानों के कार्य-निर्वाह के लिए गाँव के कुछ कर भगवान् के नाम अर्पित किये जाते थे अथवा भगवान् के लिए ऐसे कर लगाये जाते थे।

रेड्डियों की अनेक उपजातियाँ है, जैसे—पाकनाटी, पंटावेलनाटी, रे नाटी, मोरसा, पल्ले। ये नाम नाडु (प्रान्त-भेद) से पैदा हुए हैं। बोरगण्टी, पेडकण्टी, कुण्चेटी, मोटाटी, देसूरी आदि उपजातियों के नाम उन गाँवों के नामों पर रखे गए होंगे, जहाँ पर कि वे बसती थीं।[1]

वैश्यों में 'कोमटी' सम्मिलित हुए। उनमें कुछ भेद-अभेद भी पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में मल्लमपल्ली शेखरम् ने जो अंग्रेजी लेख लिखा है उनका अनुवाद यों है :—

"प्रौढ़ देवराय के समय वैश्यों तथा वैजातियों में जातीय झगड़ा हुआ। झगड़े के निबटारे के लिए राजा के पास आने पर उसने कोलाचल मल्लिनाथ तथा अन्य कुछ पण्डितों को 'धर्मासनपरिष्कर्ता' नियुक्त किया। इससे पहले ऐसा ही एक और विवाद खड़ा होने पर कंची (कांचीवरम्) में उसका फैसला हुआ था, जो शासनबद्ध हो चुका था। इस काम के लिए उसे यहाँ मँगवाया गया। उस शासन में लिखा था—'नार, अर्जर, तृतीय जाति हैं और वैश्य हैं। वैश्य पुरुष और स्त्री वैजातीय हैं। वैश्यों को स्वाध्याय तथा यज्ञादि का अधिकार प्राप्त है। वह व्यापार खेती तथा पशु-पालन का कार्य करते हैं। वैजातीयों में वणिज, कोमटी, वाणि-व्यापारी, वाणिज्य वैश्य, उत्तरादि वैश्य आदि सम्मिलित हैं। वैश्यों को

१. 'रेड्डि संचिका', पृष्ठ १२८, १३९।

ही सभी प्रकार की वस्तुओं के व्यापार का अधिकार है ।' **'कोमटिस्तुधान्य विक्रय मात्रे अधिकारोस्तियुक्तम्'** । कोमटियों को धान के व्यापार तक ही सीमित रखा गया था । ये तो कञ्ची के शिला-शासन के विषय हैं । पर वाक्य प्रमाण स्थानी मल्लिनाथ सूरी ने समस्त शास्त्र, इतिहास, पुराण, काव्य-कोश आदि का मन्थन करके निर्णय दिया कि वैश्य, उरुज, नागर, वणिज कोमटी, वणि-व्यापारी, वाणिज्य-वैश्य आदि सभी शब्द वैश्य शब्द के ही पर्यायवाची हैं, अतः वैश्य तथा वैजातीय भेदों को तिलांजलि ही दे देनी चाहिए । इस प्रकार उन्होंने अपना जयपत्र (फतवा) दे दिया । सम्भव है शायद मल्लिनाथ सूरी तत्कालीन वैश्य जाति के भारी सुधारक रहे हों ।"[1]

ब्राह्मण

अब हम ब्राह्मणों के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करें । जिस समय वीर शैवों ने ब्राह्मणों की महत्ता को गिराने का प्रयत्न किया था, ठीक उसी समय ब्राह्मणों समेत समस्त हिन्दू जाति में उथल-पुथल मचाने के लिए देश में मुसलमानों का अवतरण हुआ, दूसरी ओर वीर शैवों के मुकाबले में वीर वैष्णव पंच संस्कारों तथा प्रपन्नत्व सिद्धान्त द्वारा जात-पाँत के बन्धनों को चकनाचूर कर रहे थे । इतनी सारी शक्तियों का एक साथ आक्रमण होने पर भी ब्राह्मणत्व भंग नहीं हुआ । बल्कि उल्टी उसकी जड़ें और भी गहरी जम गईं । जात-पाँत-विध्वंसक सभी प्रयत्न ब्राह्मणों की महत्ता को मटियामेट करने के लिए ही थे । इसलिए ब्राह्मण चुपचाप बैठे नहीं रह सकते थे । अग्निमित्र, पुष्यमित्र, शालंकायन विष्णुकुण्डिन आदि के ब्राह्मण-राज्य ईसवी शताब्दी के आरम्भ से लेकर छठी शताब्दी तक कई स्थानों पर भली भाँति चलते रहे थे । उसी काल में वृद्ध स्मृतियों तथा उपपुराणों का जन्म हुआ था । सम्भवतः पुराणों की अपार संख्या भी तभी बढ़ी थी । स्मृतियों में भी हस्तक्षेप उन्हीं दिनों

१. 'हिस्ट्री आफ द रेड्डी किंगडम्स', पृष्ठ २७३ ।

हुआ। अनेक इतिहासकारों का मत है कि ठीक उसी तरह काकतीयों और रेड्डी राजाओं के युग में भी स्कन्दादि पुराण बढ़ाये गए हैं। तत्कालीन साहित्य में ब्राह्मणों का महत्त्व खूब दिखाई देता है। 'भोजराजीयम्' की रचना रेड्डी राजाओं के समय में हुई थी। उस ग्रन्थ में पग-पग पर ब्राह्मणों से प्रभावित कथाओं की भरमार है।

प्रचार-मात्र ही नहीं, बल्कि यथार्थ में भी वेद-शास्त्र आदि ब्राह्मणों तक ही सीमित थे। क्या षोडश संस्कार-कर्मों के लिए और क्या व्रत-पूजाओं के लिए, सभी शुभाशुभ कर्मों के लिए ब्राह्मण ही आधार स्तम्भ थे। जब ऐसे ब्राह्मण तो हाल-हाल तक पाये जाते रहे हैं, जिन्हें ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी और के द्वारा वेद-वेदांगों का अध्ययन सह्य नहीं था। फिर उन अन्ध विश्वासी दिनों में यह ब त कैसे सम्भव हो सकती थी? लेकिन प्रश्न यह है कि अगर वास्तव में ऐसी ही बात थी, तो यह कैसे हो सकता था कि ब्राह्मणेतरों में से 'सर्वज्ञ सिंगड्ड' और 'सर्वज्ञ चक्रवर्ती कोमटी वेमड्ड' बनकर निकालें? सम्भव है कि राजाओं को अपवाद मानकर उन पर ये नियम लागू नहीं होते थे। कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि ब्राह्मण श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रों की निधि बने हुए थे। उस समय सभी पुराणों के तेलुगू अनुवाद नहीं थे। इस कारण पुराणों की कथा आदि करने का काम ब्राह्मण ही किया करते थे। प्रचार-कार्य में पुराणों की महत्ता को ब्राह्मण भली भाँति जानते थे। पल्नाडि बालचन्द्र की माता ने अपने राजकुमार को विप्रों द्वारा पुराण-श्रवण करने का उपदेश दिया था :

> "अति श्रवण-मधुर मधु के समान
> जो विप्र बाँचते हों पुराण
> उनको जन-सभा बीच लाकर
> बिठलाना सानुराग सादर!"[1]

इस पद्य से दो-तीन बातें झलकती हैं। कथाकार के लिए 'ब्राह्मण'

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', भाग २, पृष्ठ २।

नहीं, बल्कि 'विप्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वेदपाठी विद्वानों को ही विप्र कहते हैं। दूसरी बात यह कि जिस स्थान पर कथा हुआ करती थी, वहाँ पर कथा सुनने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। तीसरे यह कि राजकुमार को भी उसी सार्वजनिक कथा के सुनने का उपदेश दिया गया था।

इन्हीं विशेषताओं के कारण ब्राह्मणों ने उन दिनों राजाओं के दीवान, सेनानी, विद्यागुरु और पुरोहित बनकर अपनी उच्च पदवी स्थायी कर ली थी। रेड्डी-इतिहास में ब्राह्मणों के प्रति भक्ति एक अपूर्व और विचित्र घटना है। ऐसी कि जैसी 'न भूतो न भविष्यति'। ब्राह्मणों के प्रति ऐसी भक्ति न तो रेड्डियों से पहले कभी थी और न बाद में ही कभी हो सकी। रेड्डियों को राज्याधिकार प्राप्त होने के बाद ब्राह्मणों की स्थिति किस प्रकार परिवर्तित हुई, इसका वर्णन स्वयं श्रीनाथ की कविताओं में मिलता है :

डाभों के छल्ले ही जिनमें पड़ते थे सदा
माणिक के छँगने उन उँगलियों ने पहने हैं !
गँगबट का लेप ही सदा था जिन माथों पर
तिलक, कस्तूरी के उन पर, क्या कहने हैं !
सूत का जनेऊ ही रहा है जिन वक्षों पर
उन्हीं पर मोतियों के हार झूमने लगे।
जिन चोटियों में लाल कमल ही खुँसते थे
उन्हीं चोटियों को स्वर्णफूल चूमने लगे !
राज्य में वेम भूप-सोदर वीरभद्र जी के
गोदावरी तट के ब्राह्मण बदल गये ![1]

श्री वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री भी अपने 'शृंगार श्रीनाथ' में स्वीकार करते हैं कि अग्रहार आदि भू-ग्रामदानों से ब्राह्मणों का विपुल सत्कार किया जाता था।

१. 'भीमेश्वर-पुराणमु', अध्याय १, पृष्ठ ४१।

रेड्डी राजाओं के अन्दर जो श्रद्धा-भक्ति ब्राह्मणों के प्रति थी, उसकी उपमा भारतीय इतिहास में कहीं और उपलब्ध हो सकेगी, इसमें भारी सन्देह है। वरंगल के राजाओं ने जो भी दान-धर्म किये, वे तो बाद में मुसलमानों के हाथ लगे। रेड्डी राजाओं ने जिन-जिन प्रांतों को पुनः प्राप्त किया था, उनमें पुराने राजाओं के दान-पत्रों की मर्यादा रखते हुए उन सबको फिर से चालू कर दिया था। खुद रेड्डी राजाओं ने भी ब्राह्मणों को अमाप खेत और अनगिन गाँव दान में दिये। जो गाँव ब्राह्मणों को दान के रूप में दिये जाते थे, उन्हें अग्रहार कहा जाता था। दक्षिण भारत में, और विशेषकर आंध्र के अन्दर ऐसे अग्रहार अक्सर पाये जाते हैं। इतिहासकारों का मत है कि रेड्डी राजाओं की दान-प्रवृत्ति और उनके उदार दानों से आकृष्ट होकर कितनी ही ब्राह्मण-मण्डलियाँ दूर-दूर से आ-आकर कृष्णा-गोदावरी के दोआबे में बसने लगी थीं। आंध्र देश के एक प्रामाणिक तथा सम्माननीय कवि एर्रा प्रगडा हैं, जो 'प्रबन्ध परमेश्वर' के नाम से याद किये जाते हैं, और जिन्हें यह मालूम ही नहीं था कि मुख-स्तुति क्या चीज होती है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'उत्तर हरिवंश' में लिखा है :

"विद्यावृद्ध तपोवृद्ध विप्रों को
दे-देकर अग्रहार,
सौंपे उन्हें यज्ञों के कार-बार;
मनोहारी मन्दिर बनवाये,
खुदवाये सर,
सत्र, धर्मशालाएँ, यात्रीघर,
प्याऊ, फल-छाया-वन-
उपवन लगवाये और
निधियों की स्थापना की ठौर-ठौर;
हेमाद्रि-परिकीर्तित अमित दान
किये हैं, करते हैं, करेंगे भी

भरे हैं, भरते हैं, भरेंगे भी
शुभ कर्मों के अक्षय भांडागार—
इस उदार
'पुनरुवल-कुल' श्री
बेन्-विभु के भाग्य-वैभव की
महिमा को कौन गा सकेगा रे ?"

वैसे ही वेन्नेलकंटि सूर कवि ने भी कहा है :

"जीवन भूसुरों को
विरुद पंटकुल-नृपतियों को
अपना विश्राम प्रजाजन को,
यों सब-कुछ अर्पित कर
अनें वेमनें-प्रभु ने
कीर्ति-लहर सौंपी
त्रिभुवन को !"

अब उन ब्राह्मणों की दशा क्या थी, वह भी देख लीजिए। कविवर गौरनें ने एक पुरोहित ब्राह्मण का जुगुप्सा-जनक चित्र इस प्रकार खींचा है—

"रोगियों से कुछ नोंच-खसोटकर, मुरदे ढो-ढोके कुछ जुटाकर, बलाएँ टालने के अनुष्ठान करके, सप्तक श्राद्धों में 'तृप्तास्त' होकर यानी जी भर खाकर, ग्रहण आदि पर्वों पर माडा (दमडी धेला) दक्षिणा लेकर, घर-घर पत्रा पढ़कर, द्वार-द्वार 'वार' माँगकर, दान के दोनों को अंगोछे के छोरों में गठिया बाँधकर और कोई हीला न मिले तो गले में झोली डाले गली-गली मुट्ठी माँगकर, और इस प्रकार जुटाये धन को ब्याज पर देकर, कागज लिखाकर, वृद्धि, चक्रवृद्धि, मासवृद्धि आदि ब्याजों पर ब्याज जोड़-जोड़कर पुरोहित अपना जीवन बिताया करता है।"[1]

१. 'हरिश्चन्द्र', भाग २, पृष्ठ १४५-१४६।

गौरनें ने कर्ज लेने और कर्ज उड़ा देने के भी बड़े रोचक चित्र खींचे हैं—

"धनी महाजनों के घर जाकर, मीठी-मीठी बातें बनाकर, विश्वास बिठाकर, मन पजाकर, नकली जेवर, लाखभरे गहने, नकली सोना, पीतल-लोहे पर मुलम्मे का माल, नकली जवाहर लेकर, रात के समय चोरी-चुपके पहुँचकर, 'यह रख लो' कहकर, उन पर लाख मुहर कराके, बदमाशों को भाड़े पर बिठाकर, इस प्रकार कर्ज लेकर, उड़ा देकर, घरे जाकर, दरबार में घसीटे जाकर, दण्ड पाकर, पत्थर ढोकर, मार खाकर, (किसी भी तरह) लोगों को हरना चाहिए, यही उनकी मान्यता है।"[1]

रेड्डी राजाओं ने आंध्र में अनेक शिवालय बनवाये और प्राचीन मन्दिरों के नाम दान-पत्र अर्पित किये। आंध्र ही नहीं, दक्षिण में द्राविड़ देश के मन्दिरों को और उत्तर भारत के मन्दिरों को भी दान-धर्म दिये।

रेड्डीराज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हेमाद्रि नामक एक विद्वान् ने 'आचार-व्यवहार' के सम्बन्ध में एक विशाल शास्त्र की रचना की थी। काफी दिन तक उसका प्रचार रहा। रेड्डीकालीन प्रामाणिक कवियों ने लिखा है कि हेमाद्रि के उस शास्त्र का अनुकरण करते हुए रेड्डी राजा षोडश-दान आदि देते थे। किन्तु वह दान कोई ऐसी-वैसी भीख नहीं थी। सरबस लुटाकर दीवालिया बना डालने वाले होते थे ये दान तो! गोदान, भूदान, हिरण्य दान और अग्रहार दान के नाम पर धन-दौलत के साथ गाँव-के-गाँव दान में दे दिए जाते थे। मतलब यह कि वे अपने जीवन में ही अपनी जायदादों की हिस्सा-बाँट कर डाला करते थे। इतना भारी प्रभाव था हेमाद्रि का।

आंध्र में समस्त धर्मशास्त्रों में सर्वाधिक प्रचार 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का था। रेड्डी राजाओं को अपने से दो सौ वर्ष पूर्व के विज्ञानेश्वरी की व्याख्या ही अधिक मान्य थी। इसीलिए तत्कालीन कवि केतनें ने उसे तेलुगु गद्य में लिखा था।

१. 'हरिश्चन्द्र', उत्तर भाग, पृष्ठ १५१, ५२।

खेती तथा प्रजा की परिस्थिति

जान पड़ता है कि रेड्डी-युग में सारा आंध्र 'नाडुओं' अथवा 'सीमों' के नाम से अनेक प्रान्तों में बँटा हुआ था। पर यह कोई नया बँटवारा नहीं था। आंध्र में चिरकाल से यह प्रथा चली आई है। राज महेन्द्री से ग्यारह मील की दूरी पर 'कोरुकोंडे' स्थान पर 'मुम्मडि नायक' का शासन था। उसने अपने इलाके को जिन सीमाओं में बाँट रखा था, उनके नाम थे—कोन सीमें, अंगर सीमें, कोठाम सीमें, कुरबाट सीमें, चंगल नाडु सीमें आदि। ये सीमें गौतमी (गोदावरी) नदी के दोनों ओर फैले हुए थे। 'आर्यवट' के शिलालेख में उल्लेख है कि "केला, नारियल, कटहल, सुपारी, आम इत्यादि के बाग-बगीचों से भरा हुआ यह इलाका अत्यन्त रमणीक है तथा आंध्र देश की कीर्ति का कारण बना हुआ है।"[1] इसी "श्री शैल पर्वत के पूर्वी भाग से लेकर सीधे समुद्र-तट तक 'गुण्डला कम्मा नदी' के तटवर्ती प्रान्त को 'पुंगीनाडु' कहा जाता था।"[2]

ऐसे सीमें अथवा प्रान्त आन्ध्र में अगणित संख्या में विद्यमान थे। किन्तु रेड्डी राजाओं ने शासन की सुविधा की दृष्टि से अपने राज्य को जिन विभागों में बाँट रखा था उनके नाम ये हैं—कोंडवीडु, विनु-कोंडे, बेल्लम कोंडे, अद्दंकी, उदयगिरि, कोटें, नेल्लूर, मारेल्लॅ, कंदु-कूरु, पोदिली, अम्भन बोल, चुंडी, दूपाडु, और नागार्जुन कोंडा।[3]

पल्लवों तथा काकतीयों ने देश के जंगलों को कटवाकर नई बस्तियाँ बसाई थीं और नौतोड़ जमीनों को खेती के योग्य बनाकर उन्हें किसानों को सौंप रखा था। इससे विदित होता है कि ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व कर्नूल, बल्लारी आदि प्रान्त जंगलों से भरे हुए थे। तत्कालीन शिला-लेख से ज्ञात होता है कि राजा प्रताप रुद्र ने स्वयं कर्नूल प्रान्त में जाकर वर्तमान कर्नूल नगर से चारों ओर दस-पन्द्रह मील तक जंगल

१. 'आंध्रुलचरित्रमु', भाग ३, पृष्ठ १२२।

२. ,, ,, ३, ,, १३८।

३. 'हिस्ट्री ऑफ़ द रेड्डी किङ्डम्स', पृष्ठ २१८।

कटवाकर बहुत सारे गाँव बसाये थे। हमारे अपने युग में तेलंगाने के अन्दर कुल सौ साल पहले तक भी जंगल कटवाकर गाँव बसाये जाते रहे हैं। फिर उन दिनों अगर जंगल काटकर बस्तियाँ बसाई गई हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

आज की तरह उस समय जमीनों का किसानों के नाम पट्टा नहीं होता था। सारी जमीन राजा की मानी जाती थी। जमीनें साल-ब-साल अथवा नियमित समय के लिए जोत पर दी जाती थीं। अपने-अपने बैलों की संख्या के हिसाब से सब किसान साझे में काश्त करते थे। गाँव के बारहों पौनियों कामदारों को फसल पर नियमित मात्रा में अनाज दे दिया जाता था। फिर राज्य का छठा भाग अलग करके शेष नाज को जोत और बैलों के हिसाब से काश्तकार आपस में बाँट लिया करते थे। इस प्रकार उस समय मानो सामूहिक किसानी चला करती थी। किन्तु इस सामूहिक खेती का नियम ब्राह्मणों के अग्रहारों पर लागू नहीं था। अग्र (अगला या पहला) हार (भूमि, हिस्सा) अलग करने के बाद ही बाकी जमीनें किसानों को जोत पर दी जाती थीं।

खेती की जमीनों को नापने के लिए निश्चित नाप का एक डण्डा होता था। उसे गड़ी (गडा = बाँस) कहा जाता था। 'केसर पाटी-गडा' प्रसिद्ध था। जमीन की पैमायश के लिए शास्त्रों की भी रचना हुई थी। नन्नय भट्ट के समकालीन कवि मल्लनें ने 'गणित शास्त्र' लिखा था, जो आज भी अप्रकाशित ही है। कहते हैं कि तत्कालीन खेती तथा जमीन की पैमायश आदि विषयों की आलोचना-विवेचना उस ग्रन्थ में काफी विस्तार के साथ की गई है। कई ने संस्कृत 'गणित शास्त्र' को तेलुगु में अनुवादित किया। 'क्षेत्र गणित' के नाम से ताड़ के पत्तों पर खेतों के नक्शों के साथ बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गए थे। काकतीय कालीन क्षेत्र गणित के आधार पर मल्लनपल्ली सोमशेखर शर्मा ने जो बहुत सारे तथ्य उद्धृत किये हैं, उन्हीं उद्धरणों के अनुसार आगे के माप भी दिये जा रहे हैं—

"तीन जौ मिलाकर अंगुष्ट
मध्यांगुल का मध्यप्रदेश
बित्ते में बारह अंगुष्ट
आकनिष्ठिका करतल-देश
एक गज़ें बित्ते बत्तीस
बाँस खेती का नाप-नवीस"

उस समय खेतों को तूम (कुड्ड) भर की जमीन, खंडी भर की जमीन आदि कहा करते थे। आज भी तेलंगाने के अन्दर इसी तरह बोला जाता है। रायल सीमें में भी हाल तक यह अभिव्यक्ति प्रचलित थी। मतलब यह कि उस जमीन में कुड्ड भर या खंडी भर बीज की बुआई हो सकती है। अनाज के नाप के सम्बन्ध में यह है :

"चौदह 'पल्के' का 'सोला'
अथवा पौने दो 'वीसा'
दो 'सोले' का इक 'तौआ'
उसके दूने का 'माना'
उसके दूने का 'अड्डा'
सपाद छप्पन 'पाटी' का
होता है भैया 'इरुसा'
एक 'तूम' जिसका दूना
और एक 'कुंचा' आधा।"[1]

खेतों के माप में 'निवर्तनम' अथवा 'मरुत्' का प्रयोग किया गया है। और इस सम्बन्ध में जो माप दिये गए हैं वे यह हैं :

१० हाथ = १ दंड (बाँस)
१० दंड = १ निवर्तन
१० निवर्तन = १ गौचर[2]

१. 'हिस्ट्री आफ द रेड्डी किंगडम्स', पृष्ठ ३६५।
२. वही, पृष्ठ ३६७।

इनके अतिरिक्त रेड्डी युग में कुछ अन्य माप भी चालू थे :

४ हाथ = १ बार (बाँह)

४ बार = १ बाँस

४०० बाँस = १ कुंटा

१०० कुंटा = १ कुच्चल, खंडिक अथवा तूमा ।

सोने-चाँदी की धातुओं को 'माडा' से तोला जाता था । 'शब्द रत्नाकर' में 'माडा' का शब्दार्थ है 'अरवरहा' अर्थात् 'आधा वरहा' । माडा सोने का एक छोटा-सा सिक्का था । कोंडावीडु राजाओं के सम-कालीन कवि कोरवि गोपराजु ने कहा है :

"एक 'कर्ष' में 'माडे' चार
चार 'कर्ष' का एक 'पलम्'
सौ 'पलमों' का 'तोला' धार
जिसका बीस गुना मिति-भार ।"[1]

उस समय के सिक्कों की चर्चा तत्कालीन काव्यों में प्रायः मिलती है, विशेषकर 'सिंहासन द्वात्रिंशिक' में । उसमें 'रूक',[2] पसिडि-टंकमु,[3] मिण्कमु,[4] गद्दे[5] अथवा गद्याणि के उल्लेख आये हैं । 'गद्याणि' को 'वरहा' के बराबर माना गया है ।[6] एक जगह एक कथा आती है कि किसी राजा ने एक सेवक को कहीं काम पर भेजा और सात दिनों के खर्च के लिए उसे सात 'माडे' दिये ।[7] मतलब यह कि साधारणतया संदेशवाहक को एक 'माडा' रोज मजदूरी मिला करती थी ।

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिक' भाग २, पृष्ठ ३१ ।
२. ,, ,, २, ,, ८६ ।
३. ,, ,, २, ,, ९९ ।
४. ,, ,, २, ,, ९९ ।
५. ,, ,, १, ,, २८ ।
६. ,, ,, १, ,, १०२ ।
७. ,, ,, भाग १, पृष्ठ ६४ ।

तेलंगाने के अन्दर तरी की काश्त (धान की पैदावार) ही प्रधान थी। आज भी यही बात है। इसीलिए प्राचीन काल से राजा-महाराजा, मन्त्री, सेनानी, धनी महाजन और प्रजा भी छोटे-बड़े तालाब या नहरें बनवाते आये हैं। तरी की काश्त के लिए पानी मोट (पुर), ढेंकुली तथा तालाबों की नहरों-नालियों से दिया जाता था :

"कर्म भूमि है देश, कर्मयुग काल हमारा
कैसे समझायें अबूझ को ? बुद्धि सहारा !
अनावृष्टि हो, सूखा पड़े, अकाल पड़े तो
पानी की बावलियाँ और कुए खुदवाओ !
मोट-रहट से जलाशयों से पानी खींचो
नहरों और नालियों से खेतों को सींचो
कर्म करो हे, किये बिना कुछ हो न सकेगा !
काटेगा वह खाक, बीज जो बो न सकेगा ?"[1]

स्पष्ट है कि यह तेलंगाने के अन्दर तरी यानी धान की खेती के सम्बन्ध में ही कहा गया है। पल्नाडु की सीमा वर्तमान नलगोंडा जिले से मिलती-जुलती थी। इस इलाके में नापॅराह्ल (एक प्रकार की पथरीली जमीन) की बहुतायत है। 'क्रीडाभिरामम्' का कवि आश्चर्यचकित होकर कहता है :

"न जाने श्रीगिरिलिङ्ग चेन्न स्वामी की कैसी महिमा है !
गगन में घिरकर आयें मेघ कि बस खेती अँकुराती है !
कि बस यह चटियल धरती हरियाली से भर-भर जाती है !
कि बस खेती लहराती खलिहानों में हुन बरसाती है।
कृपा श्री चेन्न या श्री शैलेश्वर की अगर नहीं होती,
बूँद की बाट जोहती खेती बैठी किस्मत को रोती !
कहाँ से मेघ उत्तरा के नभ में यों उमड़-घुमड़ आते ?

---

१. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग २, पृष्ठ ७।

उमड़ते भी तो बेबरसे जौ के बूटे क्यों अँकुराते ?
कहाँ से मुल्कीनाडु 'विषय' के सोये भाग जाग पाते ?"

मुल्कीनाडु या 'विषय' में वर्तमान कर्नूल, गुण्टूर, महबूब नगर और नलगोंडा के ज़िले शामिल हैं।

परन्तु पल्नाडि की सीमा में काली मिट्टी का ही राज है। यहाँ पर ज्वार की कास्त ही अधिक होती थी। लोग भी ज्वार ही अधिक खाते थे। कवि श्रीनाथ ने कहा है :

"पल्नाडि की तमाम प्रजा के लिए,
ज्वार-ही-ज्वार एक चाहिए !
ज्वार की काँजी, ज्वार की अम्बली,
ज्वार का दलिया, भात कि खिचड़ी,
अन्न है कोई तो बस ज्वार है !
ज्वार के बिना नहीं आधार है !
क्यों महीन चावल ?—अलभ्य है, इसलिए बेकार है !"
"पल्नाडि सीमा के अन्दर भला क्या है ?
छोटे-छोटे गाँव हैं,
छोटे-छोटे कंकर हैं, पत्थर हैं,
छोटी-छोटी देवियाँ हैं, देव हैं !
बड़ी-बड़ी चट्टानें और नदी-नाले हैं,
ज्वार का और बाजरे का भात है,
और हर कहीं फिरती साँप-बिच्छुओं की जमात है !"
"पल्नाडि सीमा में रसिक-जन तो पग भी नहीं धरेगा,
क्योंकि वहाँ, सुन्दरी रम्भा-जैसी भी क्यों न हो कोई,
रूई की पूनी ही कातेगी,
वसुधेश भी कोई क्यों न हो,
वहाँ तो खेत ही तो जोतेगा,

कुसुम-बाण भगवान् भी, हों मेहमान अगर
ज्वार-भात ही परोसा जायगा !"[१]

यह हुआ रायल सीमा का वर्णन। अब हम यह देखें कि कृष्णा गोदावरी के मुहानों यानी नेल्लूर, विशाखपट्टण की डेल्टा जमीनों में किसानों की क्या हालत थी।

श्रीनाथ अधिकतर कृष्णा जिले के अन्दर ही रहे। इस कारण और राज-कवि होने के कारण वह सदा महीन चावल और भाँति-भाँति के अन्यान्य स्वादिष्ट भोजन ही पाते थे। एक बार जब वह पल्नाडि प्रांत में गये तो वहाँ ज्वार का भात न खा सकने के और गहरे कुओं से पानी खींच न सकने के कारण बड़ी मुसीबत में फँस गये। आखिर पल्नाडि प्रांत को खरी-खरी गालियाँ सुनाकर वहाँ से उल्टे पाँव लौट पड़े।

श्रीनाथ शुद्ध आंध्र थे। रायल सीमा का अधिकतर भाग कर्णाटक राज्य में शामिल था। 'कन्नड-देवी' को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था—"हे माता, कन्नड राज्यलक्ष्मी मैं श्रीनाथ हूँ। क्या तुझे मुझ पर दया नहीं आती ? स्वाद की इच्छा करना दोष मानकर मैंने मट्ठा और अम्बली पी डाली।" आगे कहता है—"हे फुल्ल सरोज नेत्री, कभी तू भी गरम-गरम बच्चली भाजी के साथ ज्वार के कौर गले से उतारे, तभी तुझे पता लगेगा।"

श्रीनाथ कृष्णा गोदावरियों के मुहानों पर उस उपजाऊ डेल्टा द्वीप-माला के वासी थे, जहाँ अनेक प्रकार के अच्छे-अच्छे चावल उगते थे। श्रीनाथ ने भिन्न-भिन्न धानों में से कुछ के नाम गिनाये हैं। जैसे, नदी-मातृकाय भाव, विश्वम्भरा भरित, कलमशाली, सिरामुखॅ, वाष्टिक, पतंगॅ, हयन प्रमुख बहुविधि व्रीहिभेदाः।[२]

गोदावरी के मुहाने की भूमि अनेक प्रकार के फलों और फलहरियों से समृद्ध थी। पूर्वी तट के धान्य शस्य सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक पाश्चात्य

१. 'श्रीनाथुनि चाटुधारलु'।
२. 'हरिविलासमु', प्रथम अध्याय, पृष्ठ १७।

यात्री 'जोडनिन' ने, जिसने कि १३२३-३० में भारत का भ्रमण किया था, इस प्रकार लिखा है :

"तेलुगु देश का नरेश महान् प्रतापवान है। उसके राज्य में ज्वार, चावल, गन्ना, शहद, दाल और अन्य धान्य, तथा अण्डे, भेड़, बकरे, भैंस, दूध, दही, तरह-तरह के तेल तथा उत्तम फलों की इतनी इफ़रात है कि किसी दूसरी जगह से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।"[1]

इससे स्पष्ट है कि उस समय तेलुगु देश सुखी और सम्पन्न था। कलसापुर (जो सम्भवतः कृष्णा जिले में है) केले और अंगूर के लिए प्रसिद्ध था।[2]

जान पड़ता है कि रेड्डी-युग में आंध्र की प्रजा अपने राजाओं से काफी सन्तुष्ट थी। यह बात न होती तो ओड़ियों, कर्णाटकों, मुसलमानों और पद्मनायकों के निरन्तर आक्रमणों के बीच आन्ध्र-प्रजा अपने राजाओं के विरुद्ध कभी की उठ खड़ी होती। राजाओं को अपनी प्रजा का पूरा समर्थन प्राप्त था। तभी वह ऐसे प्रबल शत्रुओं को सरलता से परास्त कर सके थे। रेड्डी राजाओं ने अपनी प्रजा पर कभी कोई अन्यायपूर्ण कर नहीं लगाये। आन्ध्र-प्रजा कोई अकर्मण्य प्रजा भी नहीं थी, क्योंकि कोंडवीडि के अन्तिम राजा राचें नेमनें ने जब प्रजा पर नये-नये उत्पीड़नकारी कर लगाये तो प्रजा ने विद्रोह कर दिया था। यह तो वहाँ की चन्द कविताओं से ही सिद्ध है। राजा ने एक नया कर लगाया, जिसे 'छठी (पुरिटी) कर' कहते थे। अर्थात् जब किसी के घर बच्चा हो जाता तब उसे राज्य को कर चुकाना पड़ता था। एल्लप्पा नामक एक लिंगायत ने कर देने के बजाय उलटे उस राजा को ही मार डाला।

रेड्डी-राज्य का पतन सन् १४३४ ई० के लगभग हुआ। लगातार कोशिशों के बाद ओढ़ (ओडिया) राजाओं ने अन्त में पूर्वी तट तथा

१. 'हिस्ट्री ऑफ रेड्डी किङ्डम्स', पृष्ठ ३७३।

२. "कलसापुर प्रांत कदलि-वनांतर द्राक्षालताफलस्तबकमुलकु !" श्रीनाथुनि चाटुधार।

गुंटूर के प्रान्त को अपने अधीन कर लिया। उड़िया राजाओं को आन्ध्र प्रजा से कोई प्रेम नहीं था। देश से सारा धन लूट ले जाना ही उनका एक-मात्र उद्देश्य था। कवियों का सत्कार अथवा कला-पोषण की भावना उनमें लेश-मात्र भी नहीं थी। अखिलान्ध्र परिपूज्य, कवि सार्व-भौम तथा आन्ध्र सार्वभौम के बिरुदों के द्वारा सम्मानित श्रीनाथ को भी उन्होंने तरह-तरह के त्रास दिये। अनेक रेड्डी राजाओं के यहाँ राजकवि रहकर, असीम धन कमाकर, राजाओं के समान ही दान-धर्म देकर, रेड्डियों के बाद भी एक हजार मासिक पुरस्कार पाने वाले श्रीनाथ को अन्त में उड़िया राजाओं के समय थोड़ी-सी जमीन (७०० टंक) ठेके पर लेकर खेती करनी पड़ी। पैदावार न होने और कर न चुका सकने के कारण अपमानित होकर कविवर ने इस प्रकार विलाप किया था :

> "कवियों के महाराज सरे-बाजार खड़े हैं,
> धूप खड़ी सामने ! आंध्रनैषधकर्त्ता के
> जिन हाथों में वीरभद्र रेड्डी राजा ने
> कीली चट्टानें नगरी के सिंहद्वार की
> कुछ तो फसल बहा ले गई उफनती कृष्णा,
> बोड्डुपल्लि की बंजर धरती के चुनाव में,
> भरूँ सात सौ टंक कहाँ से किस प्रकार मैं !
> करके 'पोगडदण्ड'[१]-यूप का कंठालिंगन,
> हाथों में लोहे की हथकड़ियों का कंगन !
> भेंट धरी थी, 'वेदुरु-गोडिग'[२] युक्त वही हैं।
> सार्वभौम कवि के कंधों पर चढ़ बैठी हैं !

---

१. (सात सौ टंक लगान न चुकाने पर दंडस्वरूप कवि को सामने से पड़ती खड़ी धूप में) 'पोगडदंड' अर्थात् दंड के खूँटड़े में बाँधकर खड़ा किया था।

२. बाँस के पच्चड़।

मूँग तिलादिक बीज चुग गये चिड़ियों के दल !
धोखा-ही-धोखा खाया है मैंने केवल !"

ऊपर के पद्य से इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ता है कि कर न भरने पर किसानों को कैसी-कैसी सजाएँ दी जाती थीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि सन् १९०० तक भी हैदराबाद के इलाकों में पटेल-पटवारी सरकारी रकमों की वसूली में इन्हीं तरीकों से काम लिया करते थे। गाँव के बीच चौपाल होती थी। उसके अन्दर लकड़ी की हथकड़ियाँ लगी रहती थीं, जिन्हें कोड़ा कहते थे। दोनों कलाइयों को उन काठ की हथकड़ियों में घुसेड़कर उनके बीच पच्चड़ मार दिया जाता था। धूप में खड़ा करके या झुकाकर पीठ पर एक गोल सिल चढ़ा दिया जाता था। एक बड़ा ठूँठ पड़ा रहता था, जिसकी जंजीर से किसान के पैर बाँध दिये जाते थे। ऐसी सभी क्रूर सजाएँ जाकीदार किसानों को दी जाती थीं। ये सजाएँ उड़िया राजाओं की देन थीं, जिनका प्रचलन देश-भर में फैलकर जम गया था। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि उड़िया राजाओं ने ही ये सब सजाएँ लागू कर दी थीं। हो सकता है, ये पहले से भी चालू रही हों, किन्तु तेलुगु-साहित्य के अन्दर ऐसे उदाहरण विरले ही पाये जाते हैं। फिर भी यह निश्चित है कि जब तक श्रीकान्त की यह कविता रहेगी तब तक ओढ्र राजाओं का यह अपयश मिट नहीं सकेगा।

अपराधियों को कठिन दण्ड दिया जाता था। एक बनिये द्वारा अपने अन्याय-व्यापार को मान लेने पर राजा ने कहा था :

"क्यों रे बनिये जब हम
नाराज न होकर चुपचाप
रहते हैं तब भी तू
मनमानी बकता रहता है।"

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उड़िया राजा आन्ध्र कवियों और कुलीनों को त्रास नहीं देते थे।

कंचि, पेरि, पोन्नि, ये तीन वेश्याएँ थीं, जिन्हें राजा अनापोतु राजु ने माफ़ी में कुछ गाँव दिये थे। इन वेश्याओं ने उन ग्रामों में तालाव बनवाये। इससे सिद्ध होता है राजा और धनी ही नहीं, बल्कि जन-साधारण भी जनोपयोगी कार्यों को बड़े प्रेम से करते-कराते थे। तेलंगाने के अन्दर वेलमें राजाओं ने अनेक बड़ी-बड़ी नदी, बाँध, झीलें (तटाक) बनवाई थीं, जो आज भी उन्हीं व्यक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो तरी की काश्त के लिए प्रधान आधार बनी हुई हैं। इसी प्रकार माधव नायुडु, सिगमें नायुडु आदि ने अपने नामों पर नगर बसाये, जो आज भी उन्हीं नामों से चल रहे हैं।

सामूहिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सन् १३०० से १४०० ई० तक आन्ध्र देश की दशा अच्छी थी। प्रजा सुखी थी।

व्यापार तथा व्यवसाय

समुद्री व्यापार से आन्ध्रों का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही रहा है। कृष्णा, गोदावरी तथा विशाखपट्टण (वैजाग) के समुद्र-तट पर होने के कारण वहाँ के निवासियों के लिए समुद्री-व्यापार की सुविधाएँ प्रचुर थीं। उनका व्यापार विशेषकर बर्मा, मलाया, इण्डोनेशिया, चीन तथा श्रीलंका के साथ अधिक चलता था। इसी प्रकार फ़ारस, अरब आदि देशों से भी आन्ध्र के बन्दरगाहों पर भाँति-भाँति का माल उतरता था। जिस प्रकार स्थल-मार्गों पर डाकुओं, लुटेरों का भय था, उसी प्रकार जल-मार्गों पर भी उनका डर लगा रहता था। शासक उन्हें भी कुचल डालने की कोशिश करते थे। काकतीय शासक गणपति चक्रवर्ती से पहले और काकतीय राज्य के पतन के उपरान्त मुसलमानों की अधीनता में देश के चले जाने के बाद भी आन्ध्र का समुद्री-व्यापार लगभग बन्द-सा रहा। ऐसे समय में भी वेमारेड्डी के भाई चूरसेनानी मल्लारेड्डी ने मोटुपल्ली बन्दर को अपने अधीन रखा।

मोटुपल्ली का दूसरा नाम मुकुलपुर था।

जब आन्ध्रों ने समुद्री-व्यापार में इतनी उन्नति कर ली थी, तब तो तत्सम्बन्धी सांकेतिक शब्द आन्ध्र साहित्य के अन्दर निश्चय ही पाये जाने चाहिएँ। किन्तु ऐसे शब्दों का समावेश तेलुगू साहित्य में नहीं हुआ। यदि कुछ शब्द आ भी गये हों तो भी लोग उनका अन्वय नहीं कर सके। श्रीनाथ ने 'हरिविलास' में विविध नौकाओं के कुछ नाम गिनाये हैं। इस दृष्टि से उसका यह पद्य बहुत महत्त्व रखता है :

"कप्पलि, सम्मन, जोंकु, वह्लि से जलयानों पर
तरुणासीरि, लवाई, गोवा, रमणा से भर
भाँति-भाँति के गंध-द्रव्य : कस्तूरी, केसर
चन्दन, चन्द्र-कपूर, अगर, कुंकुम, हिमांबर,
लाद-लाद लाया करते हैं, वैश्य कुलोत्तम
अवचि-तिप्प, महिमा में जो कि स्वयं अपने सम।"[1]

उक्त पद्य में कप्पलि, सम्मन, जोंकु, वह्लि आदि शब्द जलयानों के लिए आये हैं। तमिल शब्द 'कप्पल' की जगह 'कप्पलि' आया है। 'जोंकु' बड़े जहाज को कहते थे। अनुमान है कि आजकल के अंग्रेजी शब्द जंक का प्राचीन रूप यही है। 'सम्मन' शब्द मलय द्वीपों में प्रचलित था।[2]

समुद्री व्यापार से रेड्डी राजाओं को अपरिमित आय होती थी। देश-व्यापी अराजकता के कारण बन्द पड़े मोट्टुपल्ली बन्दरगाह को रेड्डी-राजाओं ने देश में शान्ति स्थापित करके फिर से चालू किया और जल-थल-मार्गों को व्यापार के लिए सुरक्षित कर दिया। उन्होंने कुछ माल पर तो चुंगी कम कर दी और कुछ की चुंगी साफ ही कर डाली। सब की जानकारी के लिए चुंगी की दरें शिलालेखों के रूप में विज्ञापित कर दी गई। ये शिलालेख मोट्टुपल्ली में आज भी मौजूद हैं। इस लेख से उस समय की भाषा के रूप तथा व्यापार के ब्यौरों, दोनों का ही

१. 'हरिविलासमु कृत्याबुलु'। (तरुणासिरी आदि का निरूपण अगले तेरहवें अनुच्छेद में है। सम्पा० हिन्दी सं०।)

२. 'हिस्ट्री आफ रेड्डी किंग्डम्स', पृष्ठ ४०५-६।

पता चलता है—

"स्वस्ति श्री शकवर्ष १२८० विलम्बी संवत्सर श्रावण शुद्ध ८ मंगलवार स्वस्ति श्रीमत् अनपोतय रेड्डी का मोट्टुपल्ली में आकर बसने वाले और मोट्टुपल्ली से द्वीपान्तरों को जाने वाले व्यापारियों को लिखा हुआ धर्म-शासन इस प्रकार है :

इस मोट्टुपल्ली में जो भी व्यापारी बसने के लिए आयँगे, उनका हम पूरा सम्मान करेंगे और उन्हें अच्छा पुरस्कार देंगे। उन्हें ज़मीन के साथ रहने की जगह भी देंगे। जब वे यहाँ से जाना चाहेंगे, तब हम उन पर कोई रोक नहीं लगायँगे और उन्हें सम्मान के साथ पहुँचा देंगे। वे माल कहीं से भी लायें, पूरी स्वतन्त्रता के साथ जहाँ चाहें बेच सकेंगे। खरीदने वालों को भी यही आजादी रहेगी। चुंगी के बदले में माल नहीं रोका जायगा। चीरानु, गंडमु, पंवडमु पट्टी व्यवहार के लिए सोने पर चुंगी बन्द करके अप्रतिका तथा सुंकादाय (कर) को हमने बन्द कर दिया। चन्दन पर 'बदी सुंकमु' पुरानी परिपाटी के साथ एक 'मूटा' बन्द करते हैं। इस माल पर स्थल-कर पुरानी परिपाटी के अनुसार लिया करेंगे। इन नियमों को सभी लोग मान्यता देंगे। हमने आपको अपना अभय-हस्त दिया।"

अर्थात् इस शासन के द्वारा एलान किया गया है कि मोट्टुपल्ली को जो भी व्यापारी आयें उन्हें सम्मान के साथ ठहरायँगे और उनके ऊपर किसी प्रकार की रोक-टोक न होगी। जो भी माल वे जहाँ से भी चाहें आजादी से ले आ सकेंगे और जहाँ चाहें बेच सकेंगे तथा कर के बदले में माल को रोका नहीं जायगा।

राजा कुमारगिरि रेड्डी के राज्य में एक करोड़पति सेठ अवचि तिप्प था, जो बड़े ही उदार स्वभाव का और श्रद्धालु भक्त पुरुष था। इसे राजा का 'सुगन्ध भांडागारी' भी बताया है। यह सेठ इत्र आदि का भी व्यापार करता था। श्रीनाथ ने अपने 'हरिविलास' में इस तिप्प सेठ की धन-महिमा बहुत-बहुत गाई है। यह सेठ किन-किन देशों से

कौन-कौन माल मँगवाया करता था उस पर श्रीनाथ ने इस प्रकार लिखा है :

लाये घनसार के वृक्ष पंजार से
और जलजोंगि से कनक-अंकुर
सिंहलद्वीप से गंध-सिंदूर औ'
तुरग हुरुमुञ्ज से चंचल क्षुर
गोव से शुद्ध संकुमद द्रव लाये,
थांपक से मुक्ताफल की रास लाये
भोट से कोश कस्तूरिका के,
और चीन से चीनांशुकवास लाये
जगद्-गोपाल राय वेश्या-भुजंग औ'
जाएा औ' देव औ' चामु-सेट्टी
पल्लपादित्य औ' भूदान परशुराम,
कोमर गिरि देवेन्द्र जगत-सेट्टी[1]

इस पद्य में गोव (गोवा), महाचीन (चीन), सिंहलद्वीप (श्रीलंका), और हुरुमुञ्ज (फ़ारस के शहर हरमुज) को तो हम जानते हैं, शेष स्थानों का निरूपण रेड्डी राज्यों के इतिहास[2] में इस प्रकार बताया गया है :

"पंजार—सुमात्रा का शहर पनसार।
जलजोंगि—मलाया का एक शहर।
थांप या थांपक—श्रीलंका का शहर जाफ़ना।
भोट—भूटान।"[3]

अवचि तिप्प जिन 'तरुएसीरि, लवाई, गोवा, रमएा' आदि स्थानों से 'भाँति-भाँति के गन्ध द्रव्य' लाद-लाद लाता था, उनका निरूपण

१. 'हरविलासमु'—कृत्यादि पद्य।
२. वैसे, भोट या भोट देश तिब्बत को भी कहते हैं।—संपा० हि० सं०।
३. 'हिस्ट्री ऑफ द रेड्डी किङडम्स', पृष्ठ ४०९-४१२।

श्री मल्लमपल्ली (अर्थात् श्री म० सोमशेखर शर्मा—सम्पा० हिन्दी सं०) ने इस प्रकार किया है :

"तरुणासीरि—मलाया द्वीप समूह का टेनास्सरियम् ।
तवाई—मलाया का ही तवॉय ।
रमणा—पेगू देश का रमन्न ।"

व्यापार करने वालों में बलिजें और कोमटी जातियों के लोग ही प्रमुख थे । पहले बलिजों को ही सेट्टी (सेठ) की पदवी थी । बाद में कोमटी लोगों ने भी उन्हींके समान विशेषकर व्यापार-वृत्ति ही अपना ली और इस कारण उनके सेट्टी के आस्पद को भी अपना लिया ।

बड़े कस्बों में सप्ताह में एक दिन बाजार भरता था । कुछ बाजारों में विशेष वस्तुओं का ही व्यापार हुआ करता था ।

"·····तेल की मंडी के बीच वह
चावल की गठरी सिर लादे पधारे,
एक सुनी न किसी ने,
वह 'तेल से तंडुल बदलो', पुकार के हारे !"[1]

इससे प्रतीत होता है कि तेल के समान अन्य वस्तुओं के लिए भी अलग-अलग हाटें लगती थीं । कहीं-कहीं यह भी पता चलता है कि अनाज देकर उसके बदले में जो चीज चाहें, ले सकते थे । **"सातमनिका चावल के बदले एक मनिका तेल, इस पुर का धारणॉं है ।"**[2] (यही 'धारणॉं' शब्द आज का हिन्दी शब्द 'दर' बन गया होगा ।) यह भी जान पड़ता है कि पुर अर्थात् शहर के व्यापारी वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करते थे ।

आन्ध्र देश बारीक सूती कपड़े के लिए प्रसिद्ध था । रुद्रमॅ देवी के राज्य-काल में जो पाश्चात्य यात्री भारत आये थे, उन्होंने स्वयं लिखा है कि आन्ध्र की बारीक मलमल महाराजाओं के ही पहनने योग्य होती है ।

---

१. 'केयूरबाहु-चरित्र', अ० २, पृ० ६ ।
२. वही, अ० २, पृष्ठ १० ।

आन्ध्र-भर में सूती कपड़े के व्यापार को ही अग्रस्थान प्राप्त था। घर-घर चरखा चलता था—"कदरू (तकुआ) चले और कव्वम (मथानी) नाचे तो दरिद्रता कभी न आवे" यह एक तेलुगू कहावत थी। कहा जा सकता है कि शूद्रों के घरों में प्रत्येक स्त्री चरखा चलाया करती थी। गरीब लोग अपनी जरूरत-भर के लिए रखकर बाकी सूत बाजार में बेच दिया करते थे। उसी सूत से कपड़े तैयार होते और पूरब-पच्छिम के देश-देशान्तरों में भेजे जाते थे। पल्नाडि-सीमँ के सम्बन्ध में श्रीनाथ ने लिखा था कि :

"रूपसी रम्भा भले क्यों न हो
कोई रूई की पूनी ही कातेगी।"

इससे प्रतीत होता है कि पल्नाडि में जाति-भेद निर्विशेष सभी स्त्रियाँ चरखा काता करती थीं।

सूती कपड़ों के अतिरिक्त रेशमी माल का प्रचलन भी खूब था। रेशम के अनेक भेद थे "चन्दन-कावु पट्टेडुकावु, चेंगावु कादंबकावु, करकंचु, बोम्मंचु, मुड्डु बोम्मंचु, मुय्यंचु, चिलुकॅ, चाल्लु, बेटचाल्लु, निडुवन्ने, उत्तन्वारलवन्ने, गंटकिवन्ने, पुप्पोडिवन्ने, रुद्राक्षवन्ने, नागाबन्धम्, पूजा-बन्धम्, जलपंजरम्, कामवरम्, सूरवरम्, तारामण्डल, हंसावली, हरिणा-वली, तुरगावली, गजावली, सिंहावली, द्रौपदी स्वयंवर, लक्ष्मीविलास, मदनविलास, वसन्तविलास, रत्नकीलितम्, रायशृङ्गार, कनकदण्डे, गच्चिलम्, कर्पूरगन्धी, पारुवंपुगन्धी, श्रीतोपु, श्रीरामतोपु, श्रीकृष्ण विलास, जीबुलु, सुगिपट्टम, सन्नॅवलियम्, वेलिपट्टु, होम्बट्टु, पुलिगोरु पट्टु, उदयराग-पट्टु, नेत्रपट्टु, वज्रपट्टु आदि अनेक नामों के सूती रेशमी और मिलावटी कपड़े"[1] उस समय हुआ करते थे। गौरनँ कवि ने 'नवनाथचरित्र' (पृष्ठ ४) में कहा है :

जिगि जिगि धगं धगॅ करने वाले चीनाम्बर !"
(जगमगाते चीनांशुक या चीनी रेशम।)

१. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग १, पृष्ठ ७४।

अभी गिनाये हुए नामों में सूती व रेशमी दोनों ही प्रकार के वस्त्र सम्मिलित हैं। तेलुगू में 'अंचु' शब्द का अर्थ है किनारी या आँचल। धोती, साड़ी आदि जिन सूती कपड़ों पर जो रेशमी अथवा सूती रंग-बिरंगी चित्र-विचित्र किनारियाँ बुनी जाती थीं, उन कपड़ों के साथ ऊपर 'अंचु' शब्द जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार 'पट्टु' रेशम को कहते हैं। अर्थात् 'पट्टु' शब्द से जुड़े नामों वाले सभी कपड़े रेशमी हैं। 'वन्ने' रंग को कहते हैं। 'वन्ने' शब्द से युक्त नाम रंगों के भेदों को बतलाते हैं। द्रौपदी-स्वयंवर, रामविलास, कृष्णविलास आदि पता नहीं किन कपड़ों को कहते थे। पल्लुओं पर बेल-बूटे तथा चित्र होते थे। बुनाई और छपाई दोनों तरह के काम उन पर हुआ करते थे। कामवरम और सूर-वरम, ये दो नाम गाँवों के हैं। जान पड़ता है ये दोनों स्थान कपड़े के लिए प्रसिद्ध थे।

जब इतने सारे नाम आँचलों के ही गिनाये गए हैं, तब स्पष्ट है कि उन दिनों रंग और रँगाई का रोजगार जोरों पर था। 'चेंगावि' कदाचित् हल्के रंग को कहते थे। करकंचु को (सू० रा० निघंटु) कोश में हर्र से बना रंग कहा है। 'करका' हर्र को कहते हैं। बोम्मंचु लाल पल्लू वाली उजली साड़ी का नाम था। चिलुका तोते को कहते हैं। अर्थात् हरा कपड़ा या हरा आँचल। उठता अथवा उडुता गिलहरी को कहते हैं। उसकी धारियों की तरह कपड़े का रंग धारीदार होता होगा। 'रुद्राक्ष' रंग अब भी चालू है। नील का उद्योग बहुत प्राचीन है। नीला रंग सभी रंगों से बढ़िया होता था। नील का इंडिगो नाम पड़ने का यही कारण है कि यह रंग पहले-पहल हिन्दुस्तान में ही तैयार हुआ था। मजीठ, लाख और हल्दी से भिन्न-भिन्न रंग बनाये जाते थे। नीलि-पट्टु का मतलब यह है कि रेशम को नील में रँगा जाता था। होमपट्टु का मतलब है रेशम के कपड़ों पर जरी का काम। बाद में रंग बनाने या रंग का काम करने वालों की एक अलग रंगरेज जाति ही बन गई थी। 'दट्टी' एक शब्द है, जिसके माने हैं पट्टा के। अर्थात् कमर-पट्टा या पेटी।

आजकल साड़ी-धोती को भी दट्टी कहते हैं। किन्तु उन दिनों दट्टी उस बित्ते-भर चौड़े पट्टे का नाम था, जिस पर ज़री का काम रहा करता था, और जिसे सैनिक जाँघिये के ऊपर कमर-बन्द के तौर पर कस लिया करते थे।[1]

विदेशों से आने वाले माल का उल्लेख पहले ही हो चुका है। बाहर से आने वाली अन्य वस्तुओं का ब्यौरा भी सुन लीजिए। कुमार गिरि रेड्डी को 'वसंतराय' की पदवी मिली थी। हालाँकि यह पदवी उसके पहले से ही चली आ रही थी, पर उसके लिए तो यही प्रधान पदवी बन गई। विशेषकर कुमार रेड्डी के लिए ही इस पदवी का प्रयोग किया गया है। वह हर साल 'वसंतोत्सव' मनाया करता था। उस उत्सव के अवसर पर बाजारों में कपूर बिछा दिया जाता था। इसीसे उसे 'कर्पूर वसंत राय' की पदवी मिली। इस समारोह के लिए आवश्यक सुगंधित सामग्री जावा, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपों से मँगवाई जाती थी तथा उसे राज-भण्डारों में भरकर रखने के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त हुआ करते थे। इन 'सुगंधभांडागाराध्यक्षों' को 'अवचि सेट्टी' कहा जाता था। "**महाराज कुमारगिरि वसंतोत्सव के लिए प्रति-संवत्सर चीन, सिंहल, तवाइ (तवॉय), हुरुमंजि (हुर्मज), जोरांगि प्रभृति नाना सुदूर द्वीपों, नगरों से कस्तूरी, जाफ़रान, संकुमद (जव्वाजी), कपूर, हिमाम्बु, काला अगर, गंधसार (चन्दन) इत्यादि सुगंधित सामग्री जहाजों में भर-भरकर मँगवाया करते थे।**"[2] आज भी समस्त सुगंधित-द्रव्य इण्डोनेशिया द्वीपों से ही आते हैं। उक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हुरुमुंजी (फ़ारस) से घोड़े और सिंहल से हाथी आया करते थे। प्राचीन काल में घोड़ों के लिए फ़ारस प्रसिद्ध था। मुसलिम सुलतानों की फ़ौजों में घोड़ों की संख्या अधिक होती थी। इसलिए विजयनगर के महाराजा और रेड्डी राजा घोड़ों पर बहुत ज्यादा धन खर्च किया करते थे। मोती तो श्रीलंका से ही आता था और चीन से रेशम।

१. '**चरिगोंड धर्मन्न चित्रभारतमु**', अ० २, पृष्ठ ६६।
२. '**हरविलासमु**', **कृत्यादुलु**।

रेड्डी राजाओं का सदा अपने अगल-बगल के राजाओं से तनाव रहता था। इसीलिए उन्होंने शस्त्रास्त्र भी खूब तैयार करवाये। लोहार ही शस्त्र बनाता था। भट्टी की आग में कई धातुएँ पिघलाकर उनसे हथियार तैयार करते थे। हथियारों में तलवार, छुरी, भाला, तीर, ईंटें ('फेंककर मारने का हथियार') खास है। पंच-धातु से विजय-स्तम्भ और हथियार दोनों ही बनाये जाते थे। राज-सिंहासन की चौकियों में भी पंच-धातु का उपयोग हुआ है।[1] आंध्र देश में कई स्थानों पर जमीन से कच्चा लोहा खोदकर उससे पक्का लोहा तथा इस्पात तैयार किया जाता था। कविता की एक तुक है :

"वय्यंदी[2] भट्टी में डाल लुहार
फ़ौरन फ़ौलादी चक्के-सा
पानी खड़ा-खड़ा करता तैयार !"[3]

तेलंगाने के अन्दर निर्मल की बनी तलवारें दुनिया-भर में बहुत मशहूर थीं। यहाँ की तलवारें तथा यहाँ का इस्पात दमिश्क तक जाता था। शीशे-आइने आदि का काम भी यहाँ होता था। इसके लिए किसी शुभ्र चमकीले पत्थर के बूरे का प्रयोग होता था।

इसका पता तो नहीं चलता कि काँच का काम कहाँ-कहाँ पर होता था, पर इतना स्पष्ट है कि वरंगल शहर में घरकार युवतियाँ भी काँच की पट्टियों में चेहरा देखती थीं, (क्रीडाभिरामम्)। अर्थात् इसकी इतनी इफ़रात थी कि धनी, दरिद्र सभी इसे खरीद सकते थे।

लिखने का काम विशेषकर ताड़ के पत्तों पर ही हुआ करता था। ताड़ के पत्ते पर लिखने की लोहे की कलम 'गंटामु' कहलाती थी। यह

१. "पंचलोह कलिपतं बगुनतनि कोलुवु चविके !"—'भोजराजीयमु', अ० २, पृ० ११३।
२. 'वय्यंदी = लोहा पिघलाने की भट्टी।
३. 'सिंहासनद्वात्रिंशक', भाग १, पृष्ठ ७८।

गंटामु भी अनेक प्रकार की बनती थीं। 'गंटामु' के दो छोर होते थे। एक ओर से लिखा जाता था और दूसरी ओर से ताड़ के पत्ते को छील-छालकर साफ़ किया जाता था। दुम वाले सिरे पर पक्षी के पर की सुन्दर नक्काशी उतारी जाती थी। राजा-महाराजा, मन्त्री और धनी महाजन 'स्वर्ण गंटामु' से लिखा करते थे :

"सोने की लेखनी से
कारय वेमु के समक्ष,
रायस-प्रभु का मन्त्री बाचड्डु जब
लिखने लगा, लेखनी के
गलु गलु गल्लु गल्लु रव से
शत्रुओं के, कटक मन्त्रियों के दिल
जलु जलु जल्लु जल्लु हो उठे,
और सभी सत्कवि धन-धन्य-धन्य करते रहे।"[1]

ताड़ के पत्तों पर शीघ्र लिखना, सुन्दर लिखना, मोती की तरह अक्षर छिटकाना आदि लेखन-कला के आवश्यक अंग थे। इसलिए उस समय लेखकों की लिखाई बड़ी ही सुन्दर होती थी। उनमें भी राजा कारयवेमु के मन्त्री बाचड्डु की सुन्दर लिखावट तो जगत्-प्रसिद्ध थी।

ताड़ के पत्तों का ही विशेष प्रयोग होता था। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि लोग कागज़ के उपयोग से अनभिज्ञ थे।

"दस्त्रालु मसिबुर्रलु कलमुलु दाकेन्नि चिंतंबलुल्

अर्थात्—दस्तरम् या दस्त्रा (दफ़्तर), मसिबुर्र (दावात), क़लम, इमली के बीज की लेई, आदि वस्तुओं का प्रयोग कवि श्रीनाथ ने भी देखा था।

"कागज पर वर्ण-पद्धति की शोभा देखते ही बनती थी।"[2]

अर्थात् राजा तथा मन्त्रीगण कागज़ से काम लेते थे। फारसी का

१. एक 'चाडुवु'।
२. 'भीमेश्वर पुराणमु', अ० १, पृष्ठ ७४।

शब्द 'काग़ज़' से ही तेलुगू, में 'कागितमु' बना है। अर्थात् कागज बनाने का रोजगार मुसलमानों के हाथों में ही था। कागज़ का पता सबसे पहले चीनियों ने लगाया था। उन्हींसे मुसलमानों ने कागज़ का काम सीखा। हाथ के कागज का धंधा आज भी अधिकतर मुसलमानों ही के हाथों में है। (तीस-चालीस वर्ष पहले हैदराबाद के कुछ देहातों में यह काम होता था। कोयल कोंडा, जिला महबूब नगर का कागज़ मशहूर था। काम तो बन्द हो चुका है, किन्तु काम जानने वाले एक-दो अभी जीवित हैं—अनुवादक)।

तात्कालिक कामों के लिए ताड़ के पत्तों पर भी स्याही तथा बेंत की कलम से लिखा जाता था। कविवर श्रीनाथ का पद्य है:

"वसुधास्थली के कविवर्य वरबुद्धि के मसिरस को
मथते हैं मानस-कड़ाह के कुहर में भर-भरकर
जिह्वा-तूलिका से महाव्यसन-काव्य लिखते हैं
तृणराज ताल के पलाश, निज मुखाकाश के ऊपर।"

पटवारी

हिसाब-किताब का काम 'करणम्' करते थे। (यह कायस्थ नहीं, ब्राह्मणों की ही एक जाति है।) सरकारी रकमों की वसूली अथवा हिसाब रखने का काम इसके पहले उनका नहीं था। यह काम उस समय विश्व-ब्राह्मणों अर्थात् सुनारों का था। आज भी कहीं-कहीं सुनार पट-वारी पाये जाते हैं। कहते हैं कि कृष्ण देवराय के मन्त्री भास्कर ने सुनारों को हटाकर नियोगी ब्राह्मणों को नियुक्त किया था। (नियोगी ब्राह्मण वे हैं जो दूसरों के घर पूजा-पाठ आदि का काम नहीं करते, बल्कि नौकरी आदि करते हैं।)

ये करणम् पटवारी बड़े ख़तरनाक और धूर्त्त माने जाने लगे। उत्तर-भारत में हिन्दी में जिसे 'बही' कहते हैं, तेलुगू में उसे 'वही' या 'वई' कहते हैं। शब्द वही है, प्रयोग में उच्चारण-भेद हो गया है। बहीखाता

बहरहाल पटवारी का बदला नहीं है। तेलुगु में कहावत है कि 'पटवारी को पतियाना नहीं चाहिए।'[1] पटवारियों की धूर्त्तता की अपख्याति प्रसिद्ध है :

"इधर से आई आय
उधर जमा करके
और कहीं खर्च दिखाने वाला
प्रकट महा पापी है।"
"नीतिवान् होवे यदि करण
तो स्वामी का उपकरण
निर्णय गुण अधिकरण
प्रजा शरण
शत्रुओं के लिए महा मरण है!"

कलाएँ

काकतीय शासन-काल के समान रेड्डी-युग में भी कला-पोषण समुचित रूप से होता रहा। बल्कि रेड्डी-काल में कला-पोषण और भी उच्च स्थिति को प्राप्त हुआ। अन्तिम रेड्डी राजा का 'वसंतराय' की पदवी पाना स्वयं ही इसका प्रबल प्रमाण है। कहा जाता है कि श्रीनाथ कवि, जो सेतुबंध रामेश्वर से लेकर विन्ध्याटवी तक बेजोड़ था, समस्त शास्त्रों तथा पुराणों का पारंगत होने के साथ-साथ नवीन कविता-धारा का प्रवर्त्तक भी था। यही श्रीनाथ आंध्र-राज्य का विद्याधिकारी था। अखिलांध्र साहित्य-जगत् की प्रामाणिक आचार्यत्रयी में 'प्रबन्ध-परमेश्वर' की पदवी से विभूषित, एर्रा प्रगडा राज्य का आस्थान-कवि था। 'शिवलीला विलास' का रचयिता निःशंक कोम्मन रेड्डी राजाओं का स्तोत्र-गायक था। सहस्र-विधान-नव-अभिनय-कला-श्री-शोभिता लकुमादेवी राज-दरबार में नित नये ढंग से नाट्य-कला का प्रदर्शन करती थी। बाल सरस्वती आदि

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिक', भाग १, पृष्ठ १०४।

महापंडित दरबार की दिव्य ज्योति कहलाते थे। कर्पूर-वसंतोत्सव तथा सुगंध भांडागार के अध्यक्ष की चर्चा पहले की जा चुकी है। स्वयं रेड्डी राजा तथा वेलमें राजाओं ने कविताएँ रचीं, व्याख्याएँ लिखीं, साहित्य-सृजन किया, साहित्याचार्य सर्वज्ञ-चक्रवर्ती आदि कहलाये। उनकी कीर्ति दिगंतों तक व्याप्त हो चुकी थी। इन सारी बातों को देखते हुए कला की उन्नति में आश्चर्य ही भला क्या हो सकता है।

आयुर्वेद के अन्दर 'भूलोक धन्वंतरि' की पदवी से विभूषित 'भास्करार्य' को पेदॅ-कोमटी वेमॅ ने अग्रहार दान में दिये थे।[1]

अनॅ वेमुलु नामक राजा के दरबार में किसी साधारण से कवि ने आकर एक ऐसा पद सुनाया, जिसके हर चरण का पहला अक्षर 'वे' था। इस प्रकार उस पद में चार 'वे' थे। इस पर राजा इतना प्रसन्न हुआ कि उसे चार वेलु ('वे' का बहु वचन) के बदले आठ वेलु (आठ हजार सिक्के) पुरस्कार में दिये। कविता की ऐसी पूछ के कारण ही थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा प्रत्येक व्यक्ति तुकबंदी करने लगा था। कोंडॅवीडु की राजधानी में जिस किसी भी गली में निकल जाइये, कवियों की भरमार मिलती। ये कवि माथे पर विभूति पोते, निराकृत बने घूमा करते थे। कविता की यह दुर्दशा देखकर श्रीनाथ ने एक कवि से पूछा था :

"तन पर भसम रमाये,
सब उत्साह गँवाये,
पीला मुँह लटकाये,
गली-गली की ठोकर खाते,
जिस-तिससे फटकारे जाते,
कोंडॅवीडु में ठुमके लटकाये दुम,
बकते हो यह क्या अल्लम-गल्लम तुम ?

---

१. 'रेड्डीसंचिक', पृष्ठ ८९।

तू भी कोई कवि है, क्यों बे गधे,
मुझको को तो इसमें सन्देह है।"

रेड्डी राज्य-काल में संस्कृत तथा आंध्र पंडितों की संख्या अच्छी खासी थी। परन्तु उनमें से बहुत कम ही कवि ऐसे हैं, जिनकी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं। हमारा यह दुर्भाग्य ही है कि इन पाँच सौ वर्षों के बीच श्रीनाथ की 'बहु कृतियाँ', शम्भुदास की रामायण तथा कुमारगिरि के 'वसंतराजीयमु'-जैसे उत्तम ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। हम इतना ही जानते हैं कि बाल-सरस्वती राजा आनपोत राजु का आस्थान-कवि था, और त्रिलोचनार्य राजा वेमराजु का। बहुतों की कविताओं के अवशेष केवल शिलालेखों तक सीमित रह गए हैं। हमने सुना मात्र है कि प्रभात भारत योगी नामक कवि ने सुन्दर शासन-श्लोक रचे थे। हम इतना ही जान सके कि कोई कवि महादेव भी था। आनपति के शिला-शासन से हमें पता चलता है कि कविवर अन्नय के पद्यों की शैली परिपक्व है। काटयवेमु के शासन को जिस श्रीवल्लभ कवि ने कविता-बद्ध किया था, उसके विषय में हमें कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है। न जाने और भी कितनों की ज्ञान-विज्ञान-सम्पदा को हम खो बैठे हैं। सुप्रसिद्ध कवि-सम्राट् श्री एर्रा प्रगड श्रीनाथ, वेमन कंटि सूरन्न आदि रेड्डी राजाओं के आश्रय में ही रहा करते थे। संस्कृत कवि वामन भट्ट बाण ने तेलुगु 'वेम भूपाल चरित्र' को संस्कृत में भी लिखा था। स्वयं रेड्डी राजाओं ने संस्कृत में व्याख्याएँ तथा कविताएँ लिखीं। राजा कुमारगिरि ने नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ 'वसंतराजीयमु' लिखा था। पेदँ-कोमटी ने भी नृत्य कला पर एक पुस्तक लिखी थी। 'साहित्य-चिंतामणि' भी इन्हींकी रचना है। काटय वेमन्न ने कालिदास के काव्यों पर टीका लिखी थी। राजा पेदँ कोमटी ने विश्वेश्वर नामक कवि को एक ग्राम अग्रहार के रूप में दान दिया था। पता नहीं, पुरस्कार पाने वाला वह ग्रन्थ कौन-सा था और उसमें क्या लिखा था। कोंडवीडु तथा राज महेन्द्रवरम् के राजाओं के समान राचकोंड के वेलमँ राजा भी स्वयं

कवि और विद्वान् ग्रन्थ-प्रणेता थे और कवीश्वरों तथा संगीतज्ञों का सम्मान करके अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। कुछ आलोचकों का कहना है कि रेड्डी तथा वेलमं राजाओं में कुछ-एक कवि अथवा ग्रन्थ-प्रणेता नहीं थे। यदि यह बात ठीक भी हो तो भी उससे शेष राजाओं के ज्ञान अथवा प्रतिभा पर कोई आँच नहीं आती। राचकोंडा राजाओं के दरबार में मल्लिनाथ सूरि प्रधान पंडित था।

रेड्डी राजाओं के दरबारों में तेलुगु विद्वान् और कलावान् तो रहते ही थे, भारत के अन्य प्रान्तों तथा राज्यों के विद्वान्, कवि, कलाकार आदि भी बराबर पहुँचते ही रहते थे। ऐसे विद्वानों की योग्यता को परखने तथा उनका यथायोग्य सम्मान करने के लिए कवि सार्वभौम श्रीनाथ को नियुक्त किया गया था। राज-शासनों में से कुछेक को श्रीनाथ ने स्वयं भी लिखवाया था। फिरंगीपुर के शिला-शासन में लिखा है :

'विद्याधिकारी श्रीनाथोऽकरोत्!' अर्थात् यह 'शासन' राज्य के विद्याधिकारी श्रीनाथ ने तैयार किया है। श्रीनाथ ने अपने सम्बन्ध में कहा है :

"विद्यापरीक्षण
करते समय
देश-देश के बुधजन
से किये हैं तूने संभाषण!"[१]

राजा लोग अपनी आन रखने के लिए साधारणतया उद्दण्ड कवियों को अपने यहाँ परीक्षाधिकारी या आस्थान-कवि के पद पर नियुक्त किया करते थे :

बनकर दरबारी
परीक्षाधिकारी
एक विप्र की भी

१. 'भीमेश्वर-पुराणमु', अ० १, पृष्ठ ७३।

अति भारी ![1]

राजा ही नहीं उनके मंत्रीगण भी अच्छे विद्वान् और बहुभाषा-विद् होते थे। अरेटी अन्नय मंत्री के सम्बन्ध में कहा है :

"अरबदेश-भाषा, तुरुष्क भाषा, गजकर्ण,
आंध्र देश, गांधार देश, 'घूर्जर' भाषा में,
मलयाली भाषा, शक-भाषा, बर्बर-भाषा,
तथा सिंधुसौवीर-भाषा या करहारी में—
भाषाओं के लेखन-पाठन-विनिवेशन में,
अथवा गोष्ठी-संप्रयोग में, संभाषण में,
अन्नय मंत्री शेखर की गति विस्मयकर है !
राजा वेम महीसुरेंद्र राज्योन्नति-कामी
संतताभ्युदय-काम शाह अहमद हुसैन को,
पाती लिखी ललाम 'पारसी' भाषा में जो,
भाव-वर्ण-पद्धति उसकी वर्णनातीत है !"[2]

उस समय तक आन्ध्र पर फ़ारसी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। यदि अन्नय मन्त्री ने फ़ारसी में पत्र लिखा हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु अरबी, गांधार, बर्बर आदि भाषाओं के सम्बन्ध में तो इस पद्यांश के दावे अतिशयोक्ति-जैसे ही लगते हैं।

बर्बर अफ्रीका का उत्तरी प्रदेश है। तुरुष्क भाषा से यहाँ तात्पर्य फ़ारसी है।[3] आंध्रुल चरित्र में उक्त पद्य के 'सन्तताभ्युदयकाम शाह अहमद हुसैन' आदि चरण का पाठांतर इस प्रकार है—'अहमद शासन दान भूमिभृत्।' किन्तु वास्तव में मुद्रित 'भीमेश्वर पुराण' का उक्त पाठ

१. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग २, पृष्ठ ५।
२. 'भीमेश्वर-पुराणमु', अ० १, पद्य २४।
३. तुर्कों की भाषा तुर्की नहीं, बल्कि भारत में आकर 'तुर्क' कहलाने वाले मुसलमानों की उन दिनों की प्रचलित सामान्य भाषा फ़ारसी। —सम्पा० हिन्दी सं०।

ही उपयुक्त मालूम होता है। अहमद हुसैन अथवा अहमदशाह गुलबर्गा का सुलतान था।

श्रीनाथ के एक पद्य से सिद्ध होता है कि राजाओं के आस्थानों में कवियों की धाक ज़बरदस्त थी :

"रे तेलुंगाधीश्वर साम्पराय, अक्षय रे !
सुक विराट् वृन्दारक श्रेणी को कस्तूरी
भिक्षा में दे, जिससे उसके गंध-भार भी
दाक्षाराम चलुक्य भीमवरसार-विलासिनि
वरगन्धर्वाप्सरो भामिनी ललनाओं के
वक्षोज द्वय कुम्भि कुम्भ के करें सुवासित !"

इसमें सन्देह नहीं कि यह पद्य श्रीनाथ का ही है, श्रीनाथ राजाओं को इसी प्रकार सम्बोधित किया करता था कि तू हमें दान दे, ताकि हम वेश्या-भोग करें।

श्रीनाथ ने ही तो लिखा है :

"दाक्षाराम वधूटी,
वक्षोरुह मृगमदादि वांछित विलसद्वक्षः कवाट-बांधव,
रक्षाविधिवज्रपंजर कृपा जलधि"[1]
"दक्षवाटी.......गन्धर्वपुरोभामिनी।"[2]
"दाक्षारामचलुक्य भीमवरगंधर्वाप्सरोभामिनी-
वक्षोजद्वयगंधसार।"[3]

इस प्रकार लिखने वाले श्रीनाथ ने यदि उक्त 'गंधर्वाप्सरो-भामिनी' भी लिखा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उन दिनों पण्डितगण अनेक विद्याओं का अभ्यास करते थे। ऐसे पण्डित तो होते ही नहीं थे जो रामायण, महाभारत न पढ़े हों। श्रीनाथ के लिए गीर्वाण-वाणी के

१. 'भीमेश्वर-पुराणमु', अ० ३, पृ० २२१।
२. वही, अ० १, पद्य ६०।
३. काशीखण्डमु, अ० १।

कवियों में से कालिदास भट्ट, बाण, प्रवरसेन, हर्ष, भास-शिव-भद्र-सौमिल्ल मेल्ल, माघ, भारवि, बिल्हण, मल्हण भट्टि, चित्तव, कवि दण्डि आदि विशेष आदराभिमान के पात्र थे।[1] श्रीनाथ ने मुरारि की कहीं चर्चा तो नहीं की है, फिर भी मुरारि के समासों का प्रयोग प्रचुरता से किया है। आन्ध्र भाषा के कवियों में उनके लिए नन्नय, तिक्कन, वेमुलवाडे, भीमकवि, एर्रा प्रगडा आदि प्रमुख हैं।[2]

श्रीनाथ कवि-सार्वभौम "अभ्यर्हित ब्रह्माण्डादि महापुराण-तात्पर्यार्थ-निर्धारित-ब्रह्म ज्ञान कलानिधानमु" के विरुद से भी विभूषित हुए थे।[3] डिंडिम कविसार्वभौम-जैसों को पराजित करने वाला श्रीनाथ सचमुच कितने सारे शास्त्रों का ज्ञाता रहा होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उस समय की कुछेक प्रचलित विद्याओं का उल्लेख इस प्रकार मिलता है :

"अवनिनाथ यह सुआ अष्टभाषाभाषी है,
रचता है आठों में सरस चित्रकविताएँ
मधुर आशु-विस्तर, जिनको सुन सत्कवि बरबस
वाह-वाह कर उठें, वेद-वेदांग-शास्त्र में
पारंगत है, सकल-पुराण-कथा अवगत है,
जो भी चाहें पूछ देखिये, झट कह देगा,
नूतन रीति-विधान धातु-विभ्रम का करता,
रसों और वर्णों का अद्वितीय कौशली,
अवधानी भाषाविज्ञानी को न लगाता
अपने पासँग में, वितर्क में गौतमादि ऋषि,
इससे खाते मात, इसे परवाह नहीं है !"

"......ऋग् यजुस् साम, अथर्वण आदि वेदों, शिक्षा-कल्प-ज्योति-निरुक्त

१. 'भीमेश्वर पुराणमु', अ० १, पद्य ७।

२. वही, अ० १, पद्य २३।

३. 'शृंगार नैषधमु', इत्यादि।

व्याकरण-छन्द-मीमांसा आदि तत्त्वावबोध में ब्राह्म, शैव, पाद्म, वैष्णव, भागवत, भविष्यत्, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, ब्रह्म-कैवर्त लैंग, वाराह, स्कान्द, वामन, गौतम, गारुड, मात्स्य, वायव्य आदि महापुराणों में, नारसिंह, नारद, शिवधर्म, माहेश्वर, गालव, मानव, ब्रह्माण्ड, वारुण, कालिका, साम्ब, सौर मारीच कूर्म, ब्राह्म-भार्गव, सौर-वैष्णव आदि समस्त उप-पुराणों में भी·······इसका भली-भाँति प्रवेश है ।"[1]

उक्त शास्त्रों और पुराणों में से कितने मिटे, कितने बढ़े यह जानना भी आज कठिन है ।

उन दिनों राजा-महाराजा 'लक्ष्मी-उत्सव' बड़े समारोह के साथ मनाया करते थे । इस अवसर पर वे महान् उदारता से कलाकारों को दान-पुरस्कार आदि दिया करते थे :

"क्या अवंति-अवनीपति, क्या पार्थिव रजवाड़े
लक्ष्मी-उत्सव आदि समस्त प्रशस्त पर्व पर
सत्कवियों, गायकों, नटों, पाठकोत्तमों का,
करते हैं समृद्ध विविध वैभव दे-देकर !"[2]

कवियों को प्राप्त होने वाले 'विविध वैभव' का वर्णन श्रीनाथ ने इस प्रकार किया है : "सत्कवियों को रत्नाम्बर, कस्तूरी, हेमपात्रान्न दैनिक खर्च इत्यादि प्राप्त थे ।"

'काशी खण्ड' ३-२६ में श्रीनाथ ने एक ब्राह्मण की योग्यता का वर्णन इस प्रकार किया है :

"मथुरा नगर में शिवशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था । उसने वेदों का अध्ययन करके उनके अर्थ समझकर, धर्म-शास्त्रों का पठन करके, पुराणों पर अधिकार प्राप्त करके, तर्क-शास्त्र का मंथन करके, मीमांसाद्वय का मनन करके, धनुर्वेद का अवगाहन करके, नाट्यवेद का अवबोध प्राप्त करके, अर्थशास्त्र पर अधिकार प्राप्त करके, मन्त्र-शास्त्र का

१. 'षोडशकुमारचरित्रमु', अध्याय ६, पद्य १३-१६ ।
२. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग ३, पृष्ठ २७ ।

ज्ञान प्राप्त करके, भाषाओं तथा लिपियों का अभ्यास करके यथेष्ट धन कमाया।"

राजा-महाराजा स्वयं भी साहित्य के साथ, विशेषकर संगीत तथा नृत्य-शास्त्रों का भी अभ्यास किया करते थे। नरेशों द्वारा लिखे हुए शास्त्र तथा व्याख्याएँ स्वयं ही इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त उनके लिए अश्व-शास्त्र, गज-शास्त्र, राजनीति और युद्ध-नीति के विषय तो प्रधान थे ही। राजनीति पर संस्कृत में यथेष्ट ग्रन्थ उपलब्ध थे। मडिकि सिंगनें ने तेलुगू में एक प्रामाणिक ग्रन्थ 'सकलनीतिसम्मतमु' लिखा, जिसमें उसने तेलुगू के अनेक नीति-कवियों के उद्धरण दिये हैं। किन्तु उनमें से अधिकतर कवियों की इतर रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं।

संगीत तथा नृत्य-शास्त्रों पर कुछ ग्रन्थ तो स्वयं राजाओं के ही लिखे हुए हैं। राजा कुमारगिरि ने 'वसंतराजीयमु' नाटक लिखा था। उसकी वेश्या लकुमा देवी उस नाटक को मंचस्थ करके भी किया करती थी :

"जयति महिमा लोकातीतः कुमारगिरि प्रभोः
सदसि लकुमादेवी यस्य प्रिया सदृशी प्रिया
नवमभिनयम् नाट्यार्थानां तनोति सहस्रधा
वितरति बहूनार्थानर्थि व्रजाय सहस्रशः।"

न जाने ऐसी कितनी ही लकुमा देवियाँ काल के गर्भ में विलीन हो गई।

मुसलमानों के प्रभुत्व से देश में फ़ारसी नृत्य का प्रचार हुआ और लोग उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। यह देखकर पेदं कोमटी ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में फ़ारसी नृत्य को भी स्थान दिया। उसने इसे 'मत्तल्लि नर्तन' यानी विमाता-नृत्य का नाम देकर इसका वर्णन एक नवीन नृत्य के रूप में किया है।[1] जन साधारण में और भी अनेक नृत्य प्रचलित थे। उनके सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

1. 'हिस्ट्री ऑफ़ रेड्डी किंग्डम्स', पृ० 282।

संगीत में लोगों को 'जतिग्राम' का विधान बहुत पसन्द था। 'क्रीड़ाभिरामम्' लिखता है :

"द्रुत ताल के संग-संग वीर-गुंभी रंग
गम्भीर तर्क-धुम-धुम-धुम-कट-कटात्कार
संगत बजे सांतरालिक 'यतिग्राम'
ग्रामों में अभिराम, स्वर-तान-सम्भार !"

'जति' इसी 'यति' का तद्भव रूप है। 'यति' तथा 'ग्राम' स्वर के विविध भेद हैं।

रेड्डी और वेलमँ-नरेशों ने बड़े-बड़े दुर्गों, मन्दिरों तथा अपूर्व भवनों का भी निर्माण करवाया। कोंड वीडु के किले की गिनती देश के महान् यशस्वी दुर्गों में थी। उसके अन्दर बहुत सारे महल बने हुए थे। उन्हीं-में एक 'गृहराज' था, जो 'एक स्तम्भ-गृह' के नाम से प्रसिद्ध था। इसके खंडहरों को लोग आज भी 'गुजरात' के नाम से याद करते हैं। आनपर्ति शिलालेख से प्रतीत होता है कि उन्होंने 'क्रीड़ा-सरोवरों' तथा 'केलि-गृहों' का भी निर्माण कराया था। इन बड़े-बड़े सरोवरों में इन रेड्डी-वेलमँ नरेशों ने भी मुसलमान बादशाहों की तरह नौका-विहार किया होगा। कुमारगिरि रेड्डी राजा ने तो निश्चय ही इसका आनन्द लिया होगा। कोंड वीडु में शोतिया बेला की वह बहार थी कि लोगों में यह प्रसिद्ध हो गया था कि वहाँ सड़कों पर पन्नीर (गुलाब जल) का छिड़काव किया जाता था। यह कोई सुनी या कही बात नहीं है। जिन लोगों ने स्वयं देखा था, उन्होंने जैसा सूझा-समझा गा-बजाकर सुनाया है। उन राजाओं का शासन जनसाधारण को अत्यन्त प्रिय था। सचमुच उनको जनता के सुख और सौभाग्य की बहुत ही चिन्ता रहती थी। इसका कुछ अनुमान नीचे के इस लोक-गीत से लगाया जा सकता है, जो लेखक को प्राप्त हो सका है :

"रेड्डी आये, रेड्डी आये, रेड्डी आये री माई !
वीरभद्र रेड्डी आये री माई !

भोर-पहर करवाते गाँव की सफाई,
डगर-डगर पर पानी छिड़कावें
गलियों में गोबर के छींटे दिलावें,
घर-घर दुआरों पर हल्दी लगवावें
हल्दी लगवावें, कुंकुम लगवावें
सौ-सौ रंगोलियों से शोभा बढ़ावें
घर-घर दुआरों पर तोरण सजावें
तोरण सजावें, बन्दनवार भावें
रातों को हाटों में दीये जलावें
करते हैं गाँव का भली भाँति पालन,
धूप से बचाने को डलवाते छाजन,
पेड़ों-पौधों की करवाते हैं काट-छाँट
ठाटदार रखते हैं हाट, घाट, राह-बाट
गाँव के कुओं को उड़हवाते साल-साल
पूनों-के-पूनों पानी में लून-चून डाल
रेड्डी आये, रेड्डी आये री माई !"

(हर पूर्णमासी के दिन कुओं में नमक-चूना डालकर पानी की लूत मारी जाती थी।)

इससे इतना तो स्पष्ट है कि रेड्डी-राजा प्रजा-जन का परिपालन करते थे, उनके प्रीति-पात्र थे, उपयुक्त सकल-जन-अनुरंजक कार्यों के अनेक-विध प्रयास किया करते थे। न जाने ऐसे कितने ही लोक-गीत धीरे-धीरे अनादृत होकर लुप्त हो गए होंगे। जो कुछ जानकारी हमें प्राप्त हो सकी है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रेड्डी-युग की कला 'नवाबी दरजे' की थी।

प्रजा-जीवन

आइये, अब हम इस बात पर विचार करें कि उन दिनों लोगों का

पहनावा कैसा था, आचार-व्यवहार कैसा होता था, विचार किस प्रकार के थे।

साधारणतया लोग धोती पहनते थे। रायल सीमा के अन्दर शूद्र लोग चड्डी अथवा जाँघिया पहनते थे। कन्धे पर चादर और सिर पर गोल साफ़ा साधारणतया सभी रखते थे। कुछ लोग तुर्रेदार साफ़ा भी बाँधते थे, जिसे यहाँ रुमाल कहते हैं। अधिकतर लोग कमर में चार अंगुल चौड़ी और आठ-दस हाथ लम्बी पट्टी की एक पेटी या फेंटा कसते थे। अंगी, अंगरखे आदि भी उन दिनों होते थे, पर उनका रिवाज कम था। अँगरखा पाँव तक लटका हुआ लम्बा हुआ करता था, जिसमें बन्द लगे होते थे। कवियों ने भिन्न-भिन्न वृत्ति वालों के पहनावों के सम्बन्ध में लिखा है :

"इतने में दूजा महावीर आया समक्षः
वह धजा !—खुले-के-खुले रह गए सकल चक्षु
हंसक था बाएँ पाँव, जनेऊ-सी पटकी
कन्धे से कटि तक कस बघनखे रेशम की,
था अङ्ग-अङ्ग में लेप मलयगिरि चन्दन का,
कस्तूरी का टीका माथे पर तिलकित था,
सिर पर था कलँगीदार मुरैठा, ग्रैवेयक—
ग्रीवा से लटक झूलता था हनुमन्त-पदक !
पीछे-पीछे आई जयलक्ष्मी हंस-गमन,
मुखकांति न जिसकी ढक पाते थे अवगुण्ठन
अक्षम थे चित्र किनारी वाले घूँघट-पट !"[1]

श्रीनाथ ने मोरस देश का वर्णन किया है। मल्लम पल्ली ने अपने 'रेड्डी राज्य चरित्र' में कहा है कि मोरस देश मैसूर प्रान्त का ही नाम था। परन्तु श्री वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री ने कर्नूल के पथरीले प्रान्त को मोरस माना है।

१. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग २, पृष्ठ १०८।

मोरस राज्य मैसूर प्रान्त ही है। श्रीनाथ मैसूर प्रान्त में स्वयं गये थे। सम्भवतः यह वहीं का व्यंग्यपूर्ण वर्णन है :

"सिर पर बाँकी पाग
कमर में बाँकी ही तलवार
सन पटुए की साग
ज्वार की संकटान्न जेवनार
तन पर मैला वसन
दिलेरी की बाँकी चितवन
अटपट पहिरन
और बेतुका भाषण-सम्भाषण !
कैसा सिरज गया है मोरस
हाय रंक करतार !"

विजयनगर-राज्य की दरबारी पोशाक विचित्र ढंग की होती थी। पैरों को चूमता हुआ चोगा, गले में एक लपेटा और सिर पर एक लम्बी-सी टोपी, जिसे 'कुल्लाइ' कहते थे। ऐसी पोशाक के बिना दरबार में जाने की मनाही थी। श्रीनाथ को भी जब किसी कार्यवश दरबार में जाना पड़ा तो उसे यह दरबारी पोशाक पहननी पड़ी।

कुल्लाइ देशी वेष है अथवा विदेशी मुसलमानों का अनुकरण, यह बताना कुछ कठिन है। कुल्लाइ की लम्बाई लगभग हाथ-भर की होती थी, और शक्ल ऐसी होती थी मानो मिठाई का पुड़ा उलटकर रखा हो। उस समय के अलिया रामराजु आदि के चित्र देखने से इन कुल्लाइयों के आकार-प्रकार का कुछ अनुमान हो सकता है। कुल्लाइ असल में फारसी का कुलाह है। 'टोपी' शब्द पहले नहीं था। आन्ध्र-साहित्य में 'टोपी' शब्द पहले-पहल विजयनगर के पतन के बाद भट्टुमूर्ति की रचनाओं में मिलता है। टोप्पिका शब्द का प्रयोग पहले-पहल चालुक्य सोमेश्वर ने अपनी पुस्तक 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में किया है। लिखा है कि राजाओं के पहनावे में टोपी मुख्य वस्तु है।

वेलमें नरेशों के यहाँ भी दरबारी पोशाक अनिवार्य थी। मल्लिनाथ सूरि एक बार, शायद पहली बार, अपने साधारण वस्त्रों में ही राज-दरबार में गये थे। किन्तु दरबान ने उन्हें भीतर जाने से रोक दिया था। इस पर उन्होंने कहा था :

"किं दारुणा वंकरटिकरेण
किं वासना[1] चौकिरिवाकिरेण
सर्वज्ञभूपालविलोकनार्थम्
वैदूष्यमेकं विदुषां सहायः।"

'शृङ्गार श्रीनाथ' में लिखा है कि यही बात कोलाचल पेद्दी भट्ट ने भी कही थी।

तेलंगाने के अन्दर रामानुज सम्प्रदाय के नियोगी ब्राह्मण गोलकोंडा व्यापारी कहलाते थे। इनकी वेश-भूषा के सम्बन्ध में श्रीनाथ ने लिखा है :

"इमली के बीजों की लेई,
'दस्त्रा' कलम और दावातें
लिये, मैल से चीकट कपड़े
बदबू से बेतरह गन्धाते,
अस्त-व्यस्त बड़ी मुखड़े पर
दाढ़ी से दोचन्द भयंकर
कौन क्रूर व्यापार भला
होगा इनका ? हम दंग देखकर !"

'दस्त्रा' बस्ते को कहते हैं। फ़ारसी का 'दफ़्तर' ही तेलुगू में 'दस्त्रा' या 'दस्तरमु' बन गया है। अभी हाल तक तेलंगाने में बाँस की हाथ-भर लम्बी फोंफी में सरकण्डे की कलमें भरे रखते थे। बाँस की उस फोंफी के तीन छेदों में से तागों के साथ पीतल या ताँबे की दावात लटकती रहती थी। लोग स्याही आप ही बना लिया करते थे। (गोबर-पानी और कोयले से लेकर तेल के काजल, कढ़ाई में पके पाक या शीरे के

१. वाससा ?—(सम्पा० हि० सं०)

साथ तरह-तरह की स्याहियाँ बनती थीं।) कलम को लोग समझते हैं कि यह भी फ़ारसी शब्द है। पर संस्कृत में 'कलम' का प्रयोग लेखनी के ही अर्थ में पाया जाता है।

खैर, और तो और; इन पटवारियों के "मुखड़े पर अस्त-व्यस्त भयंकर दाढ़ी क्यों ?" ऐसा तो नहीं था कि मुसलमानी हुकूमतों में सुलतानों का अनुकरण करके सभी सरकारी लोग दाढ़ियाँ बढ़ाते रहे हों ?

साफे की जगह रूमाल का वर्णन भी कहीं-कहीं मिलता है। 'रूमाल' ही तेलंगाने में 'रुमाल' हो गया है। रूमाल तो मुँह पोंछने का लत्ता है, पर तेलंगाने का रुमाल बड़ा होता है, रंगीन लुंगी की शक्ल का होता है, चौड़ाई लुंगी जैसी ही होती है, पर लम्बाई में चौड़ाई के बराबर के चौरसों में लम्बाई जितनी दरकार हो उतनी ली जा सकती है, इसीको रुमाल कहते हैं, जिसे सिर पर साफे की जगह लपेटते और शरीर पर चद्दर की तरह ओढ़ते हैं या फैशन-सा कन्धे पर डाल लेते हैं। अब यह कम हो रहा है। कदाचित् यह सब वर्णन उस तेलंगाने का है, जो मुसलमानी असर में आ गया था।

एक गड़रिये का वर्णन सुनिये—"सिर पर साफ़ा, कमर में बाँसुरी, कन्धे पर कुल्हाड़ी, सिर से पैर तक लटकता हुआ काला कम्बल, गले में मनकों की माला, हाथ में बाँस की लठियाँ, कमर में कमर-पट्टा, हिरन का सींग, जालीदार छींका और साथ में रखवाले कुत्ते।"[१]

गड़रिये मुरगे की पहली बाँग के साथ उठते, साथियों के साथ जुट-कर ढोरों को नाम ले-लेकर पुकारते, दूध दुहते, उसे नगरों को भिजवाते, फिर रेवड़ और ढोर-डंगरों को लेकर जंगलों में चराने चल पड़ते। चारों ओर जंगली जानवरों से बचाकर साँझ तक उन्हें घर लौटा ले आते। बछड़े के मरने पर भी दूध देते रहने के उपाय और पेट में ही बच्चा मरने पर दवा करना वह जानते थे। इसी प्रकार पशुओं के बीसियों

---

१. नवनाथ, पृष्ठ २७।

नाम, उनकी दवा-दारू और मन्त्र-तन्त्र की विधियाँ भी प्रचलित थीं ।[1]

उन दिनों रुई धुनने वाले धुनों की भी एक अलग जाति थी। आज सभी धुने मुसलमान हैं। न जाने तब क्या थे ? इन लोगों ने अपना धर्म शायद टीपू सुलतान या औरंगजेब के समय बदला है। धर्म बदलने पर भी उनका पेशा नहीं बदला। उनकी औरतें भी रुई धुनती थीं।

श्रीनाथ ने पिंजारिन की प्रशंसा में कहा है :

'उरवी के उर पर कापसि का पर्वत है
पिंजारी तरुणी उसको धुनने में रत है !"

बुन्देले तेलुगु देश में बोंदिलि कहलाते हैं। आंध्र-कर्नाटक सेनाओं में बुन्देले सैनिकों की भरती प्रचुर संख्या में हुई थी। फिर वे वहीं बस गये। उनकी स्त्रियों में परदे की प्रथा थी। श्रीनाथ ने बुन्देली स्त्री का वर्णन यों दिया है :

"सरसी की तरंगमाला में बालकूर्म से
तैर रहे हैं पैर 'गागरे'[2] की चुन्नट में
रंगीली; बोंदिली भामिनी चली; मुखांबुज
ओट किये कर-कंजों से थामे घूँघट में !"

तब और अब की बोंदिली स्त्रियों की (जनानी) वेश-भूषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। नाक में नथ, कमर में पट्टा और उसमें टँके घुँघरू और जंजीरों की लटकन, पैरों में 'अंदे' (नूपुर, झाँझन), गले में तिलड़े हार (त्रेसर), कलाई पर कंगन, कानों में ताटंक (कर्णफूल), नाक में मुक्कर (रत्न-बेसर) इत्यादि गहनों को सामान्यतया सभी बोंदिली स्त्रियाँ पहनती थीं। किसी कवि ने एक कासलनाड की युवती का वर्णन यों किया है :

---

१. नवनाथ, पृष्ठ २९-३०।
२. 'गागरा' अर्थात् लहँगा। ('घाघरा'—सं० हिं० सं०)

"अन्नी की नथ, मंगल-सूत्र अधन्नी का
पैसे को भी महँगा कर्णफूल फीका,
पाई को भी पूछ न जिसकी, वह मोती
तन पर मैल-भरी चीकट-सी है धोती,
आती सकुचाती शरमाती पनघट पर
कासलनाडी कनकांगी अंगना सुघर !"

गहनों के बारे में बहुत सारी कविताओं में उल्लेख हैं। जैसे एक यह है कि :

"उछल रहा अधराधर पर
हुरुमुञ्जी मोती का बेसर !"

इस प्रकार की बहुतेरी कहावतें भी हैं। काजल उन दिनों प्रायः सभी स्त्रियाँ लगाती थीं। विवाह के बाद विदाई के समय माताएँ जब अपनी बेटियों के दामन भरतीं, तब उसमें काजल-भरी एक डिबिया भी अवश्य ही रखतीं। 'बंगारु चीर' (सुनहरी साड़ी), 'कुसुमांचल' 'चन्द्रिका-चोली', 'यमुना चोली' इत्यादि उनके कपड़े हुआ करते थे। 'गागरा' या लहँगा तो केवल बुन्देली स्त्रियाँ ही पहनती थीं। और बुन्देले अभी पूरे तेलुगू नहीं बने थे।

दाक्षारामम् और भीमवरम् की वेश्याएँ प्रसिद्ध थीं। ये मुन्नूर जाति की होती थीं। पेद-मुन्नूर और चिनमुन्नूर इनकी दो उपजातियाँ थीं।

"दक्षारामाधिपति भीमनाथ को
त्रिदशद्वयवारवामा-जन साथ में
अवनितल भेंट किया देवनाथ ने !"[1]

अर्थात् राजा भीमनाथ की बत्तीस वेश्याएँ थीं।

रहने-सहने के घरों के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा मिलती है :

"बित्ते भर की तो कुटिया, उसमें भी ढोरों के दल-बल
गिजबिज, धूल, कीच, गोबर की ढेरी, फटे-चिटे पत्तल,

१. 'भीमेश्वरपुराणमु', अ० ५, पद्य ८४।

बासी भात, बाल-बच्चों का मल, मैले कपड़े-लत्ते,
गन्दे बालों वाली राँडें, ईंधन के डंठल-पत्ते
जहाँ-तहाँ पर ढेर, हाँडियाँ कालिख-पुती रसोई की,
अरे, पुरोहित के घर का तो नाम भूल मत लेना जी !"

यह आंध्र ब्राह्मण का वर्णन तो जरूर है, पर पूर्वी जिलों के ब्राह्मणों का नहीं हो सकता ! गोदावरी, कृष्णा आदि के डेल्टों में, विशेषकर रेड्डी-युग में, ब्राह्मणों की ऐसी दशा तो हरगिज नहीं थी । निश्चय ही यह पल्नाडि सीमा का वर्णन है । जब पुरोहित ब्राह्मणों के घरों की यह दशा थी, तो कंगाल शूद्रादि की झोंपड़ियों की क्या दशा रही होगी ? पल्नाडि में तथा कर्नूल, अनन्तपुर, बल्लारी आदि के बहुतेरे अंचलों में आज तक एक बुराई यह चली आ रही है कि लोग अपने रहने-सहने के घरों के अन्दर ही पशुओं को भी बाँधा करते हैं । तिस पर तुर्रा यह कि घरों में खिड़कियाँ भी नहीं होतीं । न जाने चोरों के डर से या कि क्यों, खिड़की का रिवाज इधर कभी रहा ही नहीं । राज-भवनों में भी खिड़कियाँ विरले ही रही होंगी । हाँ छतों में 'गवाक्ष' (रोशनदान) जरूर होते थे । उन्हींसे हवा और प्रकाश अन्दर आते थे ।[1]

घर तो क्या थे, मानो चारों ओर से बन्द बक्से होते थे । सबका एक ही जंगली नमूना होता था । फिर उन्हींके अन्दर पशुओं का वासा भी हुआ करता था । धनी लोग अलबत्ता पशुओं की गोंठ अलग बनवाते थे और अपने रहने के घरों को 'चतुश्शाला भवंति' बनाते थे । सामान्यतः बाहर पडपाल (बरामदा), अन्दर जाने पर चारों ओर चार बड़े-बड़े दो-मुँहे दालान, बीचों-बीच अच्छा चौड़ा रोशनदान और दालानों के चारों कोनों पर कोठरियाँ होती थीं । रसोईघर और स्नानघर अलग होते थे । ऐसी 'भवंति' के बाहर वाले आँगन में चार-दीवारी में बड़ा फाटक होता था और पिछवाड़े में एक खिड़की होती थी ।

फिर वास्तु-शास्त्र के नियम बने । छत की धन्नी कड़ियाँ तिरछी न

१. 'भोजनागार-गवाक्ष-मार्गम्बुल वेडलि'—काशीखंडमु ।

कटें, दरवाज़ों की संख्या विषम न हो, इत्यादि-इत्यादि। रसोईघर प्रायः पूरब की दिशा में रखा जाता था। घर की नींव रखते समय और घर तैयार होने के बाद स्वस्ति के लिए ब्राह्मण को बुलाकर मन्त्र-पूजा आदि के साथ 'पुण्याहवाचन' आदि कराये जाते थे। शांति के लिए सम्बन्धियों तथा गरीबों को रुचिकर भोजन कराया जाता था। घर को पशुओं की बलि भी दी जाती थी। दीवारों में जगह-जगह अलमारी-सी 'अड्गु' बनाई जाती थी। घर के अन्दर सिर से जरा ऊपर छत के नीचे लकड़ियों के तख्तों की अटारियाँ बनती थीं। **"दिन-भर बाहर रहकर रात के समय कुछ मनुष्य अपनी घर की अटारी में पड़ जाते।"**[1] ऐसी और भी उक्तियाँ जहाँ-तहाँ प्रबन्ध ग्रन्थों में पाई जाती हैं।

छत से हाथ-भर नीचे लम्बे-लम्बे बाँस आड़े-आड़े बाँध दिये जाते थे, जिन पर सूखने के लिए कपड़े फैलाये जाते थे। उसे 'दंडेमु' कहते थे। **"दंडम पर लटकाया हुआ स्वर्णहार कंधों से लगने पर उसे उतार लेते।"**[2]

राज-प्रासादों के निर्माण का ढंग इससे भिन्न होता था। वास्तु-शास्त्र के अनुसार सर्वतोभद्र, स्वस्तिक, पुष्पक आदि नाम गृह-निर्माण के विविध प्रकारों के हैं। राज्याधीश अपने प्रासादों तथा दरबारों के अलग-अलग शुभ नाम भी दे रखते थे। कृष्णदेव राय के सभा-भवन का नाम 'भुवनविजय' था। वीरभद्र रेड्डी का सौध 'त्रैलोक्य-विजयमु' कहलाता था।

श्रीनाथ ने लिखा है :

"त्रैलोक्यविजयाभिदंबैन सौधंबु
चन्द्रशाला प्रदेशंबु।"[3]

समय की माप घड़ियों से होती थी। दिन की तीस और रात की

१. 'केयूर बाहुचरित्रमु', पद्य २३९।
२. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग २, पृष्ठ ८८।
३. 'काशिकाखंडमु'—कृत्यादि।

तीस कुल साठ घड़ियाँ होती थीं। राजमहल के फाटकों पर घड़ियों के घण्टे १ से ३० तक बजाये जाते थे। लोग इसीसे समय का अन्दाज़ा करते थे। शादी-ब्याह आदि शुभ कार्यों के अवसरों पर नगरों के निवासी राजभवन की घड़ियों का बजना सुनकर ही अपने मुहूर्त किया करते थे। गाँवों में जहाँ घण्टे नहीं बजते थे, वहाँ पुरोहित ब्राह्मण 'गडिय-कुडुक' (कटोरी-घड़ी) का प्रयोग करते थे। इन छेदों वाली कटोरियों को पानी में छोड़ा जाता था, पर्याप्त पानी भरने पर कटोरियाँ डूब जाती थीं। बस इसी पर मुहूर्त होता था और पुरोहित जी 'जयघण्टी' पर अक्षत डालते थे :

"उत्सवानंद-रस में निमग्न
थे लोग, ध्यान से समय लग्न
के शुभ-समुदय के सूचक उस
ताम्रक-घटिका के सलिल-मग्न
होने की बाट जोहते थे,
ज्यों ही डूबी, जय-घंट बजे
मंगलाशीर्वचन-पुरस्सरम्
अक्षत उन पर डाले सबने
सुमुहूर्त्त हुआ।"
"बजा गजर :
तूर्यनाद से दिशाकाश गूँजे सत्वर,
उमड़ा विप्रजनों के वेद-पाठ का स्वर !"[1]
"डूब गये ग्रहराज जलधि में 'गडियकुडुक' से !
बुद्बुद लाजा के समान तारागण छितरे।
होमवह्नि की लाल-लाल लौ से जग जगमग
निशा-सती का पाणिग्रहण द्विजराज ने किया !"[2]

१. 'भोजराजीयमु', अ० ४, पद्य ६२-३।
२. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग १, पृष्ठ १०२।

इसी प्रकार अन्य समकालीन कवि भी कई विशद वर्णनाएँ छोड़ गए हैं।

सहगमन अर्थात् सती-प्रथा

दक्षिण भारत की यह कोई प्रथा नहीं है। यह तो उत्तर से ही दक्षिण में उतरी है। जहाँ-जहाँ मुसलमानों का अत्याचार अधिक रहा वहीं-वहीं यह प्रथा अधिकाधिक फैलती गई। इसका जोर तो विशेषकर काश्मीर, पंजाब और राजस्थान में ही रहा। बाद में यह बंगाल में भी पहुँची थी और वहाँ भी इसने खासा जोर पकड़ लिया था। दक्षिण में इसने काकतीयों और रेड्डी राजाओं के समय प्रवेश किया और सती होने की इक्की-दुक्की घटनाएँ यहाँ काफ़ी अरसे तक घटती रहीं।

'सिंहासन द्वात्रिंशिक' में एक कहानी आती है। एक सैनिक अपनी स्त्री को राजा के आश्रय में रखकर स्वयं युद्ध में भाग लेने कुछ ही दूर गया होगा कि कोई शक्ति उसे आकाश में उड़ा ले गई और थोड़ी ही देर बाद आकाश से उसके हाथ-पैर आदि अवयव टूट-टूटकर धरती पर गिरने लगे। सैनिक की पत्नी ने उन बिखरे अंगों को इकट्ठा किया और उन्हें साथ लेकर चिता में 'सहगमन' करने का निश्चय किया। राजा ने उसे रोकने की बहुतेरी चेष्टा की, परन्तु बार-बार समझाने पर भी उस स्त्री ने न माना। अन्त में राजा को भी राजी होना पड़ा।

यदि 'सहगमन' उन दिनों यहाँ का साधारणाचार होता तो वह स्त्री इतनी जिद करती ही क्यों, और उस धर्म-पालक राजा को उसे इतना रोकना ही क्यों पड़ता भला? 'सहगमन' के अवसर पर उस स्त्री के इतना लम्बा-चौड़ा भाषण देने का भी फिर क्या प्रयोजन था? निश्चय ही यह कथा सती-प्रथा के प्रचार के लिए गढ़ी गई है। उस सैनिक-पत्नी ने जो तर्क किये थे, उन्हें यहाँ पर उद्धृत करना उचित होगा :

"कुल में होगी दुर्गति;
रूक्ष सदा अशुभाकृति

रखनी होगी; गुवा-पान तक तपना होगा;
तरस-तरस गहनों को,
तज सखि-सुहागनों को,
हर मंगल के समय अलग रह तपना होगा;
रूप-गंध-भर सुमन
कभी ये केश अचिक्कण
पहन सकेंगे नहीं; राँड बन जीना होगा;
जहाँ जायँ, दुतकारें,
कटु तानों की मारें
सहनी होंगी, घूँट लहू का पीना होगा!
जीना नहीं, न मरना,
बहना नहीं, न तरना,
भीतर-भीतर एक आग सुलगा करती है!
सब विधि यही उचित
कि चिता को देह समर्पित
करूँ, कि ऐसों के गुन गाती यह धरती है!"[1]

'सती' का यह घोराचार आंध्र-देश में कभी अपनी जड़ें नहीं जमा सका था। ऊपर के पद्यों में विधवा की विपदाओं का खास वर्णन किया गया है। श्री माल्लंपल्ली सोमशेखर शर्मा ने अपने 'रेड्डी राज्य चरित्र' में 'पेरटालु' का शब्दार्थ 'सती' किया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। यह शब्द 'सुहागन' के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। ऊपर उद्धृत पद्य में भी 'पेरटंबुलनु पोक तोरंगि' (तज सखि-सुहागनों को) वाले अंश में 'पेरट' शब्द है। यहाँ 'पेरटालु' या 'सती' का अर्थ 'सुहागन' ही हो सकता है, पति के शव के साथ जल मरने वाली नहीं। इससे सिद्ध होता है कि विधवा स्त्रियों को विवाह आदि शुभ अवसरों पर बुलाया नहीं जाता था। विधवाओं की संख्या पर्याप्त थी और उनकी विपदाएँ भी

१. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग २, पृष्ठ ११०।

संख्यातीत थीं। फिर भी 'सती' (पति के साथ जल मरने वाली) बहुत कम होती थीं। जो 'सती' होना चाहती भी थीं उन्हें समाज रोकता था। एक पाश्चात्य यात्री निकोलाकोंट ने लिखा है कि, "द्वितीय देवराव की १२००० स्त्रियाँ थीं। राय के मरने पर कम-से-कम ३००० तो सती हो गईं!" उसने लिखा है कि "सती की प्रथा विजयनगर राज्य में खूब फैली हुई है। सती को पति की चिता पर जीवित ही जला दिया जाता है। कुछ लोग पति के साथ पत्नी को जिन्दा दफ़न कर देते हैं।" फिर भी यह कहा जा सकता है कि सती की प्रथा यहाँ सर्व साधारण में नहीं थी, केवल उच्च कुलों में ही कुछ-कुछ थी।

लोग अनेक प्रकार के मद्य अनेक प्रकार से स्वयं तैयार कर लेते थे। प्राचीन कवियों ने गोडी, पैष्टी, माध्वी आदि का वर्णन किया है। उनके अतिरिक्त रेड्डी-युग में कुछ और भी नाम सुने जाते हैं। एक जगह वर्णन मिलता है :

> "एक बार कुछेक सुन्दर बाँके युवकों ने पान-गोष्ठी का आयोजन किया। उन्होंने 'कादंब', 'माधव', 'ऐक्षव', 'क्षीर', 'आसव' 'वार्ष', 'रतिफल' आदि मूल-स्कंध-कुसुम-फल-संभव बहुविध सुरापाक भेदों को मधुर मधु-विशेषों तथा परिमल-द्रव्यों के योग से स्वादिष्ट तथा सुगंधित बनाकर पृथक्-पृथक् सुन्दर पात्रों में भर रखा।"[1]

इन मद्यभेदों में 'माधव' महुए की दारू का नाम रहा और होगा, ऐक्षव गन्ने की दारू का। आसव साधारण रूप से आयुर्वेद की रीति से बने जड़ी-बूटियों के मद्य-द्रव्यों को कहते हैं। कादंब, क्षीर, वार्ष, रतिफल आदि पदों की व्याख्या निघंटुओं में नहीं मिलती।[2] इन शराबों को जड़ी-

१. 'सिंहासनद्वात्रिंशिक', भाग १, पृष्ठ १०३।

२. कादम्ब सम्भवतः 'कादम्बरी' को ही कहते रहे होंगे। 'कदंबे जातो रसस्तं राति कादंबरी'; कदंब के रस से बनी शराब को। 'क्षीर' दुद्धी अथवा खीरी की शराब रही होगी। दूध की भी हो सकती है। —सं० हिं० सं०।

बूटियों और फलों-फूलों के योग से तैयार किया जाता था। प्रौढ़ कवि मल्लन ने कुछ और भी मद्यों के नामों का उल्लेख किया है :

"शार्करंबु, सूनजंबु, गुग्लुसुमघृतजंबु, नारिकेलजंबु, माध्विकाबु, फलमयंबु, गौड, ताळमयंबु नादिगा तर्नाच नासवमुलु।"

(शार्कर, सूनज, गुग्लुसुमघृतज, नारिकेलज, माध्विका फलमय, गौड, तालमय प्रभृति आसव पिये जाते हैं।)

(इनमें 'शार्कर' और 'गौड' तो क्रमशः शक्कर और राब के शीरे की दारू रही होंगी, 'नारिकेलज' नारियल और ताड़ की ताड़ी, तथा 'माध्विका' जो संस्कृत के माध्वी शब्द से मिलता-जुलता नाम है, अंगूरी शराब की संज्ञा रही होगी। 'सूनज' और 'गुग्लुसुमघृतज' का कुछ पता नहीं चलता। 'गुग्लुसुमघृतज' शायद 'गुग्लु' नाम के किसी फूल और घी के योग से बनने वाली सुरा होगी। 'फलमय' आसव कई फलों के अर्क या अराक से बनता रहा होगा। —सं० हि० सं०।)

नटखट गाय यदि सींग या लात मारकर दूध न दुहने दे तो लोग सींगों में 'तलकील' बाँधकर बल देते थे। अर्थात् एक लाठी में रस्सी का फंदा लगाकर उसमें सींगों को फँसाकर बल देते और तब दूध दुहते थे।[1]

परुस वेदी या पारस पत्थर पर तथा लोहे आदि को सोना बनाने की कीमियागिरी या रहस्य-रसायन पर लोगों को अटूट विश्वास था। अनंतामात्य ने 'भोजराजीयमु' में लिखा है कि राजा भोज ने सर्पटि नामक एक सिद्ध को धोखा देकर 'धूमवेधी' स्पर्श-वेधि क्रिया को सीख लिया था। वेम रेड्डी के सम्बन्ध में भी एक गाथा है कि उसने एक कोमटी (बनिया) को धोखा देकर उससे यह क्रिया सीख ली थी और उसीके प्रताप से कोंडवीडु में अपना राज्य स्थापित किया था। यह कहना कठिन है कि ये बातें कहाँ तक सच हैं। पर इतना तो मानना पड़ता है कि प्रोलयवेम को चाहे यह 'परुसवेदी' हो या और कुछ, इस प्रकार की कोई

१. 'सिंहासनद्वात्रिंशक', भाग १, पृष्ठ ५०।

विधि मिली जरूर थी। क्योंकि तुंगभद्रा नदी के तट पर स्थित 'मंचाले' तीर्थ पर जो शिलालेख है उसमें यों लिखा है :

यदृच्छया स्वर्णकर प्रसिद्धि
लब्ध्वान्नमाम्बा पतिरा बभूव।"[1]

न जाने यह 'स्वर्णकर-प्रसिद्धि' क्या बला है। कोंडवीडि दंड-कविता में भी इसके सम्बन्ध में एक गाथा है।

भारत में ईसवी सन् के आरम्भ से अथवा बौद्ध सम्वत् के आरम्भ-काल से ही लोग 'स्पर्शवेधी' का पता लगाने के विचार से पारे के साथ कुछ जड़ी-बूटियों का रस मिलाकर उसमें लोहा, ताँबा आदि किसी साधारण धातु को रखकर तरह-तरह की भट्ठियाँ चढ़ाते और सोना तैयार करने की चेष्टा करते रहे हैं। सिद्ध नागार्जुन को इस 'स्पर्शवेधी' की जानकारी मिली हो या नहीं, पर इतना तो सभी मानते थे कि नागार्जुन संसार-भर के रसायन-शास्त्रियों में अग्रगण्य थे। पूरे चीन देश में नागार्जुन की महान् महिमा की प्रशस्ति गाई जाती थी। इस 'रस-वाद-विद्या' की व्यर्थता के सम्बन्ध में ईसवी सन् १४०० के आस-पास कवि गौरनें ने लिखा है :

"बहुत-बहुत भटका इन हेम-क्रिया-पारीण-जनों के पीछे,
बहुत-बहुत रसग्रन्थ-पटल औ धातुवाद के पोथे छाने,
बहुत-बहुत व्याकुल हो-होकर सकल वित्त-सर्वस्व लुटाये,
मंत्रवादियों, यंत्रवादियों, किसको-किसको दिये न जाने,
कितने रखे सहायकार, कितने औषध-पत्रों पर फूँके
क्या-क्या जड़ी-बूटियाँ, क्या-क्या रस-पुट नहीं खरल में डाले,
कभी साथ तो कभी अलग कूटे-पीसे, भट्ठियों चढ़ाये
कभी उड़े तो कभी धमाके हुए, पड़े जानों के लाले,
जब निदान थक, हार मानकर बैठा, यही तोष था जी को :

---

१. शा० संवत् १२६२, तदनुसार सन् १३४० ई०।

यह रसवाद-सिद्धि, ईश्वर की गति, मिलती है किसी-किसी
को !"[१]

"वाद श्रहो वैद्य श्रेष्ठः !" रसवाद में सफल न होने पर भी इन अनुसंधानों से वैद्य-शास्त्र को तो लाभ हुआ है।

लोगों में अनेक प्रकार के विश्वास थे। स्त्रियों के विश्वास भी विचित्र होते हैं। जिनके संतान न होती, वे संतान-प्राप्ति के लिए न जाने क्या-क्या किया करती थीं। 'पल्नाडि-वीर-चरित्र' में बालचन्द्र की माता के ऐसे प्रयासों का सविस्तर वर्णन है। अन्य साधारण स्त्रियाँ भी इसी प्रकार तड़पा करती होंगी। एक स्त्री संतान-प्राप्ति के लिए :

जाती नित्य सभक्ति शक्ति-मातृका-भवन में,
संतत रहती निरत अतिथि-सत्कृति-सेवन में,
वायस को दधि-बलि देती, मिन्नतें मानती,
घड़ी-घड़ी 'ज्येष्ठा देवी' की, पर्व ठानती,
पुण्य संहिता-श्रवण किया करती ब्राह्मण से,
साधु-संत के दिये मूल-माणिक-धारण से
अशुभ-निवारण करती तन्वंगी, गंधाक्षत
चिरंटियों को तथा विप्रजाओं को न्यौछत
देती रहती, आवे से ले-ले कुम्हार के
सौ-सौ घड़े हवाले करती नदी-धार के,
बाँटा करती बच्चों को मीठे-मीठे फल
व्रत रखती सखियों के सँग, जा-जाकर देवल
देव पूजती, और पूजती ग्राम-यक्षिणी
सदा तामरस-नेत्र-पुत्र-संतान-कांक्षिणी !"[२]

गर्भवती स्त्री को तीसरे मास में मुद्दे (मीठे भात के बड़े-बड़े गोले), पाँचवें में गुजिये (इडली) खिलाते थे। सातवाँ महीना लगते ही एरी

१. 'नवनाथ', पृष्ठ २४२।
२. 'शिवरात्रिमाहात्म्यमु', अ० ६, पृष्ठ ४०।

पोलम्मा (ग्राम देवी) को पूजते और मिन्नतें मानते थे। गर्भवती के हिचकती हुई कहने पर कि देखो बहन, यहाँ बाईं ओर कुछ ढलक-सा गया, तमाम स्त्रियाँ जुटतीं और कुछ प्रक्रियाओं के बाद लड़का पैदा होने की सूचना देतीं, और वह युवती खुशी से फूल जाती। बच्चा होने के बाद नाभि पर सोने का टंक (सिक्का) रखकर नाल काटते। सूपों में मोती भरकर दान करते, बच्चे के सिर में घी-तेल मलते, धाय नरम-नरम कपड़ों की तह बिछाकर बच्चे को लिटा देती, बच्चे को नहलाती, माथे पर टीका लगाती, दरवाजे पर चावल का भूसा बिनौले और आग रखकर देहरी के बराबर लोहे का डंडा डाल देती तथा नीम की पत्ती डालकर पानी गरम करती। प्रसूति-गृह में पहरा रहता। रात-भर कोई-न-कोई जागता ही रहता। अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियों को बुलाकर उन्हें भेंट दी जाती थी। वे जो साथ लातीं, उसे स्वीकार किया जाता। सुगन्धित हरे कपूरी पान के बीड़े खिलाकर उन्हें विदा किया जाता।[1]

लांछनों के सम्बन्ध में श्रीनाथ ने कहा है :

"**कर्णाटकी कमल-मुखियाँ उस समय गलियों और सड़कों पर नाचतीं और कोयल के पंचम स्वर में एत्तिलि, पंजल, धवल आदि विविध गीत गातीं।**" अप्पय कवि ने शादी-विवाह के इन गानों के भी लक्षण लिखे हैं। कुछ घरानों में विवाह के अवसरों पर अब भी धवल गाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुसुमांगी ने पूजा की चौकोर बेदी पर बासन सजाये। एक और पद्माक्षी ने 'जाजाल पाल' में सारी औषधियाँ भरकर जल का छिड़काव किया। एक कांता ने बड़ की डाल से खरल लुढ़काया। एक बिम्बोष्ठी ने पीढ़ा बिछाकर उसे पवित्र वस्त्र से ढक दिया।

मायके वालों ने प्रसूति-गृह में ही बेटी को उपहार दिये।
दूसरे रिश्तेदारों ने हजारों नजराने दिये।
नृपालों और महीपालों ने भी भूरि-भूरि संपदा भेंट दी।[2]

१. सि० द्वा०, भा० १, पृष्ठ ५९-६०।
२. सि० द्वा०, भा० १, पृ० ५९-६०, भा० २, पृ० ५४,५६,६२।

'शिवरात्रि माहात्म्य' अ० २ पद्य ७०-७१ आदि में श्रीनाथ ने प्रसूति-गृह के लांछनों का वर्णन इस प्रकार दिया है :

"अरिष्टालय अर्थात् प्रसूति-गृह में स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ करती थीं। कोई सिरहाने धवल निद्रा-कुम्भ रखती थी, तो कोई रक्षा-रेखा खींचती थी। कोई गुलाल छिड़कती थी, तो कोई बलि चढ़ाती थी। कोई नीम के टूँसों तथा नमक का उतारा देती थी, तो कोई बेल-खाट तैयार करती थीं। कोई धूप-दीप जलाती थी, तो कोई शुभोदय का चिंतन करती थी। कोई असीसें देती, तो कोई गंडतैल उठाती। कोई धाव (?) लगातीं, तो कोई गाती और कोई हँसी-दिल्लगी करती थी।"

एक युवती ने कपूर मिले चंदन के लेप से दीवार पर हथेली की छाप लगाई। एक ने मेंढक लाकर उसे भीतरी घर की देहरी पर चित लिटा दिया। एक ने केसरिया वस्त्र पहनकर ज्येष्ठा देवी का पूजन किया। एक ने सूर्य-चन्द्र का चित्र उरेहा। एक ने बूढ़े बकरे के गले में फूल-हार पहनाये। एक ने घी डाला। एक ने साँप की केंचुली को आग में जलाया।

ये प्रथाएँ कृष्णा-गोदावरी-डेल्टावासियों की हैं। इससे पहले जिनकी चर्चा आई थी, वह तेलंगाणे की थीं।

वधू के माता-पिता विवाह के बाद विदाई के समय बेटी को गौ भेंट करते थे।[1]

लोगों का विश्वास था कि गड़े हुए धन पर भूत-प्रेत (धन पिशाच) बैठ जाते हैं। इन धन-पिशाचों की शान्ति के लिए उन्हें पूजा तथा पशु-बलि आदि दी जाती थी।

इस सम्बन्ध में 'द्वात्रिंशिका' के दो पद्य ये हैं :

"न जाने यह किसका धन है गड़ा,
युगों से भूमि-गर्भ में पड़ा।

---

१. 'भोजराजीयम्', अ० ६, पद्य ३९।

अगर इसका करना है खनन
प्रेत को तृप्त करो राजन् !'
मान ली राजा ने यह बात
मेष-बलि दी, पकवाया भात,
सुरासुर-संग तृप्त कर प्रेत,
खनाया अपिहित निधि का खेत ।"

धरती में दबे हुए विक्रम-सिंहासन के लिए राजा भोज ने भी ऐसा ही प्रेत-तर्पण किया था ।

उन दिनों धनी-मानी लोग भाँति-भाँति के अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजन किया करते थे । ब्राह्मणों में भोजन-प्रियता उनसे भी बढ़-चढ़कर थी । 'ब्राह्मणो भोजन प्रियः' । रेड्डी शैव थे । शायद इसी कारण वे मांसाहारी नहीं थे । आज भी शैव रेड्डी मांस नहीं छूते । नेर वाटी कापु और नानु कोंडा कापु दोनों जाति के रेड्डी हैं और शैव हैं । वे साधारणतया मांस नहीं खाते । कुछ मोटाटी रेड्डी भी मांस नहीं खाते । वैष्णव रेड्डी मांस खाते हैं । ऐसा जान पड़ता है कि वैष्णवाचार्यों ने मांस का निषेध नहीं किया । 'आमुक्त माल्यदा' में रेड्डियों के खान-पान के सम्बन्ध में चर्चा है । इससे कुछ जानकारी प्राप्त होती है । कवियों के वर्णनों में विशेषतया ब्राह्मण-भोजन के सम्बन्ध में ही उल्लेख है । कोंडावीडु के लिंगना मंत्री की पंगत में श्रीनाथ ने कई बार गले तक भोजन किया, और उस मंत्री के अन्नदान का वर्णन करके मानो वह ऋण-मुक्त हुए । कहते हैं :

"खाँड़, जुन्नु-खाँड़, दोसे, बड़े और सेवैयाँ,
काली गौ के ताजा घी, पंचभक्ष साम्बार,
साग दाल मूँग की[1] मधु, शरबत अनार-रस
अम्ल लवण में अमृत खंड पांडु दधि के साथ

१. आंध्र साहित्य में मूँग की चर्चा बराबर आती है, किन्तु दूसरी दालों की नहीं के बराबर है ।

द्वादशी की पारणा विप्रों की कराने में
लिंग मंत्री तो मानो अभिनव रुक्मांगद हैं।"[1]

जान पड़ता है कि द्विजाति-वर्ग के लोग एकादशी व्रत का पालन निष्ठा के साथ करते थे। एकादशी-व्रत तथा द्वादशी पारणा का प्रतिपादन करने वाली रुक्मांगद की कथा का प्रचार उस समय तक हो चुका था।

भीमेश्वर पुराण अ० २, पद्य १४२ का भावार्थ इस प्रकार है : **"अंगूर का शर्बत, खाँड, शक्कर या मिसरी, केलों के गुच्छे, गाय का दूध, भडिगा (भक्ष्य), लाजा घी, दाल आदि का अक्षय आहार पेट-भर खूब खाया और अक्षुद्र क्षुधा की शान्ति की।"**

ग्रन्थराज काशीखंड में भोज्य, चोष्य, लेह्य, और पेय भोजन-पदार्थों का वर्णन आया है। केले के पत्तों अथवा पलाश की पत्तलों तथा कनक-पात्रों में भोजन-सामग्री परोसी जाती थी। भोजन के पदार्थों के नाम ये हैं—आपूप, लड्डू, इडली, कुडुम (गोजिये), पापड़, इघट, गोल्लेडा, जिलेड्डा, दोसे, सेवैयाँ, अंगर पोली, सारसत, बोंतर कुडुम, चकली, मडगर मोरुण्डा, उड्रेक्षुखंड, पिंडखजूर, द्राक्षा, नारियल, केला, कटहल, जामुन, आम, लिकुच, अनार, कैथ, कर्काधू, खसखस, मूँग की खिचड़ी, गन्ने का गुड़, अरिसे, बिसकिसलय, चिरुगडम, बडिदेम, बुलुपा, पुलिवरक, दालपूड़ी, चापट (चपाती), पायस (खीर), ककड़ी, कारवेल, कूष्माण्ड, निष्पात्र पटोलिका, कोशालाबू, सिग्रू, दुम्बर वार्ताक, बिम्बिका, करबिंद, शलादुर्व (सलास), कन्द, बोदा, चारु, भाजी, चटनी, भुरता, वडियम्, कडियम्, गायम्, सुगन्धित जल, उंड्राल, नानब्रोल, अनुम, मितुम (उड़द), बुडुक, नडुक निळमिडी, चालिमिडी, द्रव्वेडा, वडा, नुक्केरा, चक्केरा (शक्कर), घी, दोनें, तोला, बिट्टु, गट्टु, दाल तिम्मन, दोप, पूया, मोदकम्, गुडोदकम्.........।

खाने की इन चीजों में से आधे से अधिक के अर्थ का पता नहीं

१. 'भीमेश्वर पुराण', अ० १, पद्य ६१।

चलता। कुछ नाम तो कोश में भी नहीं पाये जाते। जिन्हें कोशों में लिया भी गया है, कोशकारों ने उनके अर्थ खाने की वस्तु, पीने की वस्तु आदि लिखकर सन्तोष कर लिया है। इनमें से कुछ तो आज भी किसी-न-किसी तेलुगू सीमा में चालू हैं। ये भोज्य पदार्थ उस समय के जीवन में साधारणतया विशेष अवसरों के भोजन जान पड़ते हैं। अनुसन्धान से और भी नई बातें मालूम हो सकती हैं।

मनोरंजन

मनोरंजन के जो खेल-कूद, नाच-गान आदि साधन काकतीय काल में प्रचलित थे, वही रेड्डी युग में भी चालू रहे। कुछ नये भी चल पड़े।

राज-घराने में प्रायः ऐसे दुष्ट रहते ही हैं, जो राजा को तरह-तरह से सताया करते हैं। उन दिनों भी ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके कवि मंचन्ना ने लिखा था :

"चूहों के शिकार के बहाने लोगों के घरों को गिरवा देते, बाज के लिए गिरगिट पकड़ने के नाम पर अंगूर के बागों को बरबाद कर डालते, मुर्गबाजी के नाम पर गली-कूचों में घूमकर घड़े-बरतन फोड़ते फिरते, शिकारी कुत्तों को लेकर रेवड़ में घुस पड़ते और भेड़-बकरियों पर हुशकाकर खुश होते।"[1]

'भोज-राजीयम्' के अ० ५ पद्य ७६ में औरतों के जो खेल गिनाये गए हैं वे ये हैं—**"अंजिय, सोगरा, अच्चनगल्लु और ओम्मन गुना।"** अंजिय कौन-सा खेल है? कोश में यह शब्द नहीं मिलता। सोगरा[2] चौसर या कौड़ियों का खेल है। इसीको पगडासारे और पगडासाळा भी कहा गया है। बहुतेरे कवियों ने अपने ग्रन्थों में इनका वर्णन किया है। धनी लोग इनकी पार्टियाँ रखते थे। 'अच्चनगल्लु' आज भी छोटी बच्चियों से लेकर युवतियों तक सभी खेला करती हैं। यह खेल छोटी-छोटी गोल कंकड़ियों

---

१. **'केयूर बाहु चरित्र', अ० ३, पद्य २६५।**

२. **'चौधरा' का बदला हुआ रूप जान पड़ता है। सं० हिं० सं०**

या 'पजगा' के दानों से खेला जाता है। 'ओमनगुना' के खेल में एक पटिया पर दो कतारों में बने चौदह गड्ढों में इमली के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गेंद (कंदुक-केलि) एक प्रसिद्ध खेल है। कंदुक कपड़े की होती थी। रगड़ से बचाने के लिए उस पर प्रायः जाली बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर कहीं खेला जाता था।

'पिल्लादीपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में लिखते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चाँदनी रातों में खेला जाता था। शब्द-कोश में इसे 'क्रीड़ाविशेष' कहकर सन्तोष कर लिया गया है। केवल पाँच सौ वर्ष पहले के अपने जातीय खेलों को न जानना हमारे लिए खेद का विषय है।

'भाँड़' – उलटी-सीधी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले को तेलुगु में विकट-कवि कहते हैं। लेखक के विचार से भांडालिका भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भारत में तो इस शब्द को सभी जानते हैं किन्तु तेलुगू में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। किसी गद्य-काव्य का उद्धरण ये है—**"कुछ समय भांडिक-जनों की परिहास-गोष्ठी में कट जाता।"** भांडिक शब्द शब्द-कोश में नहीं है। 'संस्कृत-शब्द-कल्पद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भंडः' के अर्थ दिये हैं अश्लील-भाषी। उस तरह की बातें करने वाला 'भांडिक' हुआ। यही ठीक हो सकता है।

'विन्दुमती विद्या'—तेलुगू कोश 'शब्द-रत्नाकर' अथवा संस्कृत निघंटु 'शब्द-कल्पद्रुम' में यह शब्द नहीं है। **'विप्र-विनोद'** एक विद्या है। इस विनोद में जादू के कुछ तमाशे करके लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों ब्राह्मणों के अधिकार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। ऐसे तेलुगु ब्राह्मण ही आजकल नहीं रहे। (बिन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रही होगी। हाथ की सफाई दिखाने में देवी-देवताओं के नाम जोड़ने से लोगों की श्रद्धा बढ़नी ही ठहरी।)

प्रहेलिका और **प्रवह्लिका** दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नाकर' में यों हैं—**"गुप्तार्थ रखने वाले वाक्य-विशेष।"** पर यह

स्पष्ट नहीं है। तेलुगू में एक शब्द 'तट्ट' है, जिसे बच्चे से बूढ़े तक सभी जानते हैं। यह वही बुझौवल या 'पहेली' है, जो उत्तर-दक्षिण सब जगह प्रचलित है। उदाहरण के लिए तेलुगू की एक बुझौवल लीजिए—"लाले खाले पर सामने रखकर रोते हैं।" पहेली है प्याज, जिसे छीलने में आँखों से पानी आ जाता है। कवि तिरुमलेश ने सैकड़ों पहेली-पद्य लिखे हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भी हैं; पर पता नहीं चलता कि यह तिरुमलेश कौन हैं।

शिकार—कवियों ने विशेषकर राजाओं के ही शिकार का वर्णन किया है। शिकार में चिड़ियों का शिकार प्रधान था। धनी-मानी लोग बाज़ के द्वारा चिड़ियों का शिकार 'खेलते' थे। हिन्दी में तो शिकार के साथ करना, मारना, खेलना आदि कई क्रियाएँ चलती हैं, किन्तु तेलुगू में ऐसा नहीं है। शिकार के साथ खेलना ही प्रयुक्त होता है। जान पड़ता है आन्ध्र के लोग मांस का त्याग करने के बाद भी शिकार को त्याग न सके। इसीलिए विनोद के रूप में शिकार को जारी रखा। इस तरह शिकार भी खेल हो गया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि सैकड़ों कामों के साथ भी खेल का शब्द जुड़ा हुआ है। हँसने और झगड़ने को भी खेल समझना बहुत ही अच्छी बात है।

श्रीनाथ ने 'सिंहासन द्वात्रिंशति' भा० १ पृ० २९ में राजा विजयपाल के शिकार का वर्णन एक बड़े पद्य में किया है। पद्य इस प्रकार है:

'केरिज' का करके घात,
'पूरेड' को धूलिसात्,
नीलकण्ठ नीचे डाल,
'वेलिथेल' को बेहाल,
'बेग्गुरु' को लुंज कर,
बगलों का दर्प हर,
लोहू 'कक्केरा' से,
उगलवा करके खासे,

'कोक्कर' के दिल दहला,
बनमुर्ग़ को जला-जला,
मैना को अकड़ करके ढीली,
चमरू की भी चमड़ी छीली,
तीतर को तीतर-बटेर कर,
बटेरों को चीर-फाड़ ढेरकर
बाज उड़ता आकाश
लौटा राजा के पास !

इस पद्य में आये हुए नीलकण्ठ, बगला, बनमुर्ग, मैना, तीतर आदि पक्षियों को तो गाँव के रहन-सहन वाले जानते हैं। हाँ, शहर वाले अलबत्ता इन सभी को नहीं पहचानते। परन्तु शेष नामों वाले पक्षियों से तो गाँव वाले भी परिचित नहीं। 'केरिज' को 'शब्द-रत्नाकर' में 'एक पक्षी' कहकर बस कर दिया गया है। 'पूरेड' को भी पक्षी विशेष भर ही कहा है। 'कोक्केरम' बगुले की जाति का तो जरूर है, पर है अलग पक्षी। 'कक्कर' भी फिर 'पक्षी विशेष' भर ही है। 'चमरबोतु' शब्द कोश में नहीं है। किन्तु चमर का अर्थ 'चमरू कौआ' दिया हुआ है। यह पक्षी कौए से छोटा होता है। रंग इसका नीला होता है। दुम लम्बी होती है। स्वर भी कौए की-सी खंग-खंग का-सा निकलता है। तीतर को लोग पिंजड़ों में पालकर सुबह-शाम खेतों में ले जाते हैं। तीतरों को लड़ाया भी जाता है। जंगल में जाल बिछाकर सधे हुए तीतर को वहाँ छोड़ते हैं। उसके बोलते ही उसकी आवाज पर जंगली तीतरों के झुण्ड उससे लड़ने पहुँचते हैं और जाल में फँस जाते हैं। स्व-जाति से लड़ने वाली चिड़ियों में मुर्गा, तीतर और बुलबुल विशेष के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

तेलुगू में पक्षियों पर कोई ग्रन्थ ही नहीं। संस्कृत में 'श्येन शास्त्र' के नाम से एक पुस्तक है। उसमें जो लिखा है उसको समझने वाले संस्कृत विद्वान् ही आज कहाँ हैं? शब्द-कोशों में उन पक्षियों के चित्र

देकर उनकी जीवन-विधि के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत लिख देना चाहिए। 'पक्षी विशेष', 'कीड़ा विशेष'-मात्र लिख देने से क्या लाभ ? अंग्रेजी में आज नहीं, आज से डेढ़ सौ साल पहले, बल्कि उससे भी पहले, एक-दो नहीं सैकड़ों सचित्र पुस्तकें इस विषय पर लिखकर प्रकाशित की जा चुकी थीं। हमारे देश में किसी एक ने भी पक्षियों और उनके जीवन की ओर ध्यान नहीं दिया ? किसी एक ने भी किसी ऐसी पुस्तक का अनुवाद ही नहीं किया ? बच्चों की रीडरों की बात को छोड़ दीजिए, उनकी इसमें गिनती नहीं। नतीजा यह है कि प्राचीन कवियों के लिखने पर भी हमारे 'कोशकार' बहाना करके बच निकलते हैं और हम अर्थ को जानने-समझने से वंचित रह जाते हैं।

प्राचीन कवियों में नाचन्ना सोमयाजी से लेकर अनेक कवियों ने शिकार का वर्णन किया है। किन्तु चिड़ियों के शिकार पर शायद ही किसी ने लिखा हो। अतः पद्य का विशेष मूल्य है।

'जट्टी' माने पहलवान। किन्तु उन दिनों सैनिकों को भी जट्टी ही कहा जाता था। सैनिक प्रायः पहलवानी भी करते रहे हैं। बाद में आये पाश्चात्य अंग्रेज-फ्रेंच सैनिकों की तरह उस समय हमारे यहाँ कोई वरदी नहीं थी ! फिर भी उनकी पोशाक में कुछ विशेषता ज़रूर थी। वे सिर पर तो तुर्रेदार साफ़ा बाँधते थे और कमर में काछ खींचकर पीछे टोंबी हुई धोती अथवा चड्डी या जाँघिया पहनते थे। कमर में पट्टी लपेटते थे, जिसे दट्टी कहा जाता था। फिर उस दट्टी में छुरी, कटार और शरीर पर एक चुस्त अंगबहियाँ, तथा पीठ पर ढाल; साधारणतया यही उस समय के सैनिकों की पोशाक थी।

एक तेलुगू कहावत है कि "जब तक 'जट्टी' सजे-सजे, तब तक शत्रु का गोला छूट गया।" जान पड़ता है कि युद्ध के समय सिपाहियों को सजने-सजाने में काफ़ी समय लगता था, और वे अच्छी तैयारी के साथ मैदान में उतरते थे। सैनिकों के दो भेद थे, (१)—राज लेंकलु (२) बंटुवारु। कहावत है कि "बंटु को कटार से बढ़कर और क्या चाहिए ?"

इस कहावत से विदित होता है कि कटार ही बंदु का खास हथियार था।[1]

एक बार वसंतोत्सव के अवसर पर एक राजलेंका अपनी टोली से बिछुड़कर भीड़-भाड़ में से होता हुआ मूँछों पर पड़ा गुलाल आदि पोंछता-पोंछता चला जा रहा था। सामने से एकांगवीर नामक दूसरा सैनिक आ रहा था। वह बिगड़कर बोला—"क्यों रे, आगे नहीं देखता? बढ़ा-चढ़ी करके मेरे आगे मूँछों पर ताव दे रहा है! जानता नहीं मैं एकांगवीर हूँ?" इतना सुनना था कि उस सिपाही को भी ताव आ गया। दोनों भिड़ पड़े। दोनों द्वन्द्व-युद्ध के लिए तैयार हो गए। बहुतेरा बीच-बचाव किया गया, पर वे नहीं माने। यहाँ तक कि स्वयं राजा का कहा भी नहीं माना। अन्त में राजा ने सबके सामने दोनों को तलवारों से द्वन्द्व-युद्ध की अनुमति दी। हार-जीत के निर्णय के लिए एक सैनिक ने अपनी कुछ शर्तें रखीं। फिर दूसरे ने जवाबी शर्तें रखीं। कोरवी गोपराजु ने इन शर्तों का वर्णन इस प्रकार किया है :

"अकारण रूठकर, अकड़कर आगे आने पर दुम दबाकर भागना नहीं, हाँ! एक दूसरे सिपाही ने ललकारा।"

एक और घटना का वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है :

भगवान् के भण्डार का एक सिपाही प्रसाद पा-पाकर भैंसा बना हुआ था। एक दिन दर्शनार्थियों की भीड़ में उसके पैर पर किसी कलवार का पैर पड़ गया। वह बिगड़कर कहने लगा—"क्यों रे जानता नहीं कि मैं बंदुमल्लू हूँ!" कलवार ने कहा, "मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया। भीड़-भाड़ में पैर लग गया है।" सिपाही ने डाँटा—"जान-बूझकर ही तो तूने मुझे लात मारी है, 'अनजाने हो गया' कहने भर से मैं तुझे छोड़ थोड़े ही दूँगा? यों कहकर धक्का-मुक्की करने लगा। तब कलवार भी बिगड़ गया और बायें हाथ की कटार दायें हाथ में लेकर बोला—"हाँ! मैंने लात जरूर मारी है, बोल क्या कर लेगा तू? सिपाही

१. 'सिंहासनद्वात्रिंशिका', भा० २, पृष्ठ २२।

सहम गया। बोला, "राजा का सिपाही हूँ, इसलिए यह तेरा दोष है।"

अवस्था में मैं तुमसे छोटा जरूर हूँ, पर हूँ एकांगवीर! मुझे ललकारने पर, मेरी हँसी उड़ाने पर, चिढ़ाने पर, मूँछों पर ताव देने पर मेरा तुझे धर घसीटना, कोई अनुचित है?

ऐसी दशा में द्वन्द्व-युद्ध की आज्ञा मिल जाती थी। इस द्वन्द्व के कुछ विशेष नियम भी होते थे। एक ने अपनी जो शर्तें रखीं, वे इस प्रकार हैं:

"निशाने की लकड़ी गाड़ना, जमीन लेना, चोट बचाना, बाजू बचाना, वक्ष उछलना ललकारना.................छिपना, रुकना.....................धर घसीटना, एड़ी मारना, अँगुली तोड़ना, अदल-बदल करना, सिर नवाकर मारना, द्वन्द्व-युद्ध के नियमों के अनुसार ये सब किये जा सकते हैं।"

इस पर प्रतिस्पर्धा की जवाबी शर्तें ये हैं:

"होश में रहकर, निगाह ठिकाने रखकर, सूकर-दृष्टि से घुड़ककर, गर्जन न करके, मार्जाल दृष्टि से कूच न करके टक्कर लेने को तैयार रहो!"

इसी प्रकार मल्लूकदृष्टि, गृध्रदृष्टि, फणिदृष्टि, कपिदृष्टि, चोरदृष्टि, शार्दूल दृष्टि आदि का बखान करके, कहा है कि शूरों की शर्तें यही हैं। इस प्रकार सवाल-जवाब हुआ करते, भीड़ बढ़ जाती। कुछ लोग एक के समर्थक बनते तो कुछ दूसरे के, गड़बड़ मच जाती। तब राजा आगे बढ़कर सबको चुप होने का आदेश देते और बीच में गोल जगह बनाकर चारों तरफ लोगों को बिठाते। कोई गड़बड़ न करे, इसलिए बीच-बीच में चार सिपाहियों को खड़ा करके लड़ने वालों को आगे बुलाया जाता। उनके चारों ओर और बीच में सिपाहियों को खड़ा करके तलवारें मँगाई जातीं। उनमें से बराबर नाप की दो तलवारें लेकर और उनमें नींबू पहनाकर दोनों के हाथ में एक-एक तलवार दी जाती। फिर वे वीर धीरता के साथ एक-दूसरे पर झपटते।

इस वर्णन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से कुछ के अर्थ तो शब्द-कोशों में भी नहीं मिलते। जैसे चौबल, दारिग, अरुव

आदि के। मल्लूक दृष्टि, गृध्रदृष्टि, फणिदृष्टि, कपिदृष्टि, चोरदृष्टि, शार्दूल-दृष्टि आदि शब्दों के शब्दार्थ स्पष्ट होने पर भी तात्पर्य पल्ले नहीं पड़ता।

बाजीगरी—बाजीगरी बाजारू शब्द है। इसे तेलुगु में 'गारडी विद्या' कहते हैं। पहले इन्द्रजाल भी कहा जाता था। 'विप्र विनोद' भी इसीका नाम है। लगभग ४० वर्ष पूर्व इंगलिस्तान के समाचार-पत्रों में इस विषय पर चर्चा छिड़ी थी। कोई डेढ़ सौ वर्ष पुरानी बात है। एक अंग्रेज ने हिन्दुस्तान के किसी स्थान पर बाजीगरों का यह तमाशा देखा था। वह इतना प्रभावित हुआ कि उसी दिन उसने एक लेख लिखकर अपने देश के समाचार-पत्रों को भेज दिया। बाजीगर ने एक लम्बे रस्से को हवा में आकाश की ओर फेंककर बगैर किसी आधार के रस्से को सीधा लटका दिया, फिर उसको पकड़कर ऊपर चढ़ता गया और कुछ ऊपर जाकर गायब हो गया। थोड़ी देर में उसके शरीर के लोथड़े हाथ-पैर आदि जमीन पर आ-आकर गिरने लगे। फिर थोड़ी देर के बाद बाजीगर ज्यों-का-त्यों रस्से से उतर आया। इंगलैण्ड-निवासियों ने इसे निरा गपोड़ा समझा। कुछ लोगों ने एलान किया कि अगर उस आदमी को इंगलिस्तान लाया जाय तो आने-जाने का खर्च और हजारों पौंड इनाम में दिये जायँगे। यह तो अंग्रेजों के जमाने की बात है। कविवर कोरवि गोपराजु ने मुसलिम-युग से भी पहले इसी प्रकार की जादुई घटना का वर्णन किया है। वह लिखते हैं :

"राजा के दरबार में एक बार एक व्यक्ति आया। उसके साथ में एक स्त्री भी थी। उसे उसने अपनी पत्नी बतलाया। राजा से कहा—**'देवताओं पर आक्रमण हुआ है; आकाश में उनकी ओर से लड़ने जा रहा हूँ। मेरे लौटने तक मेरी इस पत्नी को अपने आश्रय में रख लें।'**

फिर एक रस्से को आकाश की ओर फेंककर उसके सहारे वह ऊपर चढ़ गया और देखते-ही-देखते गायब हो गया। थोड़ी ही देर में उसके पैर, हाथ, धड़, सिर एक-एक करके अलग-अलग जमीन पर गिर पड़े। तब उसकी स्त्री ने आगे बढ़कर कहा कि **'मेरा पति आकाश-युद्ध में**

मारा गया है, मैं उसके अंगों के साथ चिता में बैठकर सती हो जाऊँगी।' राजा को अनुमति देनी पड़ी। थोड़ी देर बाद वह व्यक्ति उसी रस्सी पर से नीचे उतरकर अपनी स्त्री को माँगने लगा। राजा ने दुखी होकर सती की सब बातें बता दीं। तब इन्द्रजाली ने कहा—'हे नाथ, मैं तो जादूगर हूँ। मैंने तमाशा दिखाकर आपसे इनाम पाने भर के लिए ही यह सब किया है'।"[१]

यह तो इन्द्रजाल हुआ। इसके सिवा एक महेन्द्रजाल भी हुआ करता था। इसीको 'जल-स्तम्भ' भी कहते थे। प्राचीन भारत की चौंसठ विद्याओं में वेद, शास्त्र, पुराणों के साथ वास्तु, आयुर्वेद, संगीत, नृत्य, मन्त्रविद्या, तन्त्रविद्या, जुआ, इन्द्रजाल, महेन्द्रजाल, अष्टावधान, बहुरूप-विद्या, विदूषक विद्या इत्यादि सभी सम्मिलित हैं।[२]

मेले—'क्रीड़ाभिरामम्' में लिखा है कि काकतीय राज्य में भी श्री काकुल का मेला बहुत प्रसिद्ध था। कविवर मंचना ने 'केयूर बाहु चरित्र' में लिखा है कि श्री काकुल के मेले के अन्दर गुण्डामन्त्री ने भीड़ पर माड़ा आदि सिक्के तथा रत्न आदि बखेर दिये। जान पड़ता है कि उन दिनों राजा-महाराजा तथा धनी-मानी मेले-ठेले के अवसर पर भीड़ पर पैसे फेंककर गरीबों को दान-पुण्य किया करते थे।

जुआ काकतीयों के काल में भी चालुक्यों और रेड्डियों के राज्य-काल की तरह ही प्रचलित रहा। एक जुआरी अपनी चतुराई का बखान इस प्रकार करता है—"लक्फि मुष्टि या नक्कीमुट्ठी एक प्रकार का बहुत प्रसिद्ध जुआ है, जो आज तक जारी है। एक व्यक्ति कुछ कौड़ियाँ या कंकड़ी आदि कोई ऐसी ही चीज़ लेकर आता है। चार कौड़ियों का एक 'उद्दा' (गंडा) कहलाता है! मुट्ठी बाँधे व्यक्ति के पास शेष तीनों जुआरी और अन्य जन रुपये-पैसों[३] के ढेर लगा देते हैं।

१. 'सि० द्वा०', भा० २, पृष्ठ १००।
२. 'सि० द्वा०', भा० २, पृ० १०२।
३. या कौड़ियों आदि के, सं० हिं० सं०।

'उद्दे' लगाने पर अन्त में यदि चार बचे तो 'मट्टा' होगा, तीन बचे तो तिग्गा, दो पर दुग्गा और एक बचने पर नक्का। इस प्रकार नक्का से मट्टा तक बाजी होने के कारण ही इसे 'नक्कामुष्टि' कहते थे। यही शब्द बदलकर 'लक्किमुष्टि'[1] बन गया। यदि मुट्ठी बाँधने वाले के लिए खाली छोड़ी गई संख्या ही निकले तो वह सब के पैसे ले लेगा, नहीं तो जिसकी संख्या निकलेगी, उसे उतने पैसे दे देगा। बाकी लोगों को छोड़ देगा। जुआरी ने इन संख्याओं के जो नाम दिये हैं, वे कुछ भिन्न हैं। अनुमान यही है कि काला शब्द चार के लिए, तिग्गा तीन के लिए, जोगरा दो के लिए और नंदी एक के लिए आया है। खेल की विधि और संख्या के क्रम से भी यही प्रतीत होता है। लक्किमुष्टि उत्तर भारत में भी चलती है, वहाँ 'नक्की दुव्वा' कहते हैं और इसे देहाती प्रायः सभी जगह खेला करते हैं। विचित्र बात तो यह है कि यह और ऐसे बहुत-से और खेल भारत-भर में एक ही नाम से और एक ही रूप में खेले जाते हैं तथा लोग उनमें समान रूप से आनन्द लेते हैं। दुग्गा-तिग्गा की हिन्दी गिनती तेलुगु में भी चालू है। ऐसा तो नहीं कि यह खेल उत्तर से ही दक्षिण में गया हो ?

शतरंज—एक पद्य—"मैं शतरंज का बड़ा माहिर हूँ। हाथी, घोड़े, वज़ीर, रथ, प्यादे सबको मार दूँगा।"[2]

इस खेल का जन्म भारत में ही हुआ है। हिन्दुओं से अरबों ने सीखा। शतरंज में हाथी, घोड़े, प्यादे आदि के साथ 'रथ' के भी मोहरे

१. हिन्दी-क्षेत्र के कुछ भागों में इसे 'नक्कीमुट्ठी', 'नाकीमूठी' या 'नाकी दूआ' कहते हैं। एक-दो-तीन-चार = नक्की या नाकी, दूआ या दुक्का, तीया या तिक्का, और मुट्ठी या मूठी। गर्मियों की अलस दुपहरियों में किसान छाँव-तले बैठकर खेलते हैं। पैसों-कौड़ियों की जगह रेंड़ के बीज, महुए के कोयने, मूँगफली या सेम के बीजों का उपयोग भी हुआ करता है।—सं० हिं० सं०।

२. 'सिं० द्वा०', भा० २, पृ० ८५।

होते थे। चतुरंग सेना तभी पूरी हो सकती थी। लेकिन अरबों के पास रथ नहीं थे। उनके लिए ऊँट ही प्रधान है। रथ की जगह उन्होंने ऊँट रख लिये। अरबों से यूरोप ने सीखा। यूरोप में हाथी नहीं होते, इसलिए यूरोप वालों ने 'कोट' (Castll) रख लिये। चौपड़ इसके बाद ही चला था।

शेर-बकरी—इस खेल का प्रचार आन्ध्र में अत्यधिक है। मकानों के दालानों में फर्श पर, पत्थरों पर और मन्दिरों में भी शेर-बकरी के घर खुदवाये जाते थे। लोग इस खेल को बड़ी दक्षता के साथ खेला करते थे। आज भी, जब कि ताश के खेलों का ही हर कहीं बोल-बाला है, जहाँ-तहाँ इस खेल के माहिर बड़े-बूढ़े मिल जाते हैं। अब भी अगर इस खेल के पूरे ब्योरे को नक्शों के साथ पुस्तकाकार में प्रकाशित नहीं किया गया तो जिस प्रकार हमारे पूर्वजों के दो-चार सौ साल पुराने खेल आज हमारी समझ से परे हो रहे हैं, उसी प्रकार यह खेल भी ताश के पत्तों की बाढ़ में बह जायगा।

चौपड़—बीस साल पहले तक यह खेल तेलंगाने और रायल सीमा के अन्दर धड़ल्ले से खेला जाता था। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सभी खेलते थे। पर, अब इसका प्रचार कम हो गया है। अब 'कोशकार' या तो चौपड़ के माने 'विशेष बाल-क्रीडा' लिख देंगे, या नाम ही शब्द-कोश से उड़ाकर अपनी जान बचायँगे। यह कोई अच्छा ढंग नहीं है। अनु-संधान करने वालों की जानकारी के लिए हमने इतनी बात लिख दी है।

शेर-बकरी के विविध खेल

शेर-बकरी के प्रसिद्ध खेल के सम्बन्ध में एक कवि ने कहा है कि यह खेल तीन प्रकार का होता था। शेरों और बकरियों की संख्या भी अलग-अलग प्रकार के खेल में अलग-अलग होती है। पर हर खेल में बकरों द्वारा शेर को बेबस करने की चेष्टा की जाती है।

(१) एक प्रकार का खेल एक शेर और तीन बकरों से खेला जाता

है। शेर के लिए बड़ी कंकड़ी और बकरों के लिए छोटी कंकड़ियाँ रख ली जाती हैं। शेर को चोटी पर बिठाया जाता है। बकरी के पास पहुँचने पर शेर छलाँग मारकर उसे मार देता है। जब शेर की पीठ पर और कोई बकरा न हो, तो बकरे वाला पहले तीसरे घर पर बकरा बिठाता है और फिर शेर के पास वाले घर में दूसरे बकरे को बिठाता या पहुँचा देता है। शेर के बढ़ने के लिए घर न रहने पर खेल खत्म हो जाता है।
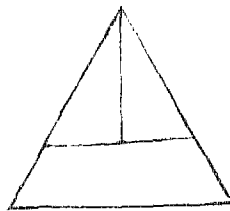
चित्र नं० १

(२) दूसरी प्रकार के खेल में चार शेर और सोलह बकरे होते हैं। शेरों को बीच की खड़ी लकीर पर एक के नीचे दूसरा बिठा दिया जाता
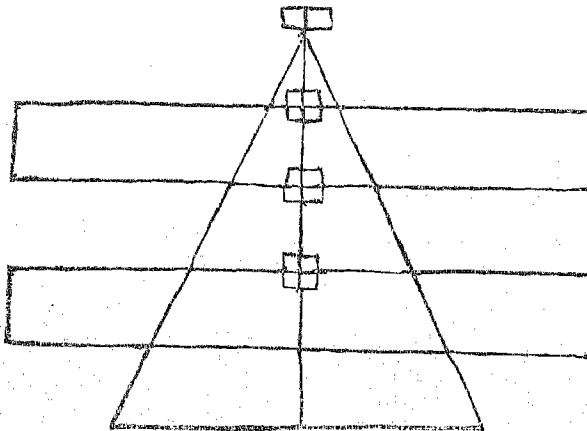
चित्र नं० २

है। बकरे वाला पहले पास के घर को छोड़कर दूसरे घर पर बकरे को बिठाता है। फिर शेर वाला एक घर बढ़ता है तब बकरे वाला दूसरे बकरे को बिठा देता है। इसमें भी एक ही लकीर पर बकरे की पीठ पर कोई और बकरा न होने पर शेर फाँदकर उसे मार देता है। इस प्रकार सोलहों बकरों को बिठा चुकने के बाद, इस बीच में मर-खपकर जो बकरे बच रहते हैं, उन्हें बकरे वाला इस प्रकार हटाता और बढ़ाता है कि शेर राह न पाकर बेबस हो जाय। बकरे मरते ही जायँ और जीत की आशा न रहे, तो बकरे वाला हार मान लेता है, और बाज़ी समाप्त हो जाती है। ऐसी हालत में जीत शेर वाले की होती है और अगर शेर ही बँध जाय, तो बकरे वाले की जीत मानी जायगी।

(३) तीसरे प्रकार के खेल का पता मुझे नहीं था। मारेडपल्ली सिकन्दराबाद-निवासी श्री ताडेपल्ली कृष्णमूर्ति ने हमें इसकी बाबत लिख भेजा है। इसमें तीन शेर और चौदह या पन्द्रह बकरे होते हैं। पहले शेर वाला एक शेर बिठा देता है। फिर बकरे वाला बकरे बिठाता है
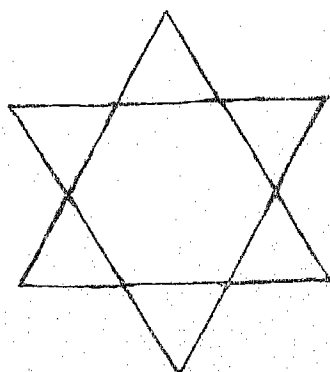
चित्र नं० ३

दूसरे शेर एक-एक करके तीन बाजियों में आते हैं। खेल आगे बढ़ता है, इसमें शेर के हारने या बकरों के मरने पर खेल समाप्त होता है। यह

खेल उत्तर सरकार के इलाके में अधिक प्रचलित है।

[(४) शेर-बकरी के खेल का एक चौथा प्रकार भी है। ग्रन्थकार को संभवतः इस चौथे प्रकार की जानकारी नहीं थी। अनुवादक को इसके खेलने का अनुभव है। इसमें दो शेर और चौबीस बकरे होते हैं। पहले दोनों शेर नक्शे के बीचों-बीच बिठा दिये जाते हैं। बकरे वाला पहली ही बार आठ बकरे उसके चारों ओर बिठा देता है। अब बाज़ी शुरू होती है। पहली बाज़ी में दोनों शेर एक साथ अलग दिशा में छलाँग मारते हैं और दो बकरों को मार देते हैं। अब बकरे वाला भी दो नये बकरे बिठा देता है। कोई-कोई खिलाड़ी एक ही शेर को बढ़ाता है। ऐसी हालत में बकरे वाले को भी एक ही नया बकरा बिठाना होगा। सारे बकरों को बिठा चुकने पर जो बकरे मरने से बच जाते हैं, उनसे शेर को बाँधने की कोशिश की जाती है। कम बकरे मारे जाने अथवा कम बकरों से शेर को बाँधने में बकरे वाले की बुद्धिमानी मानी जाती है।]

इस खेल को खेलने की एक दूसरी भी पद्धति है। इसमें दोनों ओर बकरे ही होते हैं।

[दोनों ओर के गिट्टे बकरे नहीं कहलाते। परस्पर विरोधी जीव होने चाहिएँ। हम इसे 'मुगल पठान' का खेल कहते थे। अनु०]

दोनों तरफ सोलह-सोलह अलग-अलग रंग के गिट्टे होते हैं। एक ओर का खिलाड़ी कंकड़ी लेता है तो दूसरी ओर का ठीकरी लेता है। दोनों अपने सारे गिट्टों को एक ही साथ अपनी-अपनी ओर बिठा लेते हैं। नक्शे के बीच आड़ी लकीर खाली रखी जाती है। अब बाज़ी शुरू होती है। इसकी चालें भी शेर-बकरी की तरह होती हैं। अन्तर यह है कि इस खेल के अन्दर एक ही चाल में जिस ओर चाहे कूद-कूदकर कई गिट्टे मार सकते हैं। शर्त केवल इतनी है कि कूद सीधी लकीर पर हो और गिट्टे की पीठ का घर खाली हो। इसमें शेर-बकरी के खेल से भी अधिक आनन्द आता है।

(५) **चर पर**—इस खेल में दोनों के नौ-नौ गिट्टे होते हैं। इसका
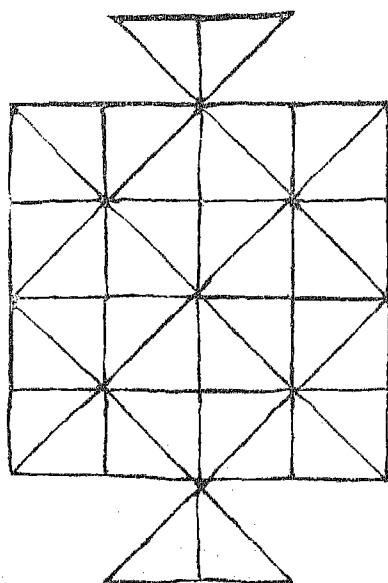
चित्र नं० ४

विधान कुछ भिन्न है। दोनों खिलाड़ी जहाँ भी चाहें अपना गिट्टा बिठा सकते हैं। हर एक की कोशिश यही होती है कि तीन गिट्टे एक सीध में कहीं पर बिठा दें। विपक्षी इस ताक में रहता है कि उसे ऐसा न करने दे और बीच में एक अपना गिट्टा बिठा दे। जैसे ही कोई खिलाड़ी अपने तीन गिट्टों को एक सीध में बिठाने में सफल होता है, वैसे ही 'चर' कहकर दूसरे के किसी एक गिट्टे को हटा देता है। इसी प्रकार मरे गिट्टे वाला भी अपने तीन गिट्टों को एक सीध में लाते ही 'पर' कहकर गिट्टा जिला लेता है। जिसके सब गिट्टे मर जायँ वह हारता है। इस खेल के कई और नाम हैं। उत्तर सरकार में इसे 'दाडि' कहते हैं। उक्त श्री कृष्णमूर्ति ने ही हमें इसकी सूचना दी है।

'चरपर' को अत्यन्त प्राचीन खेल माना जाता है। कहते हैं कि

एशिया और यूरोप के सभी देशों में इस खेल का प्रचार था। खेलों के विशेषज्ञ श्री मोरहेड ने अपनी पुस्तक 'Pock book of games' में 'Mill' के नाम से एक खेल का वर्णन किया है। यह वर्णन 'चरपर' खेल से एकदम मिलता-जुलता है। मोरहेड ने लिखा है कि 'Mill' खेल के यूरोप-भर में बच्चा-बच्चा जानता है, पर अमरीका-वासी इसे नहीं जानते। इसकी गिनती प्राचीन खेलों में भी होती है। एथेन्स के मन्दिरों में इसके 'घर' खुदे हुए थे। रोम की ईंटों पर इसके चित्र थे। नार्वे-नरेशों के जहाजों पर इसका नक्शा होता था।

जुए से हानि-लाभ के सम्बन्ध में भी प्राचीन साहित्य में बहुत-कुछ पाया जाता है। एक पद्य है :

"धन का अर्जन, पुराणादि का श्रवण, शास्त्र या योग-विधान,
काव्य, नाटक, संगीत, वाद्य क्या हो सकते हैं जुआ-समान ?"[१]

बता चुके हैं कि प्राचीन काल में लोग पुराणादि को बड़ी श्रद्धा से सुना करते थे। यह भी उसीका एक प्रमाण है। योग-विधान में लोहे आदि धातुओं का सोना बनाना भी शामिल है। आज भी कुछ व्यक्ति उसे 'योग' कहते हैं। उक्त पद्य के साथ आगे कहा है :

"धातुवाद अनिवार्य जुए से, जिससे निश्चय सत्यानाश !"

वसंतोत्सव में राजा-महाराजाओं को विशेष रुचि होती थी। इससे यह उत्सव जनता में भी खूब फैला। दक्ष-वाटिका में वेश्याओं की दो टोलियाँ थीं। वे वसंतोत्सव के अवसर पर भीमेश्वर के सम्मुख नृत्य-गान किया करती थीं। वसंतोत्सवों में लोग एक-दूसरे पर 'कुसुमराज' चन्दन, हल्दी, चन्दन के लड्डू आदि फेंक मारते थे। पिचकारियों में रंग, अबीर, सुगन्ध-जल आदि भर-भरकर एक-दूसरे पर मारा करते थे। 'भीमेश्वर-पुराण', अध्याय ५, पद्य ११६ से पता चलता है कि लोग रंग में तेल-घी आदि भी मिला दिया करते थे। धनी-मानी काच की कुप्पियों में कस्तूरी का पानी भर-भरकर एक-दूसरे पर छिड़कते थे। " 'कलह कंटक' नामक

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', भाग २, पृष्ठ ८६।

सैनिक वसंतोत्सव में से अपनी मूँछों पर पड़े 'सुगन्धित कर्पूरादि रज' को पोंछता हुआ भीड़ से बाहर निकला था।"[1] इससे भी प्रतीत होता है कि वसंतोत्सव सर्वप्रिय बन चुका था।

नाटक में लोग बहुत रस लेते थे। आंध्र साहित्य में नाटकों की चर्चा बार-बार आती है। यहाँ का नाटक संस्कृत नाटक अथवा संस्कृत विधान का अनुकरण-मात्र नहीं था। न जाने क्या कारण है कि बीसवीं शताब्दी तक तेलुगू साहित्य में संस्कृत-नाटक-विधान का अनुकरण नहीं हुआ। बड़े-बड़े कवियों ने भी 'यक्ष-गान' लिखे। 'यक्षगान' का नाम कैसे पड़ा इसका पता नहीं चलता। यक्षगान संस्कृत शैली से सर्वदा भिन्न होते थे। 'देसी कविता' के रूप में सारे दक्षिण देश में इनका बहुत प्रचार था। लोग इन यक्षगानों को आदर तथा प्रेम के साथ देखते थे। आंध्र में एक जाति है 'जक्कुल'। ये लोग कामेश्वरी आदि देवियों को मानते हैं। उन्हें 'मूर्तस्वरूप', 'अक्कले जोगू' आदि कहते हैं। आंध्र के कवि प्राचीन काल से ही 'जक्कुला पुरन्ध्री' का वर्णन करते आये हैं। वास्तव में यह 'जक्क' ही 'यक्ष' हैं। यक्ष शब्द संस्कृत का नहीं है। सम्भवतः द्रविड़ शब्द 'नक्कू' को यक्ष रूप देकर संस्कृत बना लिया गया है। यक्षों की गिनती अनार्यों में होती है। यक्ष, किन्नर, गंधर्व, पन्नग, पिशाच, राक्षस आदि सभी वर्ग अनार्य ही हैं।

किन्नरों को प्राचीन यूनानी किनारे (Kinaries) कहते थे। काश्मीर के पास गांधार के निवासी गंधर्व कहलाये। पन्नग मध्य एशिया के निवासी थे। तिब्बत और मंगोलिया निवासियों को पिशाच कहते थे। राक्षस (Araxes) नामक नदी के आस-पास के लोग हो सकते हैं। इसी प्रकार यक्ष अक्षस (oxus) अथवा यक्षार्तेस (Jaxartes) प्रान्तों के निवासी हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि ये यक्ष वही यची हों, जिन्होंने ईसवी सम्वत् आरम्भ-काल में भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों पर आक्रमण करके वहाँ पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इन सब

१. सि० द्वा०, भाग २, पद्य १२०।

का दक्षिण भारत के जुकुओं से भी कोई सम्बन्ध था अथवा नहीं, यह कहना कठिन है। ऐसा भी हो सकता है कि यह नाच-गान की वृत्ति वाली जक्कु जाति इन यक्षों की कथाओं को नाटकों में प्रदर्शित करने का धन्धा करती रही हो तथा उन्हींके नाम रख लिये हों। शायद इसी कारण इनके नाटकों को 'यक्षगान' कहा जाने लगा हो। 'जक्कू' और 'यक्ष' का सम्बन्ध चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, इतना तो निर्विवाद है कि यक्षगान का प्रचार दक्षिण देश में अत्यधिक मात्रा में था। यह कला जनता को प्रिय थी। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कवि भी यक्षगानों की रचना किया करते थे।

यक्षगान का साहित्य हमें विजयनगर राज्य-काल से प्राप्त होने लगता है। परन्तु इनका प्रचार उससे भी पहले रहा होगा इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। **"यक्षगान-सरणी में जिसके यश गाते गंधर्व।"**[1]

पहले इस 'जक्कुल' जाति के लोग ही नाटक खेला करते थे। और लोग शिवजी की कथाओं को नाटक के रूप में प्रदर्शित किया करते थे। पाल कुरिकी सोमनाथ-रचित 'पंडिताराध्य चरित्र' के पर्वत-प्रकरण से सिद्ध होता है कि गंधर्व, यक्ष, विद्याधर आदि की भूमिकाएँ धारण करते थे।

किन्तु सम्भवत: बाद में जब वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार होने लगा, तो वैष्णव आचार्यों तथा राजाओं ने इन्हें वैष्णव धर्म में दीक्षित कराया होगा, वैष्णव-कथाओं को नाटक-रूप में खेलने के लिए प्रेरित किया होगा। तथा इस प्रभावशाली साधन का उपयोग शेष सम्प्रदायों को कुचलने तथा वैष्णव सम्प्रदाय के प्रचार के लिए किया होगा। भागवत की कथाओं को मंच पर खेलने के कारण यही लोग 'भागवतुलु' (भागवती) भी कहलाने लगे थे। श्रीनाथ ने अथवा उसके समकालीन किसी और कवि ने एक जगह 'भागवत् बच्चिगाडु' के सम्बन्ध में कहा है कि वह स्त्री का स्वाँग बनाकर बड़े ही आकर्षक रूप से नाचता और गाता

१. 'भीमेश्वर पुराण'।

था। एक स्त्री पेंडलानागी के सम्बन्ध में भी यही बात कही गई है। पुरुष-पात्र और स्त्री-पात्र दोनों ही के लिए बुच्चिजें नागी के तुच्छ नाम का प्रयोग इस बात को प्रकट करता है कि भागवत के खेल करने वाले हीन जाति के होते रहे होंगे। 'क्रीडाभिरामम्' को 'वीधि नाटकमु' कहा जाता है। 'वीधि' माने बाजार या मुहल्ला। 'क्रीडाभिरामम्' में कहा गया है—**"दोर समुद्र में नट (नर्तक) गल (वरंगल) में विढ और विनुकोंडा में कवि रहते। सभी रसिक जन इनकी प्रशंसा करते हैं। न जाने ब्रह्मा ने इस त्रितय को किस प्रकार रचा। किन्तु 'क्रीड़ाभिरामम्' मञ्च प्रदर्शन के योग्य नहीं है। यदि मंच पर उतारा भी जाय तो लोगों के लिए रोचक नहीं होगा। लोग उसे समझ भी नहीं सकेंगे।"** ये नाटक खुले में ही खेले जाते थे। कोई टिकट वगैरा नहीं होता था। ग्रामाधिकारी या धनी-मानी खर्च देते थे। कुछ दिन खेल दिखाने के बाद नाटक वाले गाँव छोड़ते समय घर-घर जाकर कुछ और वसूल लेते थे। भले ही वे नीच माने जायँ अथवा माँग खायें, पर उनके खेल सभी लोग श्रद्धा और प्रेम से देखा करते थे।

वीर-गाथाएँ गा-गाकर सुनाने वालों की भी कुछ जातियाँ बन गईं। पिच्चें कुण्टला जाति पल्नाडि की वीर-गाथाएँ सुनाती है। कारमाराजु की कथा को गडरिये, और एल्लम्मा की कथा को बवन जाति के लोग, सुनाते हैं। इनके गाने भिन्न-भिन्न शैली के दोहों में होते हैं। एल्लम्मा की कथा का दूसरा नाम रेणुका की कथा भी है। यह बड़ी लम्बी-चौड़ी गाथा है। 'जवनिका' नामक ढोल बजाते हुए बवनी लोग दो-दो दिन तक कथा चलाते हैं। पेद्देबरें की कथा का रिवाज रायल सीमा में है। पर यह कोई पौराणिक गाथा नहीं है। उक्त दोनों कथाएँ प्रायः शूद्रों में प्रचलित हैं। ब्राह्मणों में इसी प्रकार की एक कथा है जिसे 'कामेश्वरी कथा' कहा जाता है। यह कथा सवेरे शुरू होती है तो शाम तक चलती रहती है। सारी स्त्रियाँ बैठी ही रहती हैं। कदाचित् इसी पर एक कहावत चल पड़ी—**"स्त्रियों के उठने तक सियार बोल**

पड़े।" अर्थात् रात हो गई। इस कथा का प्रचलन कृष्णा-गोदावरी के इलाकों में अधिक है। क्रीडाभिराम् से पता चलता है कि इस कथा को जक्कु जाति के लोग सुनाया करते थे। 'क्रीडाभिरामम्' के अन्तर्गत कामवल्ली की जो चर्चा है वह इसी कथा से सम्बद्ध है। ये गाने लोगों को इतने पसन्द थे कि काम-काज करने वाले, मेहनत-मजूरी करने वाले, रहट चलाने वाले, खेत निराने वाले पुरुष तथा कूटने-पीसने वाली स्त्रियाँ सभी पर मस्ती छा जाती थी। मस्त होकर गाते हुए लोग शारीरिक थकान को भूल-से जाते थे। पालकुरिकी ने इसके सम्बन्ध में कहा है—"गरीब दिन-भर हाड़तोड़ मेहनत करके, शाम को चावल का माँड या आटे का गटका (पतली लेई), जो भी सामने डाल दो पीकर पड़े रहते, पर चाँदनी रातों में वेन्नेलागुडि पाट गाना सुनकर उनकी आत्माएँ तृप्त हो जातीं। वेन्नेलागुडि पाट (चन्दागान) क्या है यह तो नहीं मालूम, पर इसे शायद चाँदनी रातों में गाया ही जाता था। पालकुरिकी द्वारा सूचित 'वन्नेलापाट' (चन्दा गीत) भी सम्भवतः यही है।"[1]

घुड़सवार—घोड़ों को चाल सिखाना भी एक कला थी। इसके लिए बड़े अनुभव की आवश्यकता होती थी। कुछ घुड़सवार केवल घोड़ों को साधने और चाल सिखाने के लिए ही होते थे। घोड़े की चालें विविध प्रकार की होती थीं। उस समय के कवियों ने जिन चालों के उल्लेख किये हैं उनमें से ये हैं : जाड़ नय चाल, जंगा चाल, तुरकी चाल, खगाल चाल आदि। कोश में इन शब्दों के जो अर्थ दिये हैं, उनसे इन चालों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। जैसे जोड़नय=अनादौरितकम्, जंगना=पैर फैलाकर चलना, खगाल=अस्कंदितम् (शब्द रत्नाकर); किन्तु तुरकी के माने 'घोड़ा' दिया गया है, जो संदर्भ को देखते हुए जँच नहीं पाता। चौकड़ी भरने को चातुरीक चाल कहा जाता है। चौतिरिक भी शायद यही चाल है।[2]

१. सि० द्वा०, भा० २, पृ० ५६।
२. सि० द्वा०, भा० २, पृ० ४१।

चोरी-डकैती—चोरी, विशेषकर सेंध लगाने, और डाका पड़ने से लोगों को असहनीय कष्ट होता था। फिर भी कवियों के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि चोरी भी एक कला बन गई थी। संस्कृत-साहित्य में दंडि के 'दशकुमार चरित' तथा 'मृच्छकटिक' नाटक में चोरी के वर्णन पढ़ने पर ऐसा लगता है कि वह भी एक आनन्दमयी कला थी। उसी संस्कृत मर्यादा का अनुकरण करते हुए तेलुगू कवि कोरवी गोपराजु ने चौर-विद्या का वर्णन इस प्रकार किया है :

"इधर गाँव के चौकीदार रात होने पर पहरे के लिए तैयार होते और उधर चोर काली के मन्दिर पर जाकर मन्नत माँगते कि आज की रात उनकी चोरी सफल रहे।"

चोरों की अपनी तैयारी सुनिये :

"गालिचीर (वायुवस्त्र), मसान की राख, चील नख, कुण्डा या कोंकी, लाठी, दिया-बुझाऊ कीड़े, बाँस की काँड़ियाँ, गेंदकाँटा, बेहोशी की दवाएँ, कैंची, नकबकार, नीले गेंद, काली पोत, इन सबको चतुराई से सँभालकर चोर चल पड़ते।"

और तब।

"पहरेदारों पर मसान की राख छिड़ककर, बड़े फाटक का कुछ भाग खोद गिराकर राजकुमारी के महल में सेंध लगाकर बाँस की काँड़ियों से कीड़ों को छोड़कर दिया बुझा डालकर।"[1]

उक्त वर्णन में मसान की राख और दिया बुझाने वाले कीड़ों आदि चोरी के साधनों की बात कही गई है। चोरों का विश्वास था कि मसान की राख छिड़कने पर सोने वालों की नींद नहीं खुलती। वे पहरे-दारों पर इसका प्रयोग करते थे।

सीमान्तों पर दुर्गाधिपति पर्याप्त सेनाएँ रखते और उसके बदले में जागीर पाते थे। इन जागीरदारों की सेना को पालेम (पहरेदार) कहा जाता था।

१. सि० हा०, भा० २, पृ० ८२।

'वायु वस्त्र' क्या है ? नकब के रास्ते हवा-घर के अन्दर न घुसे इसके लिए कपड़ा आड़े पकड़ते थे । यही 'वायु-वस्त्र' है । 'चील नख' के माने कोश में तो 'चोरी का विशेष साधन' भर है । इतना तो सभी जानते हैं, पर इससे काम नहीं चलता । जहाँ नकब या सेंध लगता हो चोर पहले चील के नाखून से उस जगह लकीर खींचते थे और इस प्रकार अन्दाज करते थे कि दीवार नरम है या सख्त । सख्त दीवार निकलने पर दूसरी जगह नकब लगाते थे । यही 'चील-नख' का उपयोग था । तेलंगाने के कुछ जिलों के अन्दर यह विश्वास आज भी है । कुण्डा, लोहे की नोकदार टेढ़ी कील को कहते थे । इसे रस्सी से बाँधकर घर के अन्दर छोड़ते । चोरी के माल की गठरी बाँधकर उसे कुण्डे में लगा दिया जाता था और रस्सी को हिलाकर इशारा करते ही ऊपर वाले उसे खींच लेते थे । अन्त में अन्दर का चोर भी उसीसे टँगा ऊपर आ जाता । ऊपर वाले उसे भी उसी तरह बाहर कर लेते । बाँस की काँड़ियों में कीड़े-पतंगे रखे रहते थे । घर में यदि दिया जल रहा होता, तो कीड़े छोड़ दिये जाते । छूटते ही वे दिये पर टूट पड़ते और दिया बुझ जाता । ये कौन-से कीड़े होते थे, इस पर बाद में विचार करेंगे । 'गंद काँटा' क्या है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता । हो सकता है कि कुएँ से डोल आदि निकालने के झगर की तरह का कोई काँटा होता रहा हो । उसे छत पर से रोशनदानों की राह घर के अन्दर छोड़कर इधर-उधर फेरने से जो-कुछ काँटे से लग जाय, बाहर खींच लेते होंगे । 'कालीपोत' कदाचित् बदन पर पोतने की कोई कालिख रही होगी । अँधेरे में काले भूत बनकर दूसरों की नजरों से बचने अथवा भयंकर भेस बनाने के लिए बदन पर कालिख पोत लिया करते होंगे । चोरी के इन साधनों में से कई एक आज हमारी समझ के बाहर की वस्तु बन गये हैं ।

एक दूसरे कवि तिम्मा भवर ने 'परमयोगी-विलासमु' में चोरी के साधनों के सम्बन्ध में लिखा है :

"खरिया, नकब छुरा, सिर का डाटा, चोवकु, नीली दट्टी, रेत,

चींटीदान, चीलनख, गेंद काँटा, कैंची आदि।"

'सिर का डाटा' वह कपड़ा होता होगा, जिससे सिर के बालों को बाँध रखें। नीली दट्टी से मतलब नीला कपड़ा है, अँधेरे में छिपने के लिए। रेत शायद इसलिए रखते थे कि कोई आगे आ पड़े या पीछा करे तब उसकी आँखों में झोंक दी जाय। चींटी का शब्द दिया बुझाने के कीड़ों के लिए आया है। चींटियाँ दिये को नहीं बुझा सकतीं। दिये को देखते ही झुण्ड-के-झुण्ड पिल पड़ने वाले कीड़े और भी कई प्रकार के होते हैं। परन्तु बाद के कवियों ने इनकी जगह भौंरे का उल्लेख किया है। (कविवर गौरना का हरिश्चन्द्र उत्तर भाग, पृ० २२६) कवि वेंकट-नाथ (स० १५५०) ने अपने 'पंचतन्त्र' (३-१६६-२००) में चोरों और उनके साधनों का बड़ा ही रोचक वर्णन दिया है :

"भवन दीपाहित भ्रमर, वालुका-भस्मि, सिर के डाट, चील-नख, काँटा तोरण, कमर की रस्सी, दिशा बंद, काबुबोट्टु, सेंध छुरा, खरिया, मायामंडु, ताल पांत, मैली लंगोटी, मोड पुराकु, सुपारी के चूरे की डिबिया, इकहरे चप्पल, साँप बिच्छू की दवा, सुप्ति वृद्धिकर औषधि, और काले कपड़ों से लैस टेढ़ी चोटी, चिकने शरीर और लाल-लाल आँखों वाला एक निडर चोर आया और गश्त लगाने वाले पहरेदारों की आँख बचाकर मौके पर पहुँच गया। दीवार पर खरिया से घेरा खींचकर उसने अच्छी तरह सेंध मारी। दीवार के पत्थरों को हटाया। हवा और रोशनी को रोकने के लिए सेंध पर काला कपड़ा आड़े बाँध दिया।" इससे काफी पहले सन् १२५० में ही पालकुरिकी ने चोरी का वर्णन इस प्रकार किया है :

"छुरी खरिया, गेरुआ वस्त्र, कतन्नी, बालू, अक्षत (हल्दी चावल), गेंद काँटा, काला लत्ता, कमरबंद, जादूई काजल, कोडा, इकहरा चप्पल, मसान राख, बादुरालु, कुकुर-मुँहबंद, कुण्डा, कटिरज्जु आदि से लैस होकर अडगडा नकब, देहरी नकब, दीवार नकब, सुरंग नकब आदि

सेंधें खोदकर घर में घुसा और चारों ओर परख कर............।"[१]

उक्त पद्य में आये कुछ शब्दों के अर्थ शब्दकोश में भी नहीं हैं। 'आंध्र महाभारत' के एक पद्य का अभिप्राय यह है कि जिस घर में उल्लू, चील, दिया-बुझाऊ कीड़े आदि पहुँचें, उसमें शांति का अनुष्ठान कराना चाहिए। [४—११६] मूल संस्कृत महाभारत में इसीको यों कहा गया है :

> "गृहेष्वेतेन पापाय तथा वै तैल पायिकाः
> उद्दीपकाश्च गृध्राश्च कपोताभ्रमरास्तथा।
> निविशेयुर्यदा तत्र शान्तिमेव तदाचरेत्
> अमंगल्यानि चैतानि तथोत्क्रोशा महात्मनाम्।"[२]

तिलचट्टे, गीध, कबूतर, उद्दीपक (पहाड़ी चींटे) और भौंरे। 'उद्दीपक' का अर्थ कोशकार ने 'पहाड़ी चींटा' बताया है। पता नहीं वे कैसे होते हैं। उल्लू की आँख रात में चमकती है। इसलिए वह भी दीपक कहला सकता है। जुगनू भी रात में चमकते हैं। पर हमें इस बहस में पड़ने की जरूरत नहीं। तिकन्ना सोमयाजी ने "दिव्यारुप्रपुरुवं" (अर्थात् 'दिया बुझाने वाला कीड़ा') शब्द प्रयुक्त किया है। दिये के लिए तेलुगु में 'दिवा' शब्द आया है, बस यहीं आया है और कहीं इसका प्रयोग नहीं मिलता। दिवरी अथवा दिवटी मशाल को कहते हैं। सम्भव है दिवा से ही दिवरी बना हो। अस्तु, वह कीड़ा कौन है जो दिये को बुझाता है ? महाभारत के उक्त श्लोक में भ्रमर आया है। हम देख चुके हैं कि एक कवि ने भौंरों को दिया बुझाने वाला कीड़ा कहा है। तिकन्ना ने 'भ्रमर' की जगह उक्त संयुक्त शब्द का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि चोर दिया बुझाने के लिए जो कीड़े बाँस की कांड़ियों में ले जाते थे, वे भौंरे ही थे।

मैलारभट्ट अथवा मैलार भक्त—मैलार एक गाँव है, जहाँ वीरभद्र

१. 'बसव पुराण', पृ० १५४, १५५।
२. 'महाभारत' अनु०, ११४ अध्याय।

का मन्दिर है। उस वीरभद्र के भक्तों को मैलारभट्ट (यानी सिपाही) कहते हैं। भक्तों को भट्ट (सिपाही) कहने का कारण यह हो सकता है कि भक्त लोग सीधे-सादे भजनानंदी होते हैं और भाग्य पर संतोष कर लेते हैं। वीरभद्र के ये भक्त ऐसे न थे। वे अपने देवता से बड़ी-बड़ी वीरोचित मन्नतें माँगा करते थे। मन्नत पूरी होने पर या अगले जन्म में पूरी होने की आशा से वे मन्दिर में जाकर भक्तिवश अथवा मन्नत पूरी कराने के लिए नाना प्रकार की आत्महिंसा करते थे। यह आत्महिंसा कभी-कभी जानलेवा भी साबित होती थी। 'क्रीडाभिरामम्' में इसका वर्णन इस प्रकार है :

"धकाधक जलते लाल अंगारों के विचित्र अग्नि-कुण्डों में प्रवेश करने वाले, नीचे गढ़ों के अंदर गड़े हुए नुकीले त्रिशूलों पर झूला झूलकर कूद पड़ने वाले, लोहे का काँटा पीठ की चमड़ी में चुभाकर विशेष बाँस पर लोटने वाले, सोने की मूठ वाले, करारे गंड़ासों को बिना किसी हिचक के निगल जाने वाले, शरीर के जोड़ों के भीतर बाण अथवा सूजे छेद लेने वाले, दोनों नंगी हथेलियों में कपूर-बत्ती जलाकर भगवान् की आरती करने वाले, मूर्तिमान् साहस ये वीर-हृदय मैलार वीर भट हैं!"

आज भी कार्तिक नंदी की सवारी के आगे वीर शैव जवड़ों में सूजे चुभोते हैं, दोनों (नंगी) हथेलियों में कपूर के डले जलाकर भगवान् की आरती करते हैं। इसमें से एक भी बात झूठ नहीं है।

कांट नामक एक पाश्चात्य यात्री ने लिखा है कि विजयनगर राज्य में इन आत्म-हिंसायुक्त कृत्यों का प्रदर्शन होता था। उसने लिखा है कि लोग अपनी पीठ की चमड़ी में लोहे का काँटा चुभोकर उस काँटे को रस्सी से लटकाकर झूला झूला करते थे, और इसी प्रकार के दूसरे साहस-पूर्ण कार्य करते थे। आग में चलने, सूजा चुभोने और हथेली पर कपूर जलाने की विधि शैवों में आज भी पाई जाती है।

कूचीपूडी भरत-नाट्य का केन्द्र था। यहाँ वाले सम्भवतः शास्त्रीय विधि से उन नाट्य-भंगिमाओं का प्रदर्शन किया करते थे। साधारण

जनता को भी कुछ जैसी-तैसी देसी नाच-गान में गहरी रुचि थी।

कविता, संगीत तथा नृत्य में भारत में प्राचीन काल से दो विभिन्न विधान प्रचलित थे। एक को मार्ग विधान (संस्कृत-पद्धति) कहते थे और दूसरी को देशीय विधान। नन्नेचोड़ु ने संस्कृत मार्ग-कविता से भिन्न 'देशी' कवित्व के सम्बन्ध में लिखा है। संगीत शास्त्र में भी मार्ग विधान तथा देशी विधान का ब्यौरा है। रामायण में लव, कुश के रामायण-गान को मार्ग विधान कहा है "**अगायताम् मार्ग विधान सम्पदा।**" काशी-खंड में—"**देशीमार्गलास्य तांडव**" की चर्चा है।

देशी नृत्य-विधानों में ही लोगों की रुचि अधिक थी। उन नृत्यों में कुछ पुरुषों के लिए थे और कुछ स्त्रियों के लिए। 'कोलाटम' खेल (नाच) पुरुषों के लिए था। इस खेल में हाथ-भर के दो-दो डंडे दोनों हाथों में लेकर दस-बीस आदमी गोल घूमते हुए नाचते गाते थे और एक-दूसरे के डंडों को बजाते जाते हैं। स्त्रियों के खेल (नाच) में भी गोल घूमा जाता है। पर उसमें लकड़ी के बजाय बीच-बीच में झुक-झुककर गीत के ताल-ताल पर तालियाँ बजाई जाती हैं। (तेलंगाणा में बतकम्मा और बोड्डम्मा का त्यौहार प्रसिद्ध है। इसमें स्त्रियों की कला का अच्छा प्रदर्शन होता है। अन्तिम दिन जब बतकम्मा को बड़ी-बड़ी थालियों में फूलों को गज-गज भर ऊँचे आसन सजाकर बिठाते हैं और जलूस बनाकर नदी पर बहाने जाते हैं, तो गाँव-का-गाँव टूट पड़ता है।) इस खेल (नाच) के लिए 'गोंडली' का शब्द भी आया है, कदाचित् कुण्डली से ही गोंडली बना हो। यह गोंडली विधान ही बतकम्मा नृत्य-गान है। मैलारवीर भटों की तरह स्त्रियाँ भी देवी-देवता के सामने नाचती गाती हैं। कमान डालकर जमीन से कोई वस्तु उठा लेने की बात भी उसमें कही गई है। श्रीनाथ ने जक्किणी तथा चिंदु के नाम से दो देशी नृत्यों की चर्चा काशी खंड के अन्दर तीन-चार जगहों पर की है। जक्किणी के सम्बन्ध में **दशावतार चरित** में निम्न उल्लेख है :

"एक युवती ठुमुक-ठुमुक करती अंग-अंग से सुन्दरता छिटकाती,

दोनों हाथों से चँवर डुलाती 'कोप' चली, जिसे सभी नरेशों ने चकित होकर देखा।"

इस प्रकार हमें जो थोड़ा बहुत साहित्य मिल पाया है, उसके आधार पर हमने ये बातें लिखी हैं। इस प्रकार का साहित्य और भी मिल सकता है। रेड्डी-युग में कोंडावीडु का वैभव सबसे बढ़ा-चढ़ा था। श्री कान्त भी उसी राजा का आस्थान-कवि था। जब वह अन्य राजाओं के पास जाता तब वह कोंडावीडु के सम्बन्ध में इस प्रकार कहता था :

"कोंडावीडु परराज्य, परदुर्ग तथा वैभवश्री को प्राप्त करने तथा त्यागने में बेजोड़ है, शत्रु राजाओं की सेनाओं को पकड़कर फांसी पर लटकाने वाली तंत्री है, तीनों राजाओं को भ्रम में डाल देने वाला सुन्दर नगर है, चटुल-विक्रम-कला-साहस का प्रदर्शन करने वाला कुटिल शत्रुओं का जवाब है, जवन-घोटक-सामंत-सरस वीर अटानेक-हाटक-प्रकट गंध-सिंधु रार्भटी-मोहनश्री से सुसज्जित सुन्दर अमरावती का जोड़ा है हमारा कोंडावीडु।"

इस अध्याय के मुख्य आधार

१. कोरवी गोपराजु-कृत 'सिंहासन द्वात्रिंशिका'।

२. मल्लमपल्ली सोमशेखर शर्मा-कृत History of Reddy Kingdoms

३. वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री-कृत 'शृंगार श्रीनाथमु'।

४. श्रीनाथ की सारी रचनाएँ।

५. चिलुकूरि वीर भद्रराव-कृत 'आंध्रुल चरित्रमु'।

६. अनंतामात्य-कृत 'भोजराजीयमु'।

७. मंचन-कृत 'केयूरबाहु चरित्र'।

८. एर्रा प्रगड-कृत 'नृसिंह पुराण' एवं 'उत्तर हरिवंश'।

९. रेड्डी-संचिका।

१०. गौरना-कृत 'हरिश्चन्द्र' एवं 'नवनाथ चरित्र'।

: ४ :

विजयनगर साम्राज्य-काल
(सन् १३३६ से १५३० ई०)

धर्म

आंध्र देश में जिस समय एक ओर रेड्डी राज्य तथा वेलमा राज्य का उदय हो रहा था, उसी समय दूसरी ओर विजयनगर साम्राज्य का प्रादुर्भाव हो रहा था। इसलिए रेड्डी राज्य के साथ विजयनगर की चर्चा भी आवश्यक है। इस अध्याय में विजयनगर राज्य की स्थापना से लेकर श्री कृष्णदेवराय के काल तक के विषयों की चर्चा होगी।

अधिकतर इतिहासकारों का मत है कि विजयनगर राज्य की स्थापना सन् १३३६ ई० में हुई थी। श्री कृष्णदेवराय का देहान्त सन् १५३० ई० में हुआ। सन् १५६५ में तालीकोट की लड़ाई में यहाँ का अन्तिम राजा रामराज मारा गया। साथ ही दखनी मुसलमानों ने अत्यंत क्रूरता के साथ विजयनगर को तहस-नहस कर डाला। फिर राजा तिरुमलराय ने पेनुगोंडा में पैर जमाकर मुसलमानों के आक्रमणों का विरोध किया तथा कुशलता पूर्वक शासन करने लगा। किन्तु बाद में राजा श्री रंगराय ने अपनी दुर्बलता के कारण पेनुगोंडा को छोड़कर चन्द्रगिरि में अपनी राजधानी बनाई। शासन-कार्य ज्यों-त्यों चलाता रहा। अन्त में सन् १६२० के लगभग विजयनगर राज्य का नामो-निशान तक मिट गया। इस अध्याय में सन् १५३० तक की चर्चा होगी, उसके

बाद सन् १६२६ तक के विषयों की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे ।

वरंगल राज्य को मटियामेट कर चुकने के बाद मुसलमान फिर सारे तेलुगू-देश पर छा गए, और जनता पर बे-रोक-टोक घोर अत्याचार करने लगे । उसी समय प्रोळमकाप नायक ने मुसलमानों को खदेड़ दिया । रेड्डी तथा वेलमा राजाओं ने भी उसी नीति का अनुकरण किया । इन सभी के प्रबल प्रतिरोध के कारण तेलुगू-देश की धरती पर मुसलमानों का पैशाचिक तांडव नृत्य चार-पाँच साल से अधिक नहीं चल सका । किन्तु मलिक काफूर दिल्ली से पुच्छल तारे की तरह कुछ ऐसा छूटा कि सारे दक्षिण देश को रौंदता हुआ और जो भी सामने पड़ गया उस पर अधिकार करता हुआ अपनी सारी दंड-यात्रा को विजय-यात्रा में परिणत करता निकल गया । जो भी हाथ लगा उसीको सोना बनाता हुआ वह आंध्र-देश को पार कर गया और तमिलनाड के पांड्य राज्य का विनाश करके मदुरा (मेजूरा) में मुस्लिम राज्य की स्थापना की । वहाँ पर लग-भग पचास वर्ष के अन्दर सात मुसलमानों ने राज्य किया और हिन्दुओं पर मनमाने अत्याचार किये । आंध्र पर उनका आधिपत्य तो न था, फिर भी उनकी करतूत सब जगह एक-सी थी । तेलुगू जनता को जिन दुर्यातनाओं का शिकार होना पड़ा, उनकी बानगी के तौर पर कुछेक की चर्चा यहाँ की जाती है ।

कम्पॅराय की पत्नी शिरोमणि गंगादेवी ने **'वीर कम्पराय चरित्रम्'** के नाम से एक काव्य लिखा । उनका एक और काव्य **'मदुरा विजयम्'** भी है । वह एक वास्तविक इतिहास-ग्रन्थ है । सन् १३७१ में कम्पराय ने मदुरा से मुसलमानों को मार भगाया था ।

'मदुरा विजयम्' की कथा इस प्रकार है :

एक स्त्री ने कांचीवरम् में कम्पराय से मिलकर मदुरा के मुसलमानों की मजलिस का ब्यौरा सुनाया :

अधिरंगमवाप्त योग निद्राम हरिमुद्वेजयतीति जातभीतिः ।
पतिताम्रहुरिष्टकानिकायम् फलचक्रेण निवारयत्यहीन्द्रः ।

शेषशायी भगवान् की योग-निद्रा भंग न हो इस विचार से मन्दिर के प्राकार की ईंटें टूट-टूटकर गिरने पर शेष भगवान् ही अपने फन पर थामे हुए हैं। सारांश यह है कि वहाँ साँप रेंग रहे हैं।

घुण जग्ध कवाट सम्पुटानि स्फुट दूर्वांकुर संधि मंडपानि।
इलथगर्भ गृहाणि वीक्ष्य दूये भुजगन्धान्यपि देवता कुलानि !

अर्थात् मन्दिर के किवाड़ों को दीमक चाट गई है; मंडपों में दरारें पड़ गई हैं और उनमें घास उग आई है, गर्भ-गृह ढह गए हैं, यही दशा दूसरे मन्दिरों की भी है।

मुखराणि पुरा मृदंग घोषैरभितो देव कुलानि यान्यभूवन्।
तुमुलानि भवंति फेरवाणाम् निनदैस्तानि भयंकरि वानीम्॥

अर्थात्—जहाँ मृदंग बजते थे वहाँ अब सियार बोलते हैं।

सततान्वर धूम सौरभैः प्राङ्निगमोद्घोषण बद्धिरग्रहारैः।
अधुना जनिविस्र मांस गंधैरधिकक्षीब तुलुष्कसिंहनादैः॥

अर्थात् ब्राह्मण अग्रहारों के हवनों के धुएँ की जगह मांस भूनने का धुआँ उड़ रहा है। सस्वर वेद-घोष के बदले अनुदात्त कर्कश तुर्क अजानें ही रह गई हैं।

मधुरोपवनम् निरीक्ष्यदूये बहुशः खंडित नारि केलि षंडम्।
परितो नृकरोटि कोटि हार प्रबलच्छूल परम्परापरीतम्॥

अर्थात्, मदुरा नगर के नारियल के कुञ्ज काट दिये गए हैं और उनके बदले शूलों पर नरमुण्ड लटक रहे हैं।

रमणीयतरो बभूव यस्मिन् रमणीनाम् मणिनूपुर प्रणादः।
द्विज शृंखलिका खलात् क्रियाभि कुरुते राजपथ स्वकर्णशूलम्॥

जिस मदुरा नगरी की सड़कों पर रमणियों के नूपुर झनकते थे, वहाँ अब ब्राह्मणों के पैरों की बेड़ियाँ खनक रही हैं।

स्तनचंदन पांडु ताम्रपर्ण्यास्तरुणी नामभवन् पुरा यदामः।
तदसृग्भिरुपै विशोणिमानन् निहतानामन्निलगवाम् नृशंसैः॥

जिस ताम्रपर्णी नदी की आभा पहले युवतियों के स्तन चन्दन से

पांडुर रहती थी, वह अब हत्या की हुई गौओं के रुधिर से लाल हो उठी है !

श्वसितानिल शोषिताधराणि श्लथशीर्णविलचूर्ण कुन्तलानि ।
बहुबाष्प परिप्लुतेक्षणानि द्रमिडानाम् बदनानि वीक्ष्य दूये ।।

आहों, सूखे होठों, बिखरे बालों और निरन्तर डबडबाई आँखों वाली द्रविड महिलाओं को देखा नहीं जाता !

श्रुतिरस्तमिता नयः प्रलीनो विरता धर्म-कथा च्युतम् चरित्रम् ।
सुकृतम् गतमभिजात्यमस्तम् किमिवान्यत् कलिरेक एव धन्यः ।।

वहाँ की परिस्थितियों का वर्णन यदि एक वाक्य में सुनना हो तो वेदों का अन्त हो गया है, नैतिकता विलीन हो चुकी है धर्म को तिलांजलि दी जा चुकी है, चरित्र का पतन हो चुका है, सदाचार भ्रष्ट हो चुका है, कुलीनता का नाश हो चुका है, हाँ, यदि कोई धन्य हुआ है तो वह अकेला 'कलि देव' है ।[1]

गंगादेवी के इस वर्णन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में और-तो-और स्वयं एक अरब यात्री (इब्न बतूता) ने, जो उन दिनों भारत की यात्रा कर रहा था, अपनी आँखों देखी बात इस प्रकार लिखी है :

"सुलतान ग्यासुद्दीन जब मदुरा में राज्य कर रहा था तो उसने हिन्दुओं को बड़ी यातनाएँ दीं । एक बार सुलतान जंगल से मदुरा लौट रहा था । मैं (इब्न बतूता) उसके साथ था । रास्ते में उसे बहुत-से बुत-परस्त (हिन्दू) अपने स्त्री-बच्चों के साथ दीख पड़े । ये लोग जंगलों को काटकर सुलतान के लिए रास्ता बनाने के लिए नियुक्त किये गए थे । सुलतान ने उनके सिरों पर लोहे की नुकीली छड़ें लदवा दीं । सवेरा होते ही उन्हें चार हिस्सों में बाँटकर शहर के चारों बड़े दरवाजों पर भिजवा दिया । लोहे की उन्हीं छड़ों को दरवाजों पर गड़वाकर उन अभागों को उन पर छेदकर टाँग दिया गया ।"

मुसलमानों की बढ़ती के कई कारण थे । एक विशेष कारण यह

१. 'मदुरा विजयम्', अष्टम सर्ग ।

था कि साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दुओं के अन्दर आपस में मनमुटाव काफी पैदा हो चुका था। काकतीय युग में शैव-सम्प्रदाय की बढ़ती को हम देख आए हैं। विजयनगर साम्राज्य के साथ वैष्णव धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। तब तक दक्षिण के आचार्यत्रय सुप्रसिद्ध शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य के क्रमशः द्वैत, अद्वैत तथा विशिष्ट अद्वैत तत्त्वों ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था। बौद्धों तथा जैनों की कोई गिनती नहीं रही थी। अब रहे शैव और वैष्णव। शैवों ने पहले वैष्णवों को जी भरकर गालियाँ सुनाईं। शिवजी के सिवा किसी और देवता को मानने वालों को उन्होंने पैरों-तले कुचल डाला। ऐसी अनेक झूठ-मूठ की कथा-कहानियाँ गढ़ डालीं कि शिवजी से वर पाकर विष्णु (भगवान्) ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। स्वयं श्री कृष्णदेवराय ने अपने 'आमुक्त माल्यदा' में कहा है कि शैव प्रभुओं ने अन्य धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये तथा उनके मन्दिरों को तोड़कर उनकी जगह शैव-मठों की स्थापना की। उसमें कहा है कि विष्णुगुप्त नामक एक पांड्य राजा से स्वयं रंगनाथ भगवान् ने यों कहा था :

"शैव पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब वह मेरी बिनती पर कान नहीं धरता, विश्वास भी नहीं करता। हमारी मूर्तियों के प्रति कहता है कि महादेव शिव ही इसके भी आधार हैं। हमारे मन्दिरों के उत्सवों के लिए भी अब यही नीति चल पड़ी है। वेदज्ञ ब्राह्मणों की पूजा के बदले शैव जंगमों की पूजा में मग्न रहता है। गृहदेव तरसते रहते हैं और रविवार के दिन शैव वीरभद्र भगवान् को थाली चढ़ाता है। संकर दासमय्या के भक्तजनों के छियानवे श्राद्ध करता है। अनादि काल से चले आ रहे मंदिर धराशायी हो गए हैं और उधर वह शैव मठों की स्थापना किये जाता है! उत्तर शैव धर्म को अपनाकर वह जनेऊ तोड़ डालता है! पतित देवों को ही आराध्य मानकर उन्हींसे उपनिषदों की कथा सुनता है! जहाँ तहाँ जंगम को देखते ही घबरा उठता है तथा शिवलिंग धारण किये हुए लोग यदि कुछ बुरा भी कर बैठें तो हाँ-

ना, नहीं करता ! ऐसे समय में जो ब्राह्मण यह कहें कि यह सब ठीक किया, उन्हींको अग्रहार आदि ग्राम दान देता है ।"[1]

अपने शैवाचार्य गाँजा भी पी लें तो पांड्य-नरेश देखी-अनदेखी कर देता था । पर यदि किसी ब्राह्मण से तनिक भी त्रुटि हो जाय तो उसे पंचायत में घिसटवाता और सजा दिलाता था । लोगों की स्थिति यह थी कि पसन्द हो या न हो, सभी जनेऊ निकालकर लिंग धारण कर लेते थे, रुद्राक्ष माला गले में पहन लेते थे, और बगल में वीर शैव ग्रन्थों को दबाये घूमा करते थे ।

जब राजा और आचार्य प्रजा को इस प्रकार सताया करें तब यदि लोगों में परस्पर द्वेष, राज-द्रोह और देश-द्रोह की भावनाएँ जाग पड़ें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

'काल हस्तीश्वर शतक' नामक एक पुस्तक है । कहा जाता है कि उसे धूर्जटि ने लिखा है । किन्तु उसकी शैली से स्पष्ट है कि वह धूर्जटि की नहीं है । खैर, किसी ने भी लिखा हो, उसका प्रचार काफी था । आज भी वह पढ़ी-पढ़ाई जाती है । उस समय की परिस्थितियों पर इस पुस्तक से अच्छा प्रकाश पड़ता है । पुस्तक विष्णु-दूषण से भरी हुई है । जैसे—
"श्री लक्ष्मीपति सेवितांघ्रि युगलां श्री काल हस्तीश्वरां !" "श्री रामार्चित पादपद्म युगलां श्री काल हस्तीश्वरां !" आदि शैव जब विष्णु भगवान् को इस प्रकार शिवजी के चरणों में डालने लगें, तो वैष्णव चुप थोड़े ही बैठ सकते थे ? उन्होंने भी शिव को विष्णु के चरणों में ला घसीटा । ताड़ला पाक तिरु वेंगलनाथ ने अपने 'परम योगी विलासमु' में शिव को भरपूर गालियाँ सुनाई हैं । यह परस्पर विद्वेष यहाँ तक बढ़ा कि दोनों एक-दूसरे को चांडाल, पाखण्डी और पापी कहने लगे । एक-दूसरे की सूरत तक नहीं देखते थे । कहीं एक-दूसरे से छू जाने पर स्नान करके सारे कपड़ों को धो डालते थे ।

धर्माचार्यों ने अपने अनुयायियों को मुक्तिदान दिया । भले ही वे

---

१. 'आमुक्त माल्यदा', ४-४२, ४४ ।

चोर-डाकू क्यों न हों, गाँजा-शराब क्यों न पीते हों, व्यभिचार क्यों न करते हों, हत्या क्यों न करते हों ! अलग-अलग धर्माचार्यों के मुक्ति-धाम भी अलग-अलग थे। शैव मुक्ति पाकर कैलाश पहुँचता तो वैष्णव वैकुण्ठ में। आज तक यही सिलसिला चल रहा है। स्वयं किया तो किया, उन्होंने देवताओं से भी नीच-से-नीच काम करवाये। कल्पित कथाओं से लोगों के दिलों में इस प्रकार का विश्वास बिठा दिया कि देवता भी ऐसे ही हैं।

'काल हस्ती शतक' में एक पद्य यह भी है :

"हे महादेव, तुम्हें मैं किस रूप में भजूँ, घुटने के रूप में, स्त्री के रूप में, उसके स्तन के रूप में, अथवा बकरी की मेंगनी के रूप में ?"

उसी प्रकार वैष्णवों ने विप्रनारायण से वेश्या-प्रसंग करवाकर उसे रंगनाथ भगवान् के हाथों चोरी का माल दिलवाया।

ऐसी कथाओं के गढ़ने वालों ने यह भी नहीं सोचा कि अपने सम्प्रदाय का प्रचार यदि हो भी जाय तो उसके साथ समाज का नैतिक पतन किस बुरी तरह होगा। शैवों को शुद्ध करके वैष्णव बनाने और वैष्णवों को शैव बनाने की परिपाटी चल पड़ी थी। विजयनगर काल में शैवों का जोर ढीला पड़ा। क्योंकि पंडिताराध्य सोमनाथ-जैसे प्रचारक अब नहीं रह गए थे।

फिर भी, जिसे जहाँ मौका मिला, अपना अड्डा जमाया। शैवों ने बिज्जल राज में डेरा डाला तो वैष्णवों ने विजयनगर तथा रेड्डी वेलमा राज्यों में पैर जमा लिये। जहाँ-तहाँ विरोधी सम्प्रदायों का जोर चला। अन्य सम्प्रदायों की जनता पर तरह-तरह के अत्याचार करने में किसी ने तनिक भी संकोच नहीं किया। शैवों ने जैन मन्दिरों पर कब्जा कर लिया, और उन्हें शिवालयों में परिणत कर डाला। करीमनगर (हैदराबाद) जिले के वेमुलवाडा नामक स्थान में शिवालय के सामने प्राचीन जैन मूर्तियाँ अपनी दुःस्थिति का रोना रो रही हैं। गदवाल तहसील के पूडूर ग्राम में पश्चिमी चालुक्यों के शिला-लेख खड़े हैं। उसी गाँव में एक शिवाला भी

है। पुरानी जैन मूर्तियों को मन्दिर से बाहर रख दिया गया है। शैवों की देखा-देखी वैष्णवों ने भी जैनों को यातनाएँ देनी शुरू कर दीं। मैसूर में अभी कुछ जैन बच रहे थे। श्री वैष्णवों ने उन्हें मार-पीटकर बेल-गोला के उनके मन्दिरों को ढा दिया। राजा बुक्का देवराय ने उनमें समझौता करवाकर वैष्णवों के हाथों ढाये गए मन्दिरों की मरम्मत करवा दी।[1]

विजयनगर के महाराजाओं ने धार्मिक सहिष्णुता का अच्छा परिचय दिया। ऐसे समय में जब कि मुस्लिम विजेता जहाँ पहुँचते वहीं हिन्दुओं को सताते, धर्म-परिवर्तन करते, उनके ग्रन्थों की होली जलाते, उनके मन्दिरों को ढाते और नाना प्रकार के वीभत्स तांडव करते फिरते थे। तब हिन्दुओं में एकता की स्थापना ही मुख्य राजनीति-सी बन गई थी। उन दिनों जो विदेशी यात्री भारत आते थे, वे विजयनगर की समृद्धि देखकर दंग रह जाते थे। तो भी मताचार्यों तथा जनसाधारण में इस गुण का अभाव ही था।

मदुरा राज्य में मुसलमानों के अत्याचारों के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। उसी प्रकार आंध्र कर्णाटक के अन्दर भी उनके क्रूर कृत्य जारी थे। कृष्णदेव राय ने भी इस पर खेद प्रकट किया है :

"सनकादि द्विज सस्करी फाल गोपीचंदन की पुण्ड्रवलियाँ चाट-चाट,
हा-हा-हू-हू कर धनुष-डोर की तरह गले में पड़े जनेऊ खींच-खींच औ'
काट-काट,
छाया पथ-रेती से सप्तर्षि-रचित पार्थिव शिव को जूतों से रौंद-रौंद औ'
कुचल-कुचल,
रंभा-सी सुन्दरियों के पीन पयोधर निर्दयता से घर-घर मसल-मसल
डाले जिसने, नाना जघन्य कृत्यों के पापी कलुबुरगी[2] सुलतानों की

१. Vijaynagar Sexcentenary commemoration Volume page 42. अब आगे इसे V. S. C. कहेंगे।

२. गुलबर्गा वाले।

वह नगरपुरी, यावनी वाहिनी तेरी[1] असि ने काट मृत्युमुख में झोंकी ![2]

महाकवि अल्लसानि पेद्दना ने चंद्र को सम्बोधित करते हुए कहा है :
"तू तो गोवध करने वाले मुसलमानों का देव है।"[3]

सैनिक व्यवस्था

मुस्लिम विजय के कारणों में से एक कारण था हिन्दुओं का परस्पर साम्प्रदायिक विद्वेष। दूसरा कारण था इनमें सैनिक व्यवस्था की कमी। इसके विपरीत मुसलमानों में एकता थी, और साथ ही अपने धर्म के प्रचार के लिए अगाध उत्साह भी था। मुसलमानी फौजों में घुड़सवार अधिक थे और वे सैनिक दृष्टि से अच्छे थे। दक्षिण भारत में ऐसे घोड़ों की बड़ी कमी थी। अरब और फारस से उनका आयात होता था। अरबों और ईरानियों ने घोड़ों के व्यापार में अरबों रुपये कमाये थे। स्वभावतः वह पहले अपने धर्म-भाई भारतीय मुसलमानों को ही सप्लाई करते थे। विजयनगर के महाराजाओं ने अपने अश्वदल की कमी को आरम्भ में ही समझ लिया था। इसलिए वे अपनी घुड़सवार सेना को बढ़ाने में सदा सचेष्ट रहे। दक्षिण में घोड़े विदेशों से जहाजों पर आते थे। समुद्र-यात्रा में जो घोड़े रास्ते में मर जाते थे उनकी दुम लाकर दिखाने पर भी महाराजा को उसका मूल्य देना पड़ता था। एक घोड़े की कीमत बीस पौंड तक थी। कृष्णदेव राय ने पुर्तगाली व्यापारियों से वादा किया था कि बीस पौंड फी रास के हिसाब से १००० घोड़ों के लिए उन्हें २०००० पौंड देंगे। हिन्दू सेना की दूसरी त्रुटि यह थी कि इनके पास तोप-बंदूक और गोला-बारूद पर्याप्त न था। इनका प्रयोग भी हिन्दू सैनिक नहीं जानते थे। इसे उन्होंने मुसलमानों से ही सीखा। मुसलमानों की युद्ध-कला भी हिन्दुओं की तुलना में बढ़ी-चढ़ी थी। हिन्दू-धर्म-युद्ध की

१. तेरी अर्थात् विजयनगर के प्रतापी महाराज कृष्णदेवराय की।
२. 'आमुक्तमाल्यदा', १-४१।
३. 'मनु चरित्र', ३-४२।

परम्परा में पले थे। उधर मुसलमानों के पास युद्ध-धर्म नाम की कोई चीज़ न थी। हिन्दू अभी पुराणों के पुराने युग से निकल नहीं पाये थे। तृतीय मल्लराजु ने जब मदुरा के सुलतान पर चढ़ाई करके किले को घेर लिया, तो सुलतान ने निराश होकर सुलह की शर्तें करने के लिए मुहलत माँगी। मल्लराजु मान गया। किन्तु जब हिन्दू सेनाएँ रात में निश्चिन्त सो रहीं थीं, तब मुसलमानों ने सोती हुई सेनाओं पर धावा बोलकर मल्लालों की 'सौप्तिक प्रलय' कर डाली अर्थात् क़त्ले-आम मचा दिया। अन्त में वे राजा को जीवित पकड़ ले गए। हरजाना दाख़िल करने पर ही राजा को छोड़ने को राज़ी हुए। इस प्रकार जितना धन मिल सकता था वसूल करके उन्होंने मल्लालों को कंगाल बना दिया। और इसके बाद भी अन्त में राजा की खाल जीते-जी खींच ली गई और उसकी लाश को शहर के फाटक पर टाँग दिया गया। हिन्दू बार-बार मार खाते रहे। ग़ौरी और ग़ज़नी से लेकर औरंगज़ेब तक हर आक्रमण से धोखा-ही-धोखा खाते रहे, पर इससे कोई सबक़ नहीं सीखा। "अलाउद्दीन खिलजी ने यह जानकर दक्षिण पथ पर चढ़ाई की कि दक्षिण भारत के हिन्दू राजाओं के पास अपार धन-राशि है, उनमें एकता का अभाव है, तथा सबसे बढ़कर यह कि हिन्दू सेना की बुनियादें कमज़ोर हैं।"[1]

हिन्दुओं की दूसरी कमी यह थी कि जीतने पर भी वे शत्रुओं को कुचलने से हाथ रोक लेते। ऐसा नहीं करते थे कि सदा के लिए दबा डालें, ताकि वे फिर कभी सिर उठाने का नाम न ले सकें। रायचूर युद्ध में हिन्दू जीते, मुसलमान हारकर मैदान से भागे। कृष्णदेव राय ने अपने सेनानियों के लाख समझाने पर भी भागने वालों पर हाथ उठाने की अनुमति नहीं दी। उन्होंने कहा, यह धर्म के विरुद्ध है। यह देखकर एक यूरोपीय यात्री चकित रह गया था।[2]

जब उम्मुतूर को परास्त करने पर भी कृष्णदेव राय ने पराजित

१. V. S. C. पृष्ठ २९।

२. V. S. C. पृष्ठ १८३।

राजा को ही फिर से राजगद्दी पर स्थापित किया तब मुसलमानों का राजतन्त्र इस प्रकार का न था। उनकी राजनीति यही थी कि शत्रु के गिरते ही उसे पूरी तरह मिट्टी में मिला डालो तथा उसकी प्रजा का सारा धन छीन लो, उसके नगरों को तहस-नहस कर डालो तथा मनमाने अत्याचार करो!

देवगढ़, वरंगल, कम्पली और विजयनगर के खँडहर ही उनकी करतूतों के सबूत हैं। दक्षिणा पथ लूटने के बाद मलिक काफ़ूर लूट के माल को ३१२ हाथियों पर लादकर ले गया था। वह ९६००० मन सोना, मोतियों तथा हीरे-जवाहरातों के अनगिनत संदूकों तथा बारह हज़ार घोड़ों को लेकर दिल्ली लौटा था।

हिन्दू सैनिक भी मुसलमानों की तुलना में घटिया दरजे के थे। मुसलमानों की फ़ौज में अरब खुरासानी, तुर्क, ईरानी, पठान, हब्शी और भारत के भील आदि जंगली जातियों के लोग शामिल थे। विजयनगर के महाराजाओं ने समझ लिया था कि हमारे सिपाही मुसलमानों की टक्कर के नहीं होते। इसलिए कृष्णदेव राय ने अपनी फ़ौज में मुसलमानों की भरती की थी। उनके लिए शहर में एक अलग मुहल्ला बना दिया था। उनके लिए मसजिदें बनवा दी थीं। यह सब करने पर भी मुसलमान अपने महाराजाओं की मर्यादा नहीं रखते थे। राजा को सलाम तक नहीं करते थे। तब महाराजा अपनी मर्यादा को बनाये रखने के लिए गद्दी पर क़ुरान की एक प्रति रखकर बैठा करते थे, जिससे मुसलमान यह समझें कि वे क़ुरान को सलाम कर रहे हैं, और हिन्दू यह समझें कि सलामी राजा को दी जा रही है। लेकिन ऐसी त्रुटिपूर्ण सैनिक व्यवस्था के बावजूद विजयनगर के राजा किसी प्रकार अपनी स्थिति सँभालते रहे।

'राजवाहन विजयम्' एक तेलुगु काव्य-ग्रंथ है, जो कवि काकमानीम मूर्ति का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ में मुसलमानी बन्दूक़ों और सदाशिव राय के टंकों की चर्चा है। इस आधार पर अनुमान है कि कवि सन् १६००-५० के लगभग हुए होंगे। 'राजवाहन विजयम्' में युद्ध-यात्रा का विस्तार

के साथ वर्णन है। यह अन्य समकालीन कवियों तथा यात्रियों के वर्णन से भी मेल खाता है। इसलिए हम यहाँ पर इस कटु-काव्य से उपयोगी कुछ विषयों के उद्धरण देंगे।

युवराज राजवाहन ने नगर-भर में युद्ध-यात्रा की डौंडी पिटवा दी। सारी सेना शहर के बाहर मैदान में जुट गई। युवराज कारचोबी का चोगा पहने थे। बाजुओं पर सोने के जड़ाऊ कड़े और सिर पर बरसाती टोपी पहन रखी थी। कहार युवराज के लिए पालकी लाये। पालकी के दोनों ओर फुँदनों वाले रेशमी ओहार लगे थे। ढोने के डंडों पर मगर के सिर बने हुए थे। कहारों ने जो रूमाल (साफ़े) बाँध रखे थे, उनके पीछे चुंदी लटकती थी। कमरबंद में वे बित्ते-बित्ते भर की कटारियाँ खोंसे हुए थे। उनके पैरों में चप्पलें थीं। महावत ने राजहस्ती को ला खड़ा किया। साईस एक सजा हुआ घोड़ा ले आया, जिस पर हुरमंजी जीन कसी थी। राजा ने सोने की एक फिरंगी पहन ली। युवराज तुखारी घोड़े पर सवार हुआ। आगे-आगे हाथीदल चल रहा था, पीछे घुड़सवार दल और फिर रथ तथा पैदल। शंख, ढोल, नगाड़ों, हुडुका आदि की ध्वनि से दिशाएँ गूँज उठीं। हाथियों के दाँतों पर लम्बी-लम्बी कटारें बँधी थीं। घुड़सवारों में पठानों की संख्या अधिक थी, जिन्होंने अपनी जुल्फों में तेल लगाकर कंघी कर रखी थी और सिर पर जरीदार चोबी के साफ़े बाँध रखे थे। उनके शरीर पर लम्बे चोगे झूल रहे थे और चोगों पर पेटियाँ कसी हुई थीं। उनके हाथों में रूंदे अर्थात् रूमी तलवार चमक रहे थे। उनकी मूँछों का रंग ताँबे-जैसा था, आँखें सुर्ख़ थीं। पान चबाने के कारण मुँह भी लाल थे। घोड़ों की सफ़-बंदी करके उन्होंने युवराज को सलामी दी। उनके पीछे तुर्रेदार साफ़ों, कमर में खुँसी कटारों तथा छोटे-छोटे भालों से लैस और बाजुओं पर बाज़ बिठाये वेतन-भोगी सरदारों की सेना चली। उनके पीछे सरदारों के साज-सामान लादे टट्टुओं का दल चला। उनके भी पीछे-पीछे घुँघरूदार बसंती जाँघिये पहने, माथे पर नजर-टोने से बचने को काला टीका लगाये, कमरबंद कसे, अधखिची

तलवारों के साथ म्यानें लटकाये पैदल सेना चल रही थी। सबसे पीछे काले रंग की पेटियाँ कसे, रंगीन जाँघिये पहने, चाँदी-मढ़े तीर ताने, पीठ पर तरकस बाँधे, तलवारें खींचे, साफ़ों के साथ मटकते, झूमते, काले शेरों-जैसी कर्नाटकी बेडर-सेना बढ़ रही थी।

प्यादे तीर-कमान सजाये, कलाइयों पर लोहे के कड़े खनखनाते, आवश्यक युद्ध-सामग्री से भरे छोटे-छोटे बोकचे पीठ पर लादे चल रहे थे। उनके पीछे ओंटरी (एकाकी) कहलाने वाले वीर सिपाही कमरबन्दों के बीच तिरछी तलवारें कसे, सिर की चोटियों को इकहरे लत्ते से लपेटे, माथे पर टीका लगाये, चमकते दाँतों पर सोने के फूल जड़े, गले में तावीज़ लटकाये, बढ़ रहे थे। पहुँचाने आई हुई अपनी पत्नियों को सैनिक आतुरता के साथ विदा कर रहे थे। कुछ महिलाएँ साथ चलने की हठ कर रही थीं। मुसलिम सैनिकों का जनाना टट्टुओं पर सवार होकर चला। उनके मुख पर बुरक़े और पैरों में छल्ले थे। बाहर कई कर्णाटकी स्त्रियाँ चाँदी के कड़े बाजुओं में पहने, माथे पर विभूति मले, कुप्पों में दूध-दही-घी भरकर बैलों पर लादे और आप भी उसी पर सवार सेना के साथ-साथ चल पड़ीं। सैनिकों के हाथ दूध-दही बेचने के लिए युवराज की वेश्या भी पहरेदार पालकी में बैठकर रवाना हुई। वह अपनी सहेलियों द्वारा दिये जाने वाले पान-बीड़ों को परदे से बाहर हाथ बढ़ा-बढ़ाकर लिये ले रही थी। परदे से बाहर निकली उन नाज़ुक उँगलियों वाली सुन्दर कलाइयों को देख-देखकर बहुतेरे लोग आपस में यह अन्दाजा लगा-लगाकर चकित रह जाते थे, कि सचमुच वह कितनी सुन्दर होगी। रानी भी एक पालकी में बैठी थी। रानी की पालकी के पीछे-पीछे दो तिलकधारी वैष्णवाचार्य 'राघवाष्टकम्' का पाठ करते चल रहे थे। रानी की सेविकाएँ उन्हें कई "**कालंजी, एडपमु, तालुवृत्तमु, कंडि, कुञ्चे और बिजाम्बरों**" के साथ सेवती चलीं। रानी की रक्षा के लिए रानी का भाई भी उसी पालकी में बैठ गया। दोहे गा-गाकर कथा कहने वाले तिलकधारी कथाकार साथ में ही थे। रनिवास की स्त्रियों की

रक्षा के लिए उनके साथ कुछ रांचा सिपाही रख दिये गए। रास्ते-भर मूँग, ककड़ी, ईख, बाजरे आदि के खेतों में से छीमियाँ, फल, छड़ियाँ, बालें आदि तोड़-तोड़कर खाती, किसानों की खेती तबाह करती सेनाएँ चली जा रही थीं। घोड़ों की टापों से धान की खड़ी फसलें टूट-टूटकर भूसी हो गईं। रथ और हाथियों के चलने से खेतियाँ बरबाद हो गईं। किसान रो रहे थे, सेना बढ़ रही थी। सेनाओं ने शरद् ऋतु में कूच किया था। ओस से बचने के लिए सैनिक नीचे बंदार बिछाकर ऊपर से चद्दर ओढ़कर सिकुड़ जाते थे। सेना के ख़र्च-वर्च का लेखा रखने के लिए करणम् पटवारी भी साथ थे। बहुत सारी वेश्याएँ भी सेना के साथ होकर रसिकों से एक-एक रात के पन्द्रह-पन्द्रह रुके (रुपये) बटोरती चल रही थीं। इस प्रकार युद्ध-यात्रा पर युवराज की सवारी चली।[1]

आगे पंचम आश्वास में जो चर्चा है उससे पता चलता है कि कम्मा जाति तथा वेलमँ जाति के क़िलेदार, पाँच हज़ार अशर्फ़ी पाने वाले पठान फ़ौजदार, माहवार वेतन पाने वाले राची और दैनिक भत्ता पाने वाले एकाकी सिपाही आदि ने युद्ध में भाग लिया। युद्ध-रंग में शत्रु की 'गडल फौज' गड़बड़ा गई। एक ओर बंदूकची दुश्मन पर गोली चला रहे थे। क़िले के फाटकों को तोड़ने के लिए हाथी लगा दिये गए। कुछ सैनिक तीरों की बौछार कर रहे थे। कुछ लोग क़िले की दीवारों के नीचे सुरंग लगाकर क़िले में दरारें डाल रहे थे। कुछ सीढ़ी लगाकर क़िले की दीवारों पर लपक रहे थे। शत्रुओं द्वारा उनमें से कुछ तो गिरा-गिरा दिये जाते थे। शत्रुओं की ढिठाई को देखकर राजवाहन ने एलान किया कि "कल 'सर्वलग्ग' होगा।" (सर्वलग्ग कोई आक्रमण विधि रही होगी।) यह सुनकर शत्रु ने सुलह कर ली।

कम्पलराय के दक्षिण की दिग्विजय-दण्डयात्रा के बारे में भी इसी प्रकार का विवरण मिलता है: वीर कम्पराय ने सवेरे उठकर सेना-नायकों को तैयारी का आदेश दिया। डौंडी पिटवाकर नगर-भर में

१. 'युवराज विजयम्', द्वितीय आश्वास।

इसका एलान किया गया। हाथी-घोड़े आ खड़े हुए। कवचधारी सैनिक कृपाण, फरसे, 'कुन्त' तथा तीर-कमानों से सुसज्जित होकर एकत्र हुए। कूंच की वरदियाँ पहनकर सामन्त, सेनानी समय पर आ उपस्थित हुए। झंडे उठाये गए। पुरोहितों ने पत्रे देखकर कूंच के लिए महूरत बताई अथर्व वेद के मन्त्रों के साथ ब्राह्मणों ने हवन किये। फिर राजा अपने लिये सजाये गए विशेष घोड़े पर सवार हो गए। सेनानी जय-घोष करने लगे। सामन्त राजा के आगे-आगे चले। नगर-नारियों ने छतों पर चढ़-चढ़कर लाजे बिखेरे। सेनाएँ रवाना हुईं। कूंच के पाँचवें-छठे दिन चम्पा राजा की राजधानी 'मुल्वायिनी' पहुँचे। लड़ाई में चम्पा राजा हारकर भाग खड़ा हुआ और राजगम्भीर नामक किले के अन्दर जा छिपा। कम्पराय ने उस किले पर घेरा डाल दिया और तीरों से शत्रु-सेनाओं को नष्ट कर डाला। क़िले के अन्दर से यंत्रों द्वारा फेंके गये बड़े-बड़े दगड (पत्थर) से कम्पराज की सेना की भारी क्षति हुई। अन्त में सीढ़ियाँ लगाकर वे किले में दाखिल हुए। चम्पराय को घेर लिया गया।"[1]

महाराजा विजयनगर के पास लाखों की सेना थी। तालीकोट की लड़ाई में रामराज ने अन्दाजन छः लाख फ़ौज इकट्ठी की थी। विजय-नगर ने सेना पर, विशेषकर घोड़ों पर, बहुत खर्च किया। बहमनी सल्तनत के पाँच टुकड़े हो गए। अहमदनगर, गोलकोंडा, बीदर, बीजापुर और बरार में पाँचों टुकड़ों ने अपनी अलग-अलग हकूमतें क़ायम कर लीं। पाँचों सुलतान विजयनगर के लिए बगल की छुरियाँ बन गए थे। जरा भी मौक़ा मिल जाता तो वे विजयनगर-साम्राज्य का ध्वंस कर छोड़ते। इसीलिए विजयनगर को सैनिक-शक्ति पर इतना ध्यान देना पड़ता था। विजयनगर ने पहले ईरानियों से और फिर पुर्तगालियों से घोड़े खरीदे। अच्छे बड़े घोड़े के लिए ३०० से ६०० डकेट कीमत होती थी। (एक डकेट पाँच रुपये के बराबर होता था।) सम्राट् की सवारी

---

१. 'मदुरा विजयमु', सर्ग ४।

का घोड़ा १,००० डकेट का था। विजयनगर के पास कुल चालीस हज़ार घोड़े थे। पैदल सेना के पास तलवारें और भाले होते थे। सेना की संख्या दस लाख थी।[1]

विन्सेन्ट स्मिथ ने अपने हिन्दू देश के 'ऑक्सफोर्ड इतिहास' में लिखा है—"१५२० ई० में महाराजा कृष्णदेवराय ने रायचूर-युद्ध में ७०३००० पैदल सैनिक, ३२६०० घुड़सवार और ५५६ हाथी लगाये थे। सेना के साथ साईसों, नौकरों-चाकरों और व्यापारियों की भी एक भारी भीड़ थी।" इसी प्रकार पीस नामक विदेशी लेखक ने भी लिखा है कि "कृष्णदेवराय से पहले ही रथों को सेना से हटा दिया गया था। कृष्णदेवराय के समय केवल संख्या-शक्ति ही अधिक थी। फिर भी उसकी सेना मुसलमान योद्धाओं से घबराती थी। राय के अधिकतर सेनानी व्यक्तिगत रूप से शूरवीर तो जरूर थे, किन्तु युद्ध-कला में निकम्मे से ही निकले !"

"द्वन्द्व युद्ध विजयनगर में ही परवान चढ़ा था। ऐसे युद्ध के लिए उन्हें राजा अथवा मन्त्री से आज्ञा लेनी पड़ती थी, जीतने वाले को हारने वाले की जायदाद दिला दी जाती थी।" (उक्त बातें 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' की प्रामाणिकता को सिद्ध करती हैं।)

पीस नामक विदेशी लेखक ने लिखा है कि—"सैनिक रंग-बिरंगी पोशाकें पहनते थे। ये पोशाकें बड़ी कीमती होती थीं। वे अपनी रेशमी ढालों पर सोने के फूल जड़वाया करते थे, बाघ और सिंह की आकृतियाँ उरेहवाया करते थे। ढालें शीशे की तरह चमकती थीं। उनकी तलवारों पर भी सोने का काम होता था। सेनानी तीरंदाज भी थे। उनके धनुषों पर भी सोने का काम होता था। तीरों के छोरों पर पंख लगे रहते थे, कमर में 'दट्टी' (फेंटा) बँधी होती थी, जिसमें कटार, फरसे आदि खुँसे होते थे। भरमार बंदूकचियों का भी एक दल था। भील, कोया आदि

१. Saletore-कृत Social and Political Life in Vijaynagar Empire, दूसरा खण्ड।

जंगली जातियों को भी फौज में भर्ती किया जाता था।" (Salatore)

पैदल सिपाही अपने प्राणों की परवाह नहीं करते थे। वह केवल चड्डी (जाँघिया) पहनते और बदन भर में तेल मलकर मैदान में उतरते थे। यह उपाय वे शत्रु के भिड़ने पर फिसल निकलने के लिए करते थे। युद्ध-रंग में वे 'गरुड़ँ गरुड़ँ' के नारे लगाते थे।

घोड़ों को खूब सजाते थे। उनके सिरों पर सोने-चाँदी की पट्टियाँ बाँधते थे। घुड़सवार रेशमी कपड़े पहनते थे। १००० का हाथी-दल था। हाथियों को चित्र-विचित्र ढंग से रँगा जाता था। प्रत्येक अम्बारी में चार सैनिक बैठा करते थे। बैलों, खच्चरों तथा गधों से बारबरदारी का काम लिया जाता था। (Salatore)

युद्ध के शस्त्रास्त्रों का वर्णन तेलुगु-साहित्य में जगह-जगह मिलता है। कुमार धूर्जटी ने अपने 'कृष्णराज विजयम्' में जैत्र-यात्रा का वर्णन यों दिया है :

"बंदूकें छुटतीं धड़ड़-धड़ड़, गुञ्जित हो-हो उठते दिगंत
अरीती चलती बाणों की बौछार, दूर तक लक्ष्य भेद
सब ओर बिखर जाती; भाले छुटते तुरन्त,
छुटते ईंटे, सुन पड़ती जहीं खड़क, बस जाते वहीं छेद !
हल्ले-पर-हल्ला जो मचता, अरिदल में मच जाती भगदड़,
जो शरण माँगने आ जाता, उस पर करुणा होती वितरित,
इस तरह दुर्ग-पर-दुर्ग, कोट-पर-कोट, विजय-यात्रा में पड़,
आक्रांत हुए, फिर अधिकृत भी हो गए त्वरित !"[1]

विजयनगर में बन्दूकों की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। रायचूर में तीर तैयार होते थे। 'नवनाथ चरित्र' में पृष्ठ ३६ पर रायचूर के तीरों की चर्चा है। वेंकटनाथ ने 'पंचतंत्र' में—"स्वप्न में भी टूट न सकने वाली रायचूर की अमोघ तलवारें" कहा है। इससे पता चलता है कि रायचूर उस समय शस्त्र-निर्माण के लिए प्रसिद्ध था।

१. 'कृष्णराज विजयमु', ३-५।

कहते हैं कि कृष्णदेवराय की सेनाओं को देखकर मुसलमानों ने यों कहा था :

"एक लाख बुन्देलों, एक लाख पंडारियों, एक लाख मुसलमानों आदि को मिलाकर उस नरेश के सैनिकों की संख्या छः लाख है। घोड़ों की गिनती छियासठ हजार है और हाथी दो हजार हैं। सोचो तो सही, लगता है कि जिस राजा के पास ऐसी फौजें हों और जिस पर वेलमं तथा कम्मा जाति की समर्थ प्रजा भी हो, तो या खुदा हम कभी जीत भी सकेंगे।"[1]

कुछ शस्त्रास्त्रों के नाम ऊपर आ चुके हैं। इनके अलावा कुछ और भी नाम मिलते हैं। जैसे, पटेलाग्रोवुलु (गोफन) जबरजंग, फिरंग (तोप), दमासी (बन्दूक) इत्यादि। तीरों के फल तथा पत्थरों का भी प्रयोग होता था।[2] 'दंचना' को कुछ लोग तोप मानते हैं और कुछ ने इसे जंजीरों से बाँधकर पत्थर फेंकने वाला पाषाण-यंत्र कहा है! सम्भवतः 'दंचना' शब्द 'ध्वंसना' से बिगड़कर बना है।[3] सेना के आगे एक सेनानी, उसी प्रकार एक सेनानी पीछे-पीछे भी चला करता था। इस पीछे वाले को "दुमदार दोरा" कहा जाता था।[4]

"....बाल्हीक, पारसीक, शक घट्टा आरट्ट घोटाण।"[5]

उक्त उद्धरण के शब्द घोड़ों की किस्मों पर प्रकाश डालते हैं। 'बाल्हीक' माने बल्ख देश का घोड़ा; 'पारसीक' ईरान का; 'शक' सीथियन, सागदिया, यूनान के उस प्रान्त का, जो ईरान के पश्चिम में है। पर घट्टा कहाँ है? पता नहीं, पर ऐसा श्री वेद वेंकटराय शास्त्री का मत है कि 'टट्टू' शब्द इसीसे बना होगा। आरट्ट पंजाब प्रान्त में

१. 'कृष्णदेवराय विजयम्', ३-२६।
२. वही, ३-२६।
३. 'आमुक्त माल्यदा', २-६।
४. 'मनु चरित्र', ३-५४।
५. 'आमुक्त माल्यदा', ७-२०।

होगा। युद्ध के लिए उपयोगी घोड़े दक्षिण भारत में नहीं होते थे। इसीलिए दूर-दूर से मँगवाये जाते थे। उत्तम घोड़ों के लिए मध्य एशिया के तातार, खुतन या खोतान, खुरासान, ईरान, अरब और अफ़गानिस्तान आदि इलाके तथा सिंध, पंजाब आदि प्रसिद्ध थे। 'अमर कोश' के घोड़े के सभी पर्यायवाची शब्दों की कोई-न-कोई व्युत्पत्ति देने के फेर में 'लिंग-भट्टीयम्' नामक ग्रंथ में बहुत-कुछ खींचातानी की गई है। फिर भी हमारा खयाल है कि 'अमर कोश' के सभी नाम किसी-न-किसी देश के नाम पर लिये गए हैं। अफ़गानों का प्राचीन नाम 'अश्वकान' था। वही आह्वाकान और फिर अफ़गान बना। अश्वकान का अर्थ शब्दार्थ होगा घोड़े रखने वाले। मध्य एशिया के खोतान प्रदेश के घोड़े ही घोटक कहलाये। कृष्णदेवराय ने 'घोटाण' का प्रयोग किया है। यह शब्द भी विचार करने योग्य है। तेलुगू में 'साम्रणि' घोडे का प्रयोग भी है। अर्थात् समारान (ईरान) के घोड़े। खुरासान के घोड़े खुरासानी कहलाते थे। तुर्किस्तान के तुर्की घोड़े की चर्चा बहुत सुनाई पड़ती है। इसके लिए तो अलग पुस्तक ही लिखनी पड़ जायगी।

आंध्रों के अपने जंगी घोड़ों का न होना एक भारी कमी थी। विजयनगर, रेड्डी और वेलमँ राजाओं ने इस अभाव को न पहचाना। इसीसे उन्होंने दाम की परवाह न करके जहाँ से जिस दाम अच्छे घोड़े मिल सके, खरीद लिये। फिर अच्छे सवारों की भी कमी थी। कुछ को छोड़कर साधारण सैनिक अच्छी सवारी करने और घोड़ों पर चढ़कर युद्ध करने में सधे नहीं थे। यह कमी आंध्र सेनाओं में थी ही। इसीलिए अधिकतर मुस्लिम घुड़सवार ही रखे जाते थे। हिन्दू घुड़सवारों को तैयार करने के लिए भी मुसलमान उस्ताद रखे जाते थे।

सैनिकों को कुश्ती, तीरंदाजी, तलवार चलाने और घोड़े की सवारी का अच्छा अभ्यास कराया जाता था। स्वयं कृष्णदेव राय रोज़ सवेरे कुसुम का कटोरा-भर तेल पीता, शरीर पर उसी तेल की मालिश कर-

जाता, कुश्ती लड़ता और फिर घुड़सवारी के लिए निकल पड़ता था।[1]

उस जमाने में स्त्रियाँ भी व्यायाम करतीं और कुश्तियाँ लड़ती थीं। अक्सर मशहूर कुश्तीबाज़ पहलवानिनें निकलती थीं। सन् १४४६ के एक शिला-शासन का अभिलेख है कि 'हरि अक्का' नाम की एक स्त्री के पिता कुश्ती में मारे गए थे। उसने खुद कुश्ती लड़कर अपने पिता को मारने वाले पहलवानों को पछाड़ा था और उन्हें मार डाला था।[2]

इस प्रकार उसने अपने बाप का बदला लिया था। बन्दूक की खोज चल पड़ी थी, फिर भी तलवार और भाले का महत्त्व ही अधिक था। इसलिए लोग व्यायाम तथा कुश्ती के साथ लाठी तथा तलवार चलाने तथा घोड़े की सवारी का अभ्यास करते थे। मुहल्ले-मुहल्ले में पहलवानों के अखाड़े थे, इसे तालीम-खाना कहते थे। व्यायामशाला को तेलुगू में सामु साले [साम्र = व्यायाम, साले = शाला] कहते हैं। व्यायामशाला की जमीन गहरी खोदकर उसमें रेत भरा जाता और फिर उपरले आधे में लाल मिट्टी भर दी जाती थी। उनमें गदा, मुग्दर, संगडी आदि रखे रहते थे। संगडी को उर्दू में सिहतोला [संगतोल] कहा जाता है। एक धुरी के दोनों ओर दो गोल-गोल पत्थर के चक्र लगे होते थे। जट्टी या होंतकार [पहलवान] का नाम भी उसीको मिलता था, जिसने कुश्ती में कुशलता प्राप्त कर ली हो। हमने यह निष्कर्ष 'मनु चरित्र' (५,५६) में आये सूर्यास्त के वर्णन से निकाला है। 'राधामाधवम्' [3] से भी इसीकी पुष्टि होती है। अखाड़ों की आज भी प्रायः यही मर्यादा है। ऐसे वीरों की यादगार में जगह-जगह 'वीर कल्लु' (वीरों के कीर्ति-स्तम्भ) खड़े किये जाते थे, जो आजकल अक्सर गाँवों में पाये जाते हैं।

किसी बड़े काम को शुरू करते समय लोग सगुन देखा करते थे। राजा तो युद्ध-यात्रा में भी सवेरे शहर की सड़कों अथवा बस्ती से बाहर

१. Salatore II

२. वही

३. ३-७६७.

निकलते समय सगुनों पर ध्यान रखते थे। इसे उपश्रुति कहते थे। कटक पर धावा बोलने से पहले कृष्णदेव राय ने एक उपश्रुति विचारी थी। उस दिन सवेरा होने से पहले कोई धोबी घाट पर कपड़ा छाँटते हुए गाता जा रहा था—"कोंडावीडू है हमारा, रोंड़ापल्ली भी हमारी, ना माने कोई तो कटक भी हमारा रे।" कृष्णदेव राय के कानों में इन शब्दों का पड़ना था कि उन्होंने कूच का हुकुम दे दिया। एक साधारण धोबी का यह देशभिमान प्रशंसनीय है।

बीदर नगर में बरीदशाह के ज़माने के किले के अंदर रंगीन महल और चीनी महल नामों के महल भी मौजूद हैं। रंगीन महल सुलतान अलीबरीद ने बनाया था। उस किले के अंदर मिले हुए लोहे के कुछ काँटों को सरकारी पुरातत्त्व-विभाग ने सुरक्षित किया है, और उसे अन्य शस्त्रास्त्र आदि युद्ध-सामग्री के साथ रखा है। इन काँटों को 'गोखरू' कहते हैं। कन्नड़ भाषा में इसे "लगनमुल्लु" [लगन काँटा] कहते हैं। इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों काँटों के साथ दो-दो इंच है। इसे चाहे जिस ओर से ज़मीन पर डाल दें एक काँटा सीधा ऊपर की ओर खड़ा होगा, बाकी तीन ज़मीन पर टिके रहेंगे। कोई पैर रख दे, या कोई भारी चीज़ उस पर आ पड़े, तो नीचे के काँटे ज़मीन में धँसकर और मजबूत बैठ जायँगे। काँटे सूजा के समान मोटे होते थे। जब किसी दुश्मन का हमला होने को हो तो किले के चारों ओर यह गोखरू लाखों की तादाद में बिखेर दिये जाते थे। पैदल, घोड़े, हाथी, चाहे जो भी देखे-परखे विना उधर से निकलने की भूल कर बैठे, उसके पैरों में ये गोखरू धँसे विना नहीं रह सकते थे। यह एक अपूर्व पद्धति थी। ऐसी चीज और कहीं देखने में नहीं आई। तेलुगू साहित्य में इसका नाम-निशान भी नहीं है। बहमनी फ़ौजों में भी इन गोखरुओं का प्रयोग होता था। [गोखरू वास्तव में ज़मीन को पकड़कर, फैलने वाले गोखरू पौधे के काँटेदार फलों के नमूने पर बने थे। तेलुगू में इसे 'पल्लेरु काय' कहते हैं। ऐसा लगता है कि लोहे के गोखरू उत्तर भारत में सैनिक सामग्री के आवश्यक अंग

थे। वहाँ गोखरू को आजकल शायद 'लोहे का सिघाड़ा' कहते हैं। सिघाड़े के काटे भी ऐसे ही होते हैं।—अनु०]

कवि चिन्तलपुडी एल्लनार्य ने अपने 'तारक ब्रह्मराजीयम्' में राजा अच्युत देव राय के गुण गाये हैं। उसमें एक स्थान पर एक शब्द 'गंधासार लेखक' का प्रयोग हुआ है। इसीको 'कन्दासारम्' कहा गया है। असल में यह संस्कृत 'स्कन्धावारम्' का तद्भव रूप है। इन सबके माने हैं—सेना के खर्च का हिसाब-किताब रखने वाला।

सिक्के

चालुक्य और काकतीय काल के सिक्के ही कुछ हेर-फेर के साथ विजयनगर-काल में भी चलते रहे। सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का प्रचलन था। राजाओं के साथ सामन्तों को भी सिक्के ढालने का अधिकार था। जाली सिक्कों अथवा नकली सोने-चाँदी के सिक्कों को परखने के लिए सुनार नौकर रखे जाते थे। 'आमुक्त माल्यदा'[1] के अनुसार 'वच्चु' भी इसी काम के लिए नियुक्त रहते थे।

मिनुकु, कासु, माडा, वीसमु और वरहा उस समय के चालू सिक्के थे। पहले तीन सिक्कों के नाम 'परम योगी विलासम्' में आये हैं, और बाद के दो-तीन सिक्कों के नाम 'आमुक्त माल्यदा' में। जहाँ सिक्के ढलते थे उस स्थान को 'टकसाल' कहा जाता था। वरहा सबसे बड़ा था और वह सोने का होता था। काकतीय-काल में 'वरहा' पर वराह और उसके सामने एक खड़ी तलवार बनी होती थी। यही काकतीयों का राज-चिह्न था। उसीको विजयनगर के राजाओं ने भी अपनाया था। [वराह का चिह्न होने के कारण उसका नाम वराह पड़ गया था। वही बाद में 'वरहा' हो गया।] वराह का ठप्पा सब सिक्कों पर नहीं होता था। विजयनगर के सिक्कों पर हनुमान, गरुड़, नन्दी, हाथी, उमा-महेश्वर, लक्ष्मीनारायण, सीताराम, वेंकटेश, बालकृष्ण, दुर्गा, शंख-

१. ४-२६६।

चक्र आदि चिह्न भी हुआ करते थे।

लोग जिस प्रकार बनिये या महाजन के पास कर्ज लेते थे, उसी प्रकार अपना धन उसके पास अमानत भी रखते थे, जिस पर उन्हें कुछ सूद भी मिल जाता था। उन दिनों बैंक नहीं थे। बनिये ही बैंकों का काम करते थे। इस लेन-देन में अक्सर तकरार हो जाती और मामला पंचायत तक पहुँचता।[1]

'पराशर माधवीयम्' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि विजयनगर के राजा हरिहरि राय ने लगान आदि करों को सिक्के में वसूल करने का आदेश दिया था। अर्थात् उससे पहले लोग जिंसी या भावली रूप में भी करों का भुगतान करते थे।

प्रधान सिक्कों के नाम और उनके मूल्य

सोने के सिक्के—ग्द्याण, वरहा, प्रताप अथवा माडा, पणम्, काटा, हागा।

चाँदी के सिक्के—तारा, चिह्न अथवा चिन्ना।

ताँबे के सिक्के—पणम्, जीतल, कासु इत्यादि।

द्वितीय देवराय के सिक्कों के सम्बन्ध में ईरान के राजदूत अब्दुर्रज्जाक ने सन् १४४३ में जो लिखा था उससे पता चलता है कि—

२ प्रताप = १ वरहा
२ काटी = १ प्रताप
१० पणम = १ प्रताप
६ तारा = १ पणम
३ नाणेम = १ तारा

हुआ करता था।

साधारणतया एक वरहा की तोल ५२ घुमची के बराबर होती थी। जान पड़ता है तेलुगू में जिसे माडॅ कहते थे, उसीको कन्नड़ में

१. 'आमुक्त माल्यदा', ६-६१७।

नागोम कहा जाता था। उसका मूल्य दो रुपये से कुछ कम होता था। चिह्न वरहा का आठवाँ भाग था। अतः उसका मूल्य सात आने के लगभग होता था। 'हागा' का दूसरा नाम 'काकिणी' था, वह 'पणम्' का चौथाई भाग होता था।

राजा तिरुमल राय ने 'रायटंक' चालू किये थे।[1] कवि-सार्वभौम श्रीनाथ को देवराय के दरबार में ही दीनारों से स्नान करवाया गया था। किन्तु सिक्कों के विशेषज्ञों में से किसी ने भी 'दीनारों' अथवा 'रामटंकी' का उल्लेख नहीं किया है।

ऊपर गिनाये हुए सिक्कों में से आन्ध्र में 'माड' ही अधिक प्रचलित था। यह उस समय के साहित्य से सिद्ध होता है। लोग माडों को लोहे या ताँबे के बरतनों में भरकर घर के अन्दर, पिछवाड़े या बाहर खेतों के अन्दर गाड़ रखते थे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी गड़े चले आए धन का पता अपने बच्चों को बताने से पहले ही बूढ़ों का मर जाना और बच्चों का बड़े होकर उनकी खोज में परेशान होना एक परिपाटी-सी थी। फलतः अंजन आँजकर धन के स्थान का पता लगाने वाले मन्त्र-तन्त्रकार पैदा हुए। [अब भी कुछ व्यक्ति ऐसे मन्त्र जानने का दावा करते हैं। वे कहते हैं कि हिमालय के पहाड़ी जिलों में ऐसे व्यक्ति 'धन सूँघ' कहलाते हैं।] भाग्यवश गड़ा हुआ धन प्रायः परायों के हाथ ही पड़ता रहा है। पैसा गाड़कर रखने की आदत गाँव वालों में अब भी पाई जाती है।

शादी-ब्याह में वर-शुल्क [दहेज] और कन्या-शुल्क [जो वधू के माँ-बाप को दिया जाता है,] में माड ही दिये जाते थे। शादियों में सगे-सम्बन्धी आदि भेंट में भी माड ही देते थे। आश्चर्य तो यह है कि आज भी जब कि 'वरहा' का नाम-निशान तक नहीं है और लोग केवल रुपये ही भेंट चढ़ाते हैं, पुरोहित जी महाराज विवाह के चढ़ावे के मन्त्रों के साथ यही कहते जाते हैं कि अमुक व्यक्ति ने वधू को अथवा वर को

१. पंचमुखी का अभिलेख

इतने 'वरहा' [रुपये] भेंट दिये हैं। विजयनगर के सिक्के का ठप्पा इतना बली था कि अब तक लोगों के दिलों पर उस ठप्पे का सिक्का जमा हुआ है।

प्राचीन इतिहास की खोज में पुराने सिक्कों से अत्यधिक सहायता मिलती है। इसके सिवा उससे यह भी मालूम होता है कि उस समय भिन्न-भिन्न धातुओं का मोल क्या था। टकसाल की विधि क्या थी, और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का रूप क्या था। पाश्चात्य जातियाँ प्राचीन सिक्कों को बड़ा महत्त्व देती हैं। पच्छाँह में लोग बड़ी-बड़ी कोशिशों से उन्हें इकट्ठा करते हैं। किन्तु हम हैं कि पुराने सिक्के यदि कहीं मिल भी गये तो उन्हें गला-गलाकर खर्च कर लेते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन सिक्कों की अच्छी जानकारी रखने वाले इतिहासज्ञ विरले ही पाये जाते हैं। आन्ध्र में चालुक्य, काकतीय, रेड्डी तथा विजयनगर राज्य-काल तथा गोलकोण्डा राज्य-काल के सिक्कों को प्रयत्न-पूर्वक एकत्र करके उन पर एक खोजपूर्ण सचित्र ग्रन्थ लिखा जाना जरूरी है।

व्यापार

यह तो हम बता ही चुके हैं कि देश और विदेशों में आन्ध्र का व्यापार काकतीय-काल की अपेक्षा रेड्डी-काल में कहीं अधिक बढ़ गया था। विजयनगर-काल में उसकी और भी बढ़ती हुई। भारतीय कामधेनु तथा कल्पवृक्षों की गाथाएँ यूरोप के कोने-कोने से गूँज उठीं। 'कल्पवृक्ष' को वे पगोडा वृक्ष [Pageda tree] कहते थे। यूरोप वाले ललचाते रहते थे कि वे किसी तरह हिन्दुस्तान आयें और उन कल्पवृक्षों को हिला-डुला कर मनचाही धनराशि जहाजों में भर-भरकर ले जायँ। अपने-अपने देश के धनी-मानियों की सहायता से अनेक साहसी व्यक्ति जहाजी बेड़े ले-लेकर समुद्र में उतर पड़े थे, पर उन्हें यह पता नहीं था कि भारत पहुँचने का समुद्री-मार्ग किधर से है। स्पेन और पुर्तगाल वालों में होड़-सी लग

गई थी कि कौन पहले भारत पहुँचे। स्पेन वाले कोलम्बस के नेतृत्व में भारत की खोज में चलकर अमरीका के तटवर्ती द्वीपमाला में जा पहुँचे, और उसीको उन्होंने हिन्दुस्तान, (इण्डिया) समझ लिया। न जाने उन द्वीपों के पुराने नाम क्या थे। उन नामों का तो कोई अता-पता नहीं, किन्तु स्पेनियों ने वहाँ के निवासियों को रेड इण्डियन [लाल हिन्दुस्तानी] का नाम दे दिया। शायद उन्होंने पहले सुन रखा था कि भारत के लोग काले होते हैं, अतः हिन्दुस्तानी नाम में लाल का विशेषण जोड़कर उन्होंने अपनी भूल सुधार ली। पुर्तगाली वास्कोदिगामा के नेतृत्व में अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत के पश्चमी तट पर उतरे। श्रीकृष्णदेव राय के शासन-काल में ही वे विजयनगर पहुँचे और भारत के साथ व्यापार शुरू कर दिया।

अरब देश रेगिस्तान है। वहाँ के निवासी व्यापार से ही जीविका चला सकते हैं। इसलिए प्राचीन काल से ही अरब लोग भारत के साथ व्यापार करते रहे हैं। हमारे अति निकटवर्ती देश ईरान ने भी अधिकतर हमारे ही साथ व्यापार किया है। हुरमुज के मुहाने के बन्दरगाहों से ईरानी जहाज़ सदा से भारत आते-जाते रहे हैं। वहाँ का मोती प्रसिद्ध था, जिसे भारतवासी हुरमुजी मोती कहा करते थे।

पूर्व में बर्मा, मलाया, इण्डोनेशिया तथा चीन के साथ हमारा व्यापार चल रहा था। विजयनगर का विस्तृत साम्राज्य पूर्वी तट पर कटक से रामेश्वर तक और पश्चमी तट पर गोआ से कन्याकुमारी तक फैला हुआ था। अधिक व्यापार गोवा, कालीकट और मछली पट्टम के बन्दरगाहों से होता था। अब्दुर्रज्जाक ने लिखा है कि—"विजयनगर राज्य में कालीकट के समान बन्दरगाहों की संख्या ३०० तक थी।" वारबोसा लिखता है कि—"हीरे, जवाहर, मोती, मूँगा, जेवरात, घोड़े, हाथी, रेशमी व सूती माल, सुगन्धियाँ, लोहा, चाँदी तथा औषधियाँ आदि वस्तुएँ व्यापार-सामग्री थीं। व्यापार में पूर्णतया न्यायोचित बरताव होता था, इसलिए पुर्तगाली

तथा अरब यहाँ खूब आया करते थे।"[1]

स्वयं कृष्णदेवराय ने अपने 'आमुक्त माल्यदा' में लिखा है—"विदेशों से हमारे बन्दरगाहों पर घोड़े, हाथी, हीरे-जवाहर, मोती और चन्दन आदि आते हैं। उन्हें लाने वाले विदेशी व्यापारियों को हमने सभी सुविधाएँ दी हैं। अकाल-पीड़ित विदेशियों को हमने आदर पूर्वक आश्रय दिया है।" आगे कहा है—"दूर-दूर के देशों से विदेशी व्यापारी हमारे देश में हाथी और बड़े-बड़े घोड़े ले आते हैं। हमें चाहिए कि उनका आदर-सत्कार करें, रहने-सहने के लिए अच्छे मकान दें, बसने-बसाने के लिए गाँव दें, और राज-दरबार में सम्मान दें, ताकि उनके हाथी-घोड़े दुश्मनों के हाथ न लगें।"

कृष्णदेवराय ने इस नीति का अक्षरशः पालन किया। ईरानी राजदूत ने लिखा है कि—"सम्राट् ने उसे अपने दरबार में विशेष सम्मान दिया और बाजारों में भी जहाँ कहीं हमें देखता तो अपने हाथियों को रोककर हमारी खैरियत पूछता और बड़े प्रेम से पेश आता।"

पांड्य के अन्तर्गत ताम्रपर्णी नदी के सम्बन्ध में लिखा है कि उसमें अपूर्व मणि-मोती प्राप्त होते थे।[2] अल्लसानि पेद्दन्ना ने भी लिखा है—"ताम्रपर्णी के सुविस्तृत तट पर मोतियों के ढेर जगमगाते हैं।"[3]

भारत के पूर्वी देश पेगू और मलाका से लाल समुद्र जाने वाले जहाज़ कालीकट के बन्दरगाह पर रुककर माल लादते थे। उन दिनों सारा व्यापार मुसलमानों के हाथों में था, और उनमें भी अधिकतर अरबों के हाथों में। वे पच्छिम में अफ्रीका के निकट मडगास्कर से लेकर पूरब में मलाका तक के सभी बन्दरगाहों में ठहरते और अपना व्यापार चलाते थे।

सीजर फडेरिक ने लिखा है कि गोआ के बन्दरगाह पर अरब से

१. V. S. C. पृ० ३६।

२. 'आमुक्त माल्यदा', ४-२५८।

३. 'मनु चरित्र', ३-८।

घोड़े और मख़मल, मडगास्कर से कपड़े और पुर्तगाल से अरमोलिन का आयात होता था।

'मनु चरित्र' में एक घुड़सवार का वर्णन कुछ यों दिया है— "हुरमुन्जी घोड़ा, उस पर ईरानी चारजामा, बागडोर और पट्टा, पैठन के धनुष-बाण तथा चमकियों से कोरदार तरकस, दायें हाथ में सोने की छुरी अर्थात् सोने का पत्तर चढ़ी हुई छुरी और बायें में ढाल, इसी प्रकार शीराजी छुरी कमर में लगी हुई........" इनमें से धनुष-बाण वाला पैठन हैदराबाद के अन्तर्गत औरंगाबाद जिले में है और शेष सारी वस्तुएँ शीराज़ ईरान की हैं, जो प्रचुर मात्रा में आती थीं। कंची (तमिलनाड) से सोलह हाथ की साड़ियाँ आती थीं, जिन्हें श्री वैष्णव स्त्रियाँ पहनती थीं।[1]

धनियों के घर गहने-जेवर रखने को हाथी-दाँत की पेटियाँ होती थीं जिनमें सोना पिलाया हुआ होता था।[2]

विजयनगर से सूती माल, चावल, लोहा, शकर तथा सुगन्धियों का निर्यात होता था। द्रविड़ देश के पुलिकट बन्दरगाह से मलाका, पेगू, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपों को रंगीन किनारीदार 'कळमकारी' (सूती माल) जाती थी। वसरूर, बारकूर और मंगलूर के बन्दरगाहों से मलाबार, माळदीव, हुरमुन्ज, अदन आदि पश्चिमी देशों को यहाँ का चावल जाता था। भटकळ से लोहे और शकर का निर्यात होता था।

आयात—घोड़े, हाथी, मोती, मूँगे, सीप, ताँबा, पारा, केसर, रेशम और मखमल का आयात विदेशों से होता था। हाथी सिंहल (सीलोन) से और मखमल मक्का से आता था।[3] मक्का से आने के ही कारण शायद इसका नाम मखमल पड़ा। उस समय के 'पल्नाटि वीर चरित्र' आदि तेलुगू साहित्य में मखमल की चर्चा कई जगह पाई जाती है।

---

१. 'कृष्णदेवरायविजयमु', २-२।

२. 'राधाराघवमु', ४-१७२।

३. V.S.C. २२१-२।

व्यापार में मुसलमानों के बाद दूसरे नम्बर पर कोमटी सेठ (बनिया) और मलाबारी थे। चेट्टियों में तमिलनाड के चेट्टी ही अधिक थे। किन्तु इन लोगों ने विदेशी व्यापार में हिस्सा कम ही लिया। ये लोग विजयनगर साम्राज्य के अन्दर-ही-अन्दर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में, और एक जगह से दूसरी जगह माल लाया करते थे।

देश में एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए सड़कें बहुत कम थीं। जो रास्ते थे भी, उन पर बैलगाड़ियाँ तक चल नहीं सकती थीं। व्यापारी अपना माल बैलों, टट्टुओं, गधों, खच्चरों और बहँगियों पर लादा करते थे। इस बात को हमारे साहित्यकारों ने तो लिखा ही है, पीस, बारोसा, अर्मद आदि विदेशी यात्रियों ने भी अपनी आँखों देखी बातें लिख रखी हैं। जब सड़कें न हों और जंगल अधिक हों तब चोर-डाकुओं का अधिक होना भी अवश्यम्भावी था। 'परमयोगीविलासमु' में परकाल नामक एक वैष्णव के जंगलों में घात लगाकर व्यापारियों को लूटकर, बन्दरगाहों पर डाके डालकर देश-भर में लूट-मार मचा रखने की विस्तृत चर्चा है।[1] चोरों के डर के मारे व्यापारी टोली बनाकर चलते थे। पीस ने लिखा है कि "विजयनगर से भटकल तक जाने वाले एक-एक कारवाँ में पाँच-पाँच छः-छः हजार लद्दू बैल एक साथ चलते थे। (लद्दू बैलों को तांडा कहा जाता था।) बीस या तीस पशुओं पर एक आदमी के हिसाब से व्यापारियों के अपने आदमी होते थे।[2]

कुछ लोग उस समय की कीमतों को लिख गए हैं। उनको देखने से पता लगता है कि उस समय सभी चीजें बहुत सस्ती थीं। पीस ने लिखा है—

"विजयनगर-जैसे कपड़े संसार में कहीं भी मिल नहीं सकते। चावल, गेहूँ, दाल, ज्वार, सेम आदि अन्नों की यहाँ इफरात है, और ये

१. 'परमयोगीविलासमु', आश्वास ६-७।
२. V.S.C. पृ० २४४।

बहुत सस्ते हैं। शहर में डेढ़ आने में तीन मुरगियाँ मिलती हैं और देहातों में चार। डेढ़ आने में १२ या १४ कबूतर बिकते हैं। एक पण (सात आने) में अंगूर के तीन गुच्छे देते हैं और दस अनार। एक वरहा देकर शहर में बारह बकरियाँ मोल ली जा सकती हैं और देहातों में पन्द्रह। एक सिपाही अपने एक घोड़े और एक नौकरानी का माहवार खर्चा ४-५ वरहा में चला सकता है।"

गोल मिर्च (काली मिर्च) पर चुङ्गी लगती थी। उन दिनों काली मिर्च पर बहुत मुनाफा था। अभी हमारे देश में दक्षिणी अमेरिका से आज की मिर्च नहीं आई थी। तेलुगू में गोल मिर्च को 'मिरियम' कहते हैं। इसके साथ लाल या काला विशेषण शब्द नहीं है। हरी या लाल मिर्च को 'मिरपकाय' (मिर्च का फल) कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मिर्च के स्थान पर हमारे पूर्वज गोल मिर्च का ही प्रयोग करते थे। गोल मिर्च मलयाल देश अथवा केरल में खूब उगती थी। पूर्वी द्वीपों में भी इसकी इफरात थी। व्यापारी इन दूर-दूर के प्रदेशों से मिर्च मँगवाकर बेचा करते थे। मिर्च पर लगने वाले महसूल से राज्य को भारी आमदनी होती थी।

'नवनाथ'[1] में एक गाथा वर्णित है : "एक बनिया लद्दू लादे रास्ते में चला जा रहा था। रास्ते में चौरंगी मिली। पूछा क्या है? बनिया डर गया कि कहीं चुङ्गी वाला न हो। महसूल से बचने के लिए उसने कहा—ज्वार है। उसे यह देखकर बड़ा पछतावा हुआ कि सचमुच उसकी सारी-की-सारी मिर्च बदलकर ज्वार हो गई थी।"

ऊपर की कथा से जान पड़ता है कि उन दिनों मिर्च पर तो चुङ्गी लगती थी, पर ज्वार पर नहीं।

व्यापारी अपनी गुप्त भाषा बोलते थे। आज भी मद्रास में व्यापारी एक-दूसरे की हथेली पर अँगुलियाँ फेरकर चीजों की कीमत को बतला देते हैं। उस समय एक कोमटी भाषा (व्यापारी भाषा) थी, जिसमें उस

१. पृ० ६६।

समय की कविताएँ भी मिलती हैं। सन् १३३६ ई० में राजा हरिहर राय ने राज्य-कर की वसूली में एक रुपये की जगह ३४ सेर अनाज वसूल करने का आदेश दिया था। इससे पता चलता है कि उस समय अनाज कितना सस्ता था।

'द्विपद परमयोगीविलास'[1] में लिखा है कि "**निकटस्थ बन्दरगाह पर प्रतिदिन जहाज उतरते थे। उनसे हरे कपूर, रेशमी वस्त्र, कस्तूरी, असली सोने, हीरे-जवाहर तथा चन्द्रानन मणियाँ अर्थात् सुन्दर स्त्रियाँ भी लाई जाती थीं। विदेशी व्यापारी माल उतारकर अलग-अलग रख देते और देशी व्यापारी आकर उनको देखते और मोल-भाव करते थे।**"

उस समय के कवियों ने जिन-जिन वस्तुओं के नाम गिनाये हैं, वे सब इसमें भी आये हैं। बल्कि इसमें स्त्रियों के व्यापार की चर्चा और आई है। स्त्रियों के व्यापार के सम्बन्ध में उल्लेख है कि रेड्डी-राज्य में यह व्यापार होता था।

विदेशी व्यापारियों की पोशाक के सम्बन्ध में लिखा है कि उनकी टोपी लम्बी होती थी और फिर उस पर साफा लपेटा जाता था। वे कानों में बड़ी-बड़ी बालियाँ पहनते थे। शरीर पर चोगा होता था और उस पर से एक दुपट्टा या चादर डाल लेते थे। कन्धों पर अश्व-थैली होती थी। अश्व-थैली एक प्रकार की दुहरी थैली होती है, जो कन्धे पर दोनों ओर लटकाई जाती है। लम्बाई में एक ओर बीच में दो बित्ते-भर खुली रहती है। बैलों पर लादने की थैली बड़ी होती है। अनाज लादने की और बड़ी। घोड़े पर सवारी के साथ पीछे यह थैला लादा जा सकता है। सम्भवतः पहले केवल घोड़े पर लादते थे। जहाँ से घोड़ा आया वहीं से यह थैली भी साथ आई होगी; इसीलिए शायद इसका नाम अश्व-थैली पड़ा। ये थैले आज भी देहातों में कहीं-कहीं बनियों के पास दिखाई दे जाते हैं। कन्धे पर लटकने वाले ये थैले यात्रा में सोते समय सिरहाने के तकिये का काम देते थे। ये व्यापारी जिन देशों से आते थे,

१. '**परमयोगीविलासमु**', पृ० ४८६-७।

उनके भी उल्टे-सीधे नाम मिलते हैं। शब्दों की समानता के आधार पर उन विदेशियों के नाम ये हैं—चीन, पेगो, अराकान, लंका, मलाका, अदन इत्यादि।[1]

विजयनगर की जन-संख्या उस समय पाँच लाख के लगभग होगी। कुछ की राय है कि उससे ज्यादा रही होगी। नगर में व्यापार जोरों पर था। उस समय के लेखों के अनुसार व्यापारी हीरे-जवाहरातों को अरहर की-सी ढेरी लगाकर बेचा करते थे। नगर बड़ा वैभवशाली था। उसके निवासी बड़े विलासी थे और उनके लिए विलासिता की उपयुक्त सामग्री बहुतायत से बिकती थी।

परिश्रम अर्थात् उद्योग-धन्धे

इसी सिलसिले में हम यह भी देख लें कि उस समय यहाँ पर जनता की आवश्यकता की कौन-कौन-सी चीजें बनती थीं। साधारणतया सभी शूद्रों के घरों में सूत काता जाता था। बुनकर उस सूत से कपड़ा बुना करते थे। बुनकरों की कई उपजातियाँ थीं। उनके तेलुगू नाम थे : साले, पद्मसाले, पट्टुसाले, अगसाले, बाने, वैजाति सातुल, एतुल कोमरलु इत्यादि।[2] पट्टसाले माने 'रेशम' अर्थात् रेशमी कपड़ा बुनने वाले। 'बाने' का अर्थ 'बनिया' दिया गया है! हो सकता है 'वणिक्' से 'वाने' हुआ हो, 'वाने' से 'बाने' बन गया हो। 'वैजाति' को रेड्डी-अध्याय में वैश्य मान लिया है। 'सातु' माने सन के बोरे बनाने वाले। 'एतुलु' माने चटाई बुनने वाले (बुनने की कोई भी चीज क्यों न हो, उसके बुनने वाले को 'साले' अथवा बुनकर कहते थे तथा उनमें वैश्यों की जातियाँ भी शामिल थीं।)।

विजयनगर के बाजारों में गुलाब की भरमार थी। लोगों को सुगन्धि बहुत भाती थी। कस्तूरी, केसर आदि को पीसकर चन्दन के साथ लेप लेते थे। कृष्णदेव राय के 'आमुक्त माल्यदा' के अनुसार केवल

१. 'परमयोगीविलासमु', पृ० ४८८।

२. 'आमुक्त माल्यदा', ४-३५।

आन्ध्र के अन्दर ही ऐसे लोग पाये जाते थे, जिनका पेशा फूल-मालाएँ गूँथना और बुक्का-अबीर आदि सुगन्धियाँ तैयार करना था। जिस नगर में वेश्याओं के घर हज़ारों की संख्या में हों, वहाँ सुगन्धियों की कमी कैसे हो सकती है? बुक्का, गुलाल आदि के साथ पन्नीर (गुलाब जल) भी चमड़े की मशकों में भर-भरकर बिकता था।

आन्ध्र देश आदिकाल से हीरों की खान के लिए प्रसिद्ध था। गुत्ती जंक्शन से बीस मील की दूरी पर एक गाँव 'वज्र करूर' है; जो अंग्रेजों के आगमन तक हीरों के लिए मशहूर था। गुत्ती का क़िलेदार वज्र करूर के हीरे ले-लेकर सम्राटों के पास भेजा करता था। उस समय के यात्रियों के कथनानुसार देश के अन्दर हीरों की ऐसी तीन-चार खानें और भी थीं।[1]

सुनार, लुहार, बढ़ई, कसार, राजगीर आदि की वृत्तियाँ खूब चलती थीं। इन्हें पांचाणों के नामों से याद किया जाता था। पांचाण माने शिल्पकार। आज भी कहीं-कहीं देहातों में लोहार, बढ़ई आदि को पांचाणी कहा जाता है।[2]

जहाँ साधारणतया १० लाख की सेना रहती हो और ज़रूरत पड़ने पर २० लाख सिपाहियों को इकट्ठा किया जाता रहा हो, उस विजयनगर राज्य में लुहारों को काम की कमी कैसे हो सकती थी? उन दिनों के लुहार अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों के अच्छे कारीगर थे। राजा-महाराजा, सरदार और महाजन लोग मन्दिर, धर्मशाला और किले आदि खूब बनवाया करते थे। इसलिए राजगीरों को काम की कमी नहीं थी।

कपड़ों पर देशी रंग चढ़ाया जाता था। विशेषकर नील का प्रयोग अधिक होता था। मजीठ, इंगलीक और हर्रे आदि से विविध रंग तैयार किये जाते थे।[3]

---

१. V.S.C., पृष्ठ २१८।

२. 'परमयोगीविलासमु', पृ० ५२३।

३. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१०।

जन-साधारण का जीवन

विजयनगर राज्य में आन्ध्रों का बोल-बाला था। आन्ध्र देश धन-दौलत से मालामाल था। आन्ध्रों ने अपने उत्साह और कला-प्रियता के कारण देश-विदेश में नाम कमाया। आन्ध्र के लिए वह एक प्रबन्ध-युग था, जिसमें अच्छाइयों के साथ बुराइयाँ भी सम्मिलित थीं। सुन्दर वस्तु-निर्माण, मनोहर चित्र-लेखन तथा अन्य कलाएँ देश-भर में फली-फूलीं। धनिक वर्ग के बीच विलासप्रियता ने इसी युग में सिर उठाया। विजय-नगर एक मनोहर नगर बन गया। विजयनगर की उसी उन्नति के भीतर भावी पतन के लक्षण विद्यमान थे। लोगों के घर-द्वार, उनकी वेश-भूषा उनके बनाव-शृंगारों और उनके आचार-विचारों के सम्बन्ध में हमें अच्छी जानकारी मिल गई है। अब हम राजाओं और सरदारों के रहन-सहन और उनके जीवन-विधान के सम्बन्ध में भी जानने की कोशिश करेंगे।

सज-धज और ठाट-बाट से रहना उन्हें अधिक पसन्द था। वे पन्नीर (गुलाब जल) में चन्दन और कस्तूरी मिलाकर शरीर में लेप किया करते थे। सिर पर ऊँची-ऊँची तुर्रेदार टोपी पहना करते थे। कानों में बड़ी-बड़ी बालियाँ और गले में मोतियों के हार धारण करते थे। सुर्ख किनारीदार धोतियाँ पहन-ओढ़कर हाथों में सोने की मूठ वाली तलवारें धरते थे। पीछे-पीछे दासियाँ हाथों में चाँदी के पान-दान लिये चलती थीं। जब राजा साहब विनोद के लिए वेश्या के घर की ओर चलते, तब इस प्रकार सज-धज कर चलते थे।[1]

राजमहलों के भीतर मोर भी पाले जाते थे। आराम से सोने वाले राजा साहब दिन में देर से ही जागा करते थे। फिर शरीर पर खुशबू-दार फूलों से तैयार किये हुए गंधराज की मालिश करवाते और गरम पानी से देर तक नहाते थे। तब सफेद धुली धोती पहनकर अनेक प्रकार के कीमती हारों और मालाओं से सुसज्जित होकर वे खाने पर बैठते

१. 'आमुक्त माल्यदा', २-७५।

थे। बारीक चावल, शिकार से लाई गई जंगली चिड़ियों और मक्खन से तैयार गाय के ताजे घी का ब्यालू होता था। भोजन के बाद मुख में कस्तूरी, ताम्बूल डालकर वे जीने द्वारा कोठे पर पहुँचते थे, जहाँ छोटे-छोटे पहियेदार कुण्डों में अगुरु धूम की सुगन्धियाँ होती थीं। उन्हें सूँघते हुए वे अन्तःपुर की सुन्दरियों के साथ आनन्द करते थे।[1]

पान की महत्ता बहुत गाई गई है। राजे-महाराजे और धनी-मानी व्यक्तियों का पान सदा सुपारी, सोंठ, हरे कपूर, कस्तूरी आदि बहुमूल्य पदार्थों से भरा होता था।

अब्दुर्रज़ाक ने आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा है कि : **"पान का सेवन सभी श्रेणी के लोग करते हैं और पान भी बड़ा ही उत्तेजक हुआ करता है। शायद इसी कारण महाराजा अपनी दो सौ से अधिक पत्नियों के अलावा अनेक उपपत्नियों के साथ भी विषय-भोग करते हैं।"**

सोने-चाँदी के सुन्दर पानदानों के ऊपर सोने की बारीक पच्चीकारी भी होती थी। उसे जाल-मल्लिका कहते थे।[2] धनी लोग स्नान के समय शरीर पर मलने के लिए हल्दी, आँवले तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों के साथ तैयार किये हुए विशेष प्रकार के आटे का उपयोग करते थे। इसके लिए मूँग और चने का बेसन काम में लाया जाता था। यह स्त्रियों के लिए होता था। पुरुषों के लिए उसमें चन्दन का चूर्ण भी मिलाया जाता था।[3] स्नान के बाद स्त्रियाँ बालों को अगुरु धूम से सुखाती थीं और फिर उनमें जव्वाजी मलती थीं।[4] स्त्रियाँ नाखूनों पर लाख (रंग) चढ़ाती थीं।

मांसाहारी विलासी पुरुष गर्मियों में भी आम की कैरी के साथ तेल में तली मछली की बोटियाँ दिन के समय जो खाकर सो रहते थे,

१. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१३५।
२. 'पारिजातापहरण', २-२०।
३. वही, ५-५६।
४. 'राधामाधवीयम्', ४-१६३-६८।

तो शाम को उठते थे और उठकर गीले बालू के नीचे दाबकर रखे हुए नारियल को निकालकर उसका पानी पीते थे। इस प्रकार मछली की दुर्गंध को दूर करने के बाद बाहर निकलते थे। जान पड़ता है कि कृष्ण-देवराय ने यह अपने ही अनुभव का वर्णन किया है।[१]

ब्राह्मणों को वैभवानन्द की कोई कमी न थी। ब्राह्मणों की भोजन-प्रियता तो प्रसिद्ध है ही। गर्मियों में वे केला, कटहल, खीरा, मीठे आम, अंगूर, अनार, भीगी हुई मूँग की दाल और शरबत लिया करते थे।[२]

यामुनाचार्य के सम्बन्ध में लिखा है कि 'मुलचिंता' का साग उन्हें अधिक प्रिय था। उसे मस्तिष्क के लिए अच्छा माना जाता था।[३]

राजाओं और उनके सम्बन्धियों में शिकार का खूब शौक था। सधे हुए चीते छोड़कर वे हिरनों का शिकार करते थे।[४]

शिकारी कुत्ते भी रखते थे। वर्षा होने पर उन कुत्तों को जंगल में ले जाते और जहाँ कहीं हिरनों का झुण्ड देखते, उसे कुत्तों को चारों ओर से छोड़कर घेर लेते थे। जब हिरन भाग-भागकर थक जाते और कीचड़ में भागने की शक्ति उनमें नहीं रह जाती और वे कीचड़ में फँस जाते, तब कुत्ते उन्हें धर दबोचते।[५] कवि पेद्दना ने तो बताया है कि ऐसा शिकार हिमालय पर्वत पर होता था। पर यह कैसे सम्भव है? हिमालय पर्वत पर चिकनी काली मिट्टी थोड़े ही है कि हिरन उसमें फँस जायँ? वास्तव में कडपा, कर्नूल और बल्लारी प्रान्तों की मिट्टी काली और चिकनी है और वहाँ आज भी बरसात में हिरन का शिकार किया जाता है।

१. 'आमुक्त माल्यदा', २-६८।
२. वही, २-८३।
३. वही, ४-१९५। 'परमयोगीविलासमु', पृ० ५८१।
४. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१९३।
५. 'मनु चरित्र', ४-२०।

भील जाति

कडपा प्रान्त के उन इलाक़ों में, जिन्हें मिट्टी के लाल या काली होने के कारण एर्रामला (लाल जंगल) और नल्लमला (काला जंगल) कहते हैं, जंगली भील बसते हैं। उनका गुज़ारा प्रायः शिकार पर ही होता है। उनके सम्बन्ध में इर्मति ने अपने काव्य 'हस्ती-शतक' में बहुत-कुछ लिखा है।

पोत्ता पिनाडु और उड्डमूरु की बस्तियों में पहले भील बसते थे। ये दोनों गाँव अब भी मौजूद हैं। पहला गाँव आजकल कडपा जिले की राजमपट तहसील में है। उड्डमूरु आजकल 'उड्डमूल पाड' कहलाता है। भील उन दिनों लंगोटी के बदले कमर में बड़े-बड़े पत्ते बाँध लेते थे, यही उनकी पोशाक थी। आज भी कोया आदि जंगली जातियों के स्त्री-पुरुष दोनों ही प्रतिदिन सवेरे लम्बे-चौड़े पत्ते तोड़कर करधनी से आगे और पीछे एक-एक पत्ता बाँध लेते हैं। स्त्रियाँ फूल-पत्तों की मालाएँ बड़े प्रेम से पहनती थीं। बदनज़र से बचने के विचार से वे सींगदार जानवरों के सिर एक डंडे से बाँधकर खेतों में गाड़ रखते थे। वे जंगल के फल, कंद-मूल, शहद, चिरौंजी आदि खाया करते थे। स्त्रियाँ अपने भूरे बालों में मोर-पंख सजा लेती थीं। भीलों के लिए तीर-कमान ही खास हथियार थे। वे अपने तीरों से जंगली जानवरों का शिकार करके उनका माँस खाते थे। आम, जामुन, कुंदरू, करौंदा, बेर, तेंदू, मोहा, गूलर, ककीट, तरोई, कोम्मी, गोंजी आदि फल उनके आहार थे।[1]

जंगलों में रहने वाले ये भील और कोया नाम के लिए तो अड़ौस-पड़ौस के किसी-न-किसी राजा के अधीन समझे जाते थे, पर वास्तव में वे एकदम स्वतन्त्र होते थे। वे बड़े सच्चे होते थे। "जब वे किसी को अभयदान करते हैं, तो उसे एक तीर या सूत का टुकड़ा निशानी के रूप में दे डालते हैं, जिसे दिखाने पर जंगल के दूसरे लोग चोर आदि उसे

---

१. 'श्री कालहस्तीश्वर माहात्म्य', अ० ३, प० १-१३०।

नहीं छोड़ते ।[१]" "अगर इन पर्वतीयों को दोस्त बनाकर न रखें तो ये बड़े दुखदायी सिद्ध होते हैं। प्रजा को तरह-तरह से सताया करते हैं। इसलिए उन्हें अपनी सेना में भर्ती कर लेना ही उचित है। अविश्वास हो अथवा विश्वास, नाराजी से या खुशी से कड़ी दुश्मनी या गाढ़ी दोस्ती अल्पों में सहज ही हो जाती है।"[२] भील आदि को एक बार दूध भी पिला दो तो वे उसे सदा याद रखेंगे। किन्तु यदि तनिक भी सन्देह हो जाय तो वे जीता नहीं छोड़ते।"[३]

तेलुगु साहित्य में इस तथ्य का जगह-जगह वर्णन है कि शिकार की बात आने पर जंगली जातियाँ राजा के पास जाकर जंगली बिल्लियाँ (पुनगपिल्ली), बारहसिंघे, हाथीदाँत, बघनखे, हिरन की खाल, चिरौंजी, काजू, शहद आदि भेंट दिया करती थीं। इससे बढ़कर वे और क्या कर सकते हैं ? हमारी बगल में ही अनादि काल से रहने-सहने वाले और हमारी ही भाषा को भद्दे भोंडू रूप में बोलने वाले गोंडों, भीलों, कोया आदि पर्वतीयों के जीवन-विधान तथा उनके इतिहास को जानने और उनका सुधार करने की प्रवृत्ति हम लोगों के अन्दर आज तक जाग्रत नहीं हो पाई है। पाश्चात्यों ने तो उनके सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिख डाले। हाल की ही बात है कि ह्यूमन ड्राफ नामक एक जर्मन नागरिक हैदराबाद राज्य के जंगलात-विभाग में नौकर हुआ और उसने भीलों तथा गोदावरी-तटवर्ती बिसन कोंडा पहाड़ी की रेड्डी-नामधारी जंगली जातियों के सम्बन्ध में कई पुस्तकें लिख डालीं और हमारा यह हाल है कि हमारे यहाँ कोई उन्हें पढ़ने वाला भी नहीं ! तेलुगू भाषा न जानने के कारण उस जर्मन ने कई जगह भूलें की हैं। भीलों के सम्बन्ध में लिखने के वास्तविक अधिकारी तेलुगू ही हो सकते हैं। हमारे भीलों के खेल-कूद, नाच-गाने, आचार-विचार, वेश-भूषा, रहन-सहन,

१. वेदम् की व्याख्या।
२. 'आमुक्तमाल्यदा', कृष्णदेव राय।
३. वेदम् की व्याख्या, 'आमुक्तमाल्यदा', ४-२२३।

रूप-सिंगार, उद्योग-धन्धों, उनकी औषधियों, मन्त्र-तन्त्र, उनकी धनुर्विद्या, तीर-कमान और छुरी-कटार, उनके खान-पान, उनकी झोंपड़ियों, उनके विश्वासों तथा उनके देवताओं आदि के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछेक शिक्षित युवकों का आगे बढ़ना और मेहनत करना जरूरी है।

सरदारों के घरों में छपर-पलंग होते थे जिनमें तोतों, हंसों और बेल-बूटों की बारीक खुदाई का काम होता था। पलंग पर मच्छरदानी भी लगी रहती थी। दरवाजों पर दरबान, पहरेदार और चौकीदार रहते थे। सिपाहियों के बड़े जमादार को 'नकीब' कहा करते थे। यह फ़ारसी शब्द है। राजा जब कभी (दौरे या शिकार पर) उनके गाँव की ओर जाता, तब वे राजा का सम्मान करने बहुत दूर तक जाते और दूल्हे के समान स्वागत करके उसे ले आते थे। दिन के समय भी मशालों के जलूस और गाजे-बाजे के साथ उसका ग्राम-प्रवेश कराते थे।

विजयनगर के महाराजाओं को अपने और राज्य के सब खर्च के बाद सालाना एक करोड़ 'माडा' (सोने के सिक्के) की बचत हो जाती थी। मंत्रियों, सामंतों और सरदारों को भी वेतनों की जागीरों से सालाना पन्द्रह हजार से ग्यारह लाख माडा तक की आमदनी होती थी, जिसमें से एक तिहाई को राज्य के देय के रूप में चुकाकर बाकी दो तिहाई में वे अपना और अपनी फौज का खर्च चलाते थे। उन्हें निश्चित संख्या में सेना रखनी पड़ती थी, और जरूरत पर अपनी सेना को सरकारी सेनाओं के साथ युद्ध-भूमि में उतारना पड़ता था। परन्तु ये सरदार उस निश्चित संख्या में सेना तो प्रायः नहीं ही रखते थे। इसके बदले वे ऐसा बंदोबस्त रखते थे कि गाँव वाले बुलावा होते ही सिपाही बनकर हाज़िर हो जायँ। इस तरह खर्च बचाकर और आमदनी बढ़ाकर वे मनमाना खर्च करते थे।[1]

विजयनगर शहर का घेरा लगभग ६० मील का था। राजमहल के

१. V. S. C., पृष्ठ १२६।

अन्दर अनेक भवन बने हुए थे। बड़े-बड़े दालान और बड़े-बड़े फाटक बने हुए थे। शहर के अन्दर बड़े-बड़े मैदान भी थे। जगह-जगह पानी की कृत्रिम झीलें थीं। मंत्रियों और मण्डलाधीशों ने भी अपने लिए उसी प्रकार के भवन बनवा रखे थे। महाराजा के महल के आस-पास ही सामन्तों के भी बड़े-बड़े भवन पाँतों-पाँत खड़े थे। सभी भवन सुन्दर सजे थे, और इस कारण आँखों को आकृष्ट करते थे। विरूपाक्ष मन्दिर के सामने वाली विशाल सड़क और उसके दोनों ओर भवनों की सुन्दर कतार देखते ही बनती थी। नागुलपेट (होसपेट=नई बस्ती) के अन्दर मकान एक मंजिले, किन्तु विशाल और सुन्दर बने थे।[1]

सामन्तों तथा सरदारों की पोशाक के बारे में बारबोस नामक यूरोपीय यात्री ने इस प्रकार लिखा है :

"वे कमर में कमरबंद बाँधते हैं। उनके अँगरखे कोई बहुत लम्बे नहीं होते। कुछ छोटे और बारीक सूत या रेशम के होते हैं। इन अँगरखों को सामने की ओर से खोला और बाँधा जा सकता है। (अर्थात् उनमें बंद लगे होते थे।) बैठते समय अँगरखे के पल्लों को रानों के बीच दबाकर बैठते हैं। सामन्त-सरदारों के साफे छोटे-छोटे होते हैं। कुछ रेशमी तथा कारचोबी की टोपी भी पहना करते हैं। पैरों में चप्पलें या जूते पहनते हैं। कंधों पर भारी-सी चादर पड़ी रहती है। उनकी स्त्रियाँ बारीक मलमल या रंगीन रेशम की साड़ियाँ पहनती हैं, जो पांच गज लम्बी होती हैं। वे रेशमी तथा कारचोबी जूतियाँ भी पहनती हैं।"[2]

नूनिज नामक एक विदेशी ने विजयनगर के महाराजाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि वे गौरैया, बिल्ली, चूहा और छिपकली भी खा जाया करते थे। हमारे देश के अन्दर आज भी परम नीच चांडाल कहलाने वाले तक बिल्ली-छिपकली नहीं खाते। उन सम्राटों को स्वादिष्ट भोजनों की कौन कमी थी, जो इस प्रकार की असह्य वस्तुओं के लिए लार टप-

१. V. S. C., पृष्ठ २२६।

२. वही, पृष्ठ २२७।

काते? यह सफेद झूठ है। पाश्चात्यों ने जान-बूझकर या अनजाने ही ऐसी अनेक उलटी-सीधी बातें लिख छोड़ी हैं। 'बीसन्ना वेदम' के समान काक-भाषा को काक ही समझे।

अब जन-साधारण के जीवन-विधान पर ध्यान दें। राजाओं के बाद समाज में रेड्डियों का विशेष स्थान था। कोंडा वीडु राजा के साथ अपनी बेटी ब्याहने के बाद भी कृष्णदेवराय और रेड्डी राजाओं में कभी नहीं बनी। आये दिन लड़ाइयाँ चलती रहीं। निदान, रेड्डी-राज्य का पतन हो गया। विजयनगर साम्राज्य के अन्दर रेड्डी लोग गाँव के मुकद्दम-मुखियों की हैसियत से रहकर, सेना में भरती होकर अथवा खेत जोतकर गुज़ारा करते रहे। राजा कृष्णदेवराय ऊँचे दरजे का कवि भी था। उसने इन रेड्डियों की बार-बार हँसी उड़ाई है—(भावार्थ) **"अंटी की इकन्नी को आठ बार खोलने और बाँधने में अलसाते न रेड्डी हैं।"** अर्थात् रेड्डियों की दशा इतनी गई-गुज़री थी कि कहीं से इकन्नी का सिक्का पा जाते तो बारह गाँठों में बाँधकर रखते थे! ज़रूरत पड़ने पर भी बार-बार खोलते तो थे, पर खरचने की हिम्मत नहीं कर पाते थे या न चाहने पर भी खर्च करना पड़ जाता था। गरीबों के लिए तो एक आना ही भारी खज़ाना है। रेड्डी लोग अपने खेतों में मचान डालकर दिन-भर चिड़ियाँ हुशकाते और रात-भर चोरों से खेती की रखवाली करते थे। रेड्डी, स्त्रियाँ सावन-भादों की झड़ी में भी सिर पर गटका के मटके डलिया में रखे और उन पर से सरपत का छाता ओढ़े खेतों के रखवाले पतियों को खिलाने जातीं। रखवाले को ज्वार-बाजरे के हरे भुट्टे खाने को खूब मिलते थे। कृष्णदेवराय ने वर्षा में रेड्डियों की दशा को इस प्रकार बखाना है:

"गुनुग, चंचली, तुम्मी, तगिरिसॅ : मेड़ों की बरसाती साग,
या इमली के टूँसे को ही खूब तेल में छौंक-बघार
ज्वार-बाजरे के दलिये सँग खाकर लेते हुए डकार
चलते हैं खेतों को रेड्डी, गायें-बछड़े लेते चाट

उनमें अंगों को। ऐसी सरदी में गरमाने को खाट,
तले अनन्य मित्र बकरी की मेंगनी की अँगीठी डाल
तान लगाते हैं...................................।"[1]

इस पद्य का तात्पर्य यह है कि सावन में घास-पात तो उगती ही है; रेड्डी सब तरह के सागों की कुट्टी-सानी बनाकर खिचड़ी-साग तैयार करते थे और तेल, नमक, मिर्च आदि डालकर उसे पकाते और खाते थे। किसान होने के कारण उनकी गायें-भैंसें और बकरे भी होते ही थे, धान के खेतों में वे खाट पर पड़कर कौड़ा तापते थे।

समय की गति देखिये, जिनके सम्बन्ध में सम्राट् कृष्णदेवराय ने ऐसे उद्गार प्रकट किये, एक सौ वर्ष के बाद उन्हीं रेड्डी प्रभुओं के बारे में तंजावर के रघुनाथ राम ने यों लिखा है :

"भोजन कर कर्पूरी भोग सुगन्धित चावल,
कंधे पर लम्बी-चौड़ी-सी उमदा चादर
और उँगलियों में सोने की नग-अंगूठियाँ
ऐंठे बैठे रेड्डी प्रभु कचहरी लगाकर !"[2]

रेड्डी लोग ग्रामाधिकारी होते थे। चोरों को पकड़कर उन्हें दण्ड देना, झगड़े चुकाना, गाँव की रक्षा करना आदि उनके कर्त्तव्यों में से थे।[3]

इस सन्दर्भ में कृष्णदेवराय ने रेड्डी शब्द के कई पर्यायों का प्रयोग किया है। राष्ट्रकूट, रट्टकूडि, रट्टडि रेड्डी आदि सभी एक ही शब्द के बदले हुए रूप हैं। सन् १६५० ई० के बाद से 'रेड्डी' शब्द ही सुस्थिर हो गया। तेनाली रामकृष्ण तथा चेमकर वेंकटपति की कविताओं से भी इसकी पुष्टि होती है।

रेड्डियों ने खेती को अपना जात-पेशा बना लिया। आन्ध्र देश के

१. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१३४।
२. 'रघुनाथ रामायण'।
३. 'आमुक्तमाल्यदा', ७-१९।

अन्दर उनकी अच्छी साख थी। पेटा मैलार रेड्डी बहुत प्रसिद्ध था। बहुत-से रेड्डी आन्ध्र से बाहर दूर-दूर के प्रान्तों में भी जा बसे थे। आज भी कितने ही रेड्डी तिरुचनापल्ली, कोयम्बतूर, सेलम आदि में बसे हुए हैं।[१]

कृष्णदेवराय और रेड्डी राजाओं के बीच शत्रुता किस सीमा तक पहुँच गई थी, इसी सम्बन्ध में एक गाथा सुनने योग्य है। कृष्णदेवराय की ओर से रामभास्कर नामक एक ब्राह्मण कोंडावीडु पहुँचा। वहाँ पर उसने भगवान् गोपीनाथ के पुराने मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया। फिर राजा और उसके सम्बन्धियों को देव-दर्शन के बहाने मन्दिर पर बुलाया तथा मन्दिर के भीतरी भाग में ले जाकर एक-एक करके उन सभी को कत्ल करवा डाला (सम्भवतः कृष्णदेव राय के गुप्तचरों द्वारा)। उसके बाद कृष्णदेव राय ने कोंडावीडु पर चढ़ाई कर दी और उसे हस्तगत कर लिया।[२] कुछ और आन्ध्रों ने भी इस घटना की पुष्टि की है। फिर भी इसकी सत्यता पर विश्वास कम ही होता है।

उस समय की खेती-बाड़ी के सम्बन्ध में बरबोसा ने लिखा है—"**कन्नड़ देश में धान की खेती होती है। बुवाई लम्बी-सी बाँसी चलाकर करते हैं। सूखी जमीन में ही बीज बिखेर देते हैं।**" एक सौ वर्ष पूर्व 'सर टॉम्स रो' नामक अंग्रेज ने रायल सीमा के तालाबों (बाँध) के बारे में कहा है—"**इस प्रान्त में नये तालाबों के निर्माण का प्रयास करना व्यर्थ है। पूर्वजों ने प्रत्येक सुविधाजनक स्थान पर बाँध बाँध रखे हैं। कड़पा जिले की एक तहसील के अन्दर ३५७४ तालाब बने हुए हैं।**[३]" विजयनगर के सम्राटों ने भी अनगिनत तालाब बनवाये और इस प्रकार किसानों को प्रसन्न करके देश में अन्न की समृद्धि कर दी। कृष्णदेवराय की यह सुनिश्चित नीति थी। उन्होंने स्वयं लिखा है—"**छोटी-छोटी**

१. Salatore II, पृ० ३७।

२. वही, पृ० १३३-४।

३. V.S.C., पृ० १६।

जगहों (इलाकों) पर भी तालाब और नहरें खुदवाने तथा किसानों को कम लगान पर जमीन देने से उन्हें सुविधा होगी और वे उन्नति करेंगे। उनकी उन्नति से राज-कोष भी भरेगा और वे राजा को धर्मात्मा कहकर याद करेंगे।"[1] नूनिज नामक एक समकालीन व्यक्ति ने लिखा है कि "नागुलापुर (होसपेट) में कृष्णदेवराय ने एक बड़े तालाब का निर्माण करवाया। उसके पानी से धान के खेतों और बागों की सिंचाई होती थी। किसानों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए राजा ने लगातार आरम्भ के नौ बरसों तक उन जमीनों से कोई लगान नहीं लिया। उसके बाद जो बीस हजार पाउँ की वसूली हुई, उससे उसके एक मंडलाधीश कोंडमा राजु ने उदयगिरि में अनन्त सागर के नाम से एक दूसरा तालाब बनवाया।"[2]

कृष्णदेव राय ने किसानों को अनेक सुविधाएँ दे रखी थीं, पर उनके सरदारों ने अधिक लगान वसूल करके किसानों को खूब तंग किया। परिणामस्वरूप बहुत-से किसान अपने गाँव छोड़-छोड़कर ऐसी जगह चले जाते थे जहाँ लगान का भार कम हो। उत्तर सरकार में लोगों पर लगे हुए ३३ प्रकार के करों में से केवल एक कर विजयनगर की केन्द्रीय सरकार को पहुँचता था। बाकी ३२ कर देव-स्थान वाले हज़म कर जाते थे। कृष्णदेव राय ने ब्रह्माराय, देवाराय और भूम्याराय नाम के कई करों को रद्द कर दिया। चिदम्बरम् के किसानों ने अधिक लगान के विरुद्ध हाय-तोबा मचाई तो वहाँ के मंडलाधीश ने लगान घटा दिया था। एक और स्थान के किसान झुण्ड-के-झुण्ड कृष्णदेवराय के पास पहुँचे। राय ने उनकी प्रार्थना सुनी और उनका लगान कम कर दिया।[3]

देश-भर में हर कहीं काँजी हौस थे। इसे बंदेल दोड्डी कहते हैं।

१. 'आमुक्तमाल्यदा', ४-७३६।
२. V.S.C., पृ० २१७।
३. V.S.C., पृ० २२८।

दूसरों के पशु खेत चरें तो उन्हें घेरकर इस दोड्डी या बाड़े में बन्द कर दिया जाता था।[1]

रेड्डी की पोशाक एक कवि के शब्दों में सुनिए :

"सिर पर गोल बसंती पगिया,
मोटी-सी चादर से उभरी मोटी गरदन,
छोटी-सी दाढ़ी है, मूँछें तावदार हैं,
देवदार का डण्डा, हाथों में अरिमर्दन,
और उँगलियों में बाँकी अँगूठियाँ पहने,
चला जा रहा है रेड्डी......"

यही कवि एक कापु के बारे में लिखते हैं :

"काँधे पड़ी लकुटिया, जिससे लटक रहा है पधा पीठ पर
सिर पर पड़ी हुई है चुन्नट—बँधी गाँठ लटके कम्बल की
फूलछाप धोती है कसी कमर से लटक रही, हाथों में
लटका है मटका गटके से भरा हुआ भारी-सा, हल्की
मूठ जुए से लटकी है उलटी, जो पड़ा हुआ कंधों पर
पनियल बैलों के, जिनको हाँकता हुआ वह चला आ रहा...."[2]

रेड्डी भी कापु कहलाते हैं। उन्हें पंट-कापु भी कहते हैं, जिसका मतलब है खेतिहर। अर्थात् खेतिहर रेड्डी कापु कहलाते थे। यह नाम दूसरी जाति के किसानों के लिए रहा होगा, किन्तु जब रेड्डियों ने खेती की वृत्ति अपना ली तो यह नाम रेड्डियों के लिए ही रह गया।[3]

सिंचाई वाली जमीनों में धान की फ़सल अच्छी होती थी। धानों की कई किस्में थीं। कृष्णदेवराय ने कुछ नाम ये गिनाये हैं :

बेला, खजूर, पुष्पमंजरी, मामिडीगुत्ती, कुसुम, संपणी, पच्चगन्नेर, पाला, राजान्न आदि।

१. 'मनु चरित्र'।
२. 'परमयोगीविलासमु', पृ० ४७८।
३. वही।

यह तो हुई रेड्डी काश्तकारों की बात । अब अन्य जातियों के बारे में विचार करेंगे ।

पटवारी की पोशाक

"सामने तहोंतह जमी हुई उजली धोती
है झूल रही । माथे पर छोटी-सी पगिया ।
अधबँहिया 'कुप्पुसम्', मानो कोई अँगिया ।
सामान बगल में दबा; दफ्तियों का बस्ता ।
ओ' खुँसी कान पर सेलम-खरिया की बत्ती ।
झूमते हुए चल पड़े कहीं पटवारी जी ।"[1]

(लेखक ने 'कुप्पुसमु' का अर्थ अँगरखा किया है। यह शब्द कन्नड़ में चोली के लिए आज भी चलता है । पुरानी अधबहियों की शक्ल चोली की शक्ल से मिलती-जुलती है ।) दफ्तियों का बस्ता तीस-चालीस साल पहले तक बनिये इस्तेमाल करते थे । पाँच-सात दफ्तियों को डोर से जालीनुमा सीकर उस पर कोयले और हरे पत्ते से काला पोत चढ़ा देते थे । सेलम खरिया की बत्तियों से उस पर हिसाब-किताब लिखा जाता था । चाहे जितनी दफ्तियाँ लगी हों, तह करने पर सभी एक दफ्ती के बराबर में आ जाते थे और जमकर बड़े पोथे के-से हो जाते थे । उन दिनों पटवारी इन बस्तों में रकम-वसूली का हिसाब रखते थे । वे उन्हीं बस्तों को बगल में दाबे, कान में खरिया बत्ती खोंसे चला करते थे । यही उनका दफ्तर था । बी० सूर्यनारायण ने एक जगह लिखा है कि पटवारी काले कपड़े पर 'बही' लिखा करते थे । उस समय जमीन दवामी पट्टे पर नहीं दी जाती थी । किसान सालाना कौल अथवा बटाई पर खेत लिया करते थे । मंडलाधीश रकम वसूल करके अपना हिस्सा रख लेते थे और बाकी राज्य का हिस्सा सम्राट् के पास भिजवा दिया करते थे ।

१. 'परमयोगीविलासमु', पृ० ४५८ ।

मंडलाधीशों के हिस्से के सम्बन्ध में, उम्मिडी ठाणे, उत्तलव और अमर के नाम लिये गए हैं। उम्मिडी का मतलब था वह हिस्सा, जो राज्य की सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप दिया गया हो। ठाणे माने सेना। (ठाणे या 'ठाणा' 'थाना' का पर्याय है।[1]) थाना सेना का स्थान ही रहा होगा, क्योंकि मंडलाधीशों को कुछ स्थायी सेना रखनी पड़ती थी। शेष दो शब्द इसी प्रकार के मदों में कटौती से सम्बद्ध थे। राज्य का हिस्सा न भेजे जाने या उल्टा-सीधा हिसाब देने पर राजा के सिपाही पहुँचते और धर-पकड़ भी किया करते थे। जिन्हें पकड़ मँगवाया जाता, उनके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ पहनाई जाती थीं, धूप में खड़ा किया जाता और झुकाकर पीठ पर पत्थर लाद दिये जाते थे। इसी सिलसिले में 'पड़ताल' का शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो शब्द-कोश में नहीं है। राल्लपल्ली अनन्त शर्मा का बताया हुआ अर्थ उपयुक्त जान पड़ता है। उन्होंने कहा है कि पड़ताल = पबडाल = सैनिक। यही अर्थ यहाँ ठीक बैठता है। अर्थात् वे सिपाहियों द्वारा पकड़ मँगवाये जाते थे।

वैद्य

"काँख-तले दावे-दवाओं की पोटली, सिर पर पगिया सँवारे,
कान पर रुई और उँगली के बीच पंचधात की अँगूठी धारे,
माथे बड़ा-सा टीका लगाये, हथेली में हर्रें सँभाले,
रह-रह 'बाहारा' के पन्ने पलटते, काँधे पै चादर डाले,
वन-वन नचाते निगाहें जड़ी-बूटियों के अन्देशे के मारे,
औषधियों की गुणावलि गाते हुए वैद्यजी पधारे!"[2]

'बाहारा' नाम का एक वैद्यक ग्रन्थ है जरूर। जान पड़ता है उन दिनों उसकी प्रामाणिकता पर लोगों को अधिक विश्वास था। या कौन जाने कवि का इससे कुछ और ही अभिप्राय रहा हो!

१. आज भी मराठी में 'थाने' को 'ठाणा' ही कहते हैं। सं० हिं० सं०
२. 'परमयोगी विलासमु', ४५०।

विजयनगर में आयुर्वेद की एक कलाशाला (कालेज) थी। उसमें अरब और ईरान तक के विद्यार्थी आयुर्वेद का अभ्यास करते थे। अरबों का विश्वास था कि जब तक उनके हकीम कुछ दिन भारत में आयुर्वेद का अध्ययन न करें, तब तक वे अपूर्ण ही रहेंगे। सुलेमान नामक एक अरब व्यापारी ने भी लिखा है कि विजयनगर में एक आयुर्वेद कला-शाला (कालेज) थी और उसमें अरब के विद्यार्थी पढ़ा करते थे।

वैष्णव भागवत की पोशाक थी :

"लम्बी धोती, ढीला आँचल, पोलदार-सी पगिया
चादर, बाँयें हाथ में पत्रा, काँख तले पोटलिया...."[1]

घरकार

"रस्सी की करधनी में खुँसी छुरी और लँगोटी है,
सिर में बँधे लीरे से उभर रही चोटी है,
तीर-धनुष काँधे पर छड़ दाँई मूठी है,
बाँयें अँगूठे पर लोहे की अँगूठी है।"[2]

घरकार आन्ध्र के निवासी नहीं थे। उनकी बोली तेलुगू से भिन्न थी। तेलुगू वह समझते भी न थे। एक बार जंगल में किसी तेलुगू बालक को रोते सुनकर किसी घरकार ने उसे बिल्ली की बोली समझ लिया था। तेलुगू-देश के घरकार अब तो तेलुगू बोलते हैं। घरकारों को संस्कृत में वेणु लावकं, कटकार कहते हैं। एक जाति और है, जिसे 'एर्कला' कहते हैं। उसकी बोली बिगड़ी हुई तमिल-सी लगती है। एर्कले भी बाँस से झब्बे-टोकरे आदि बनाते हैं। बाँस की चटाई, टट्टी, चारपाई, टोकरा, झब्बा आदि बनाने वाले काकतीय युग से पहले भी तेलुगू देश में पाये जाते थे। किन्तु इनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की कोशिश किसी ने नहीं की।

१. 'परमयोगीविलासमु', ५०८।
२. वही।

राजगीर

"गले में जनेऊ, काँख-तले शिल्प-शास्त्र पड़े,

टेढ़ी पाग, बाँहों में रेखांकित लोहे के कड़े।"

उनके औज़ार कुमुद, चदरपान, कप्पुचूर, कम्बकाल, पद्मकम्, महा जगति, उपजगति आदि होते थे। उपर्युक्त पद्य पढ़ने पर बहुतों को आश्चर्य होगा कि उस समय राजगीर जनेऊ पहनते थे। ऊपर के चार-छः पद्य सारे-के-सारे 'परमयोगी विलास' के हैं। लेखक भी वही है। आश्चर्य इस पर होता है कि ब्राह्मण आदि के लिए भी जिसने जनेऊ का वर्णन नहीं किया, उसने इन राजगीरों को ही जनेऊ क्यों पहना दिया है? दूसरी बात आश्चर्य की यह है कि उस समय एक शास्त्र इसका भी था और राजगीर उस शास्त्र के अच्छे ज्ञाता होते थे। जिन औज़ारों के नाम दिये हैं वे घन-हथौड़े आदि नहीं बल्कि माप, दिशा आदि बतलाने वाले कोई विशेष यन्त्र ही रहे होंगे। इनमें से एक भी शब्द तेलुगु 'श० रा० निघंटु' अथवा संस्कृत कोश 'शब्द कल्पद्रुम' में नहीं है। हो सकता है कि 'वास्तु-शास्त्र' में इनकी चर्चा हो।

मरलादासरी की पोशाक है :

तेल पिये चमड़े की अथबाँही, सिर पर 'टेक्की' टोपी,

पीतल की शंख-चक्र बालियाँ, हिरन के सींग,

खाल की थैली, केवड़ों के पत्तों का छाता,

घोड़े के बालों के तार वाली चांडालिका, [वीणा]

मंजीरा, बगल झब्बा, औ' तुलसी की माला,

धार्मिक गाथाओं के गायक कथक कथक-जन का,

ऐसा था पहनावा, ऐसी थी रूप-धजा, !"[1]

बेगार की प्रथा भी उन दिनों मौजूद थी। ताड़लॅपाकॅ ने पेद्द तिरुमललय्यॅ-रचित माने जाने वाले 'वेंकटेश-शतकम्' में लिखा है कि :

"बेगार और विमल पुण्य विचार!

1. 'आमुक्त माल्यदा', ६-६।

इन दोनों में भला क्या सरोकार ?
बेगार तो बस बेगार है !
मजूरी न उसको दरकार है !"
इसी ताइलँ पाकँ ने कहा है कि :
"पुण्य न जाने भटियारिन
जात न माने दोम्मारिन ।"

लेखक ने इतना ही कहकर बस कर दिया है। इसके बाद ही वेश्याओं का वर्णन शुरू होता है। इस वर्णन से पहले ठीक भटियारी तथा दोम्मारी स्त्री का नाम आ जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि आगे जिस वृत्ति का वर्णन है, उसके साथ इन दोनों का समावेश करना उन्होंने अनुचित नहीं समझा।

वेश्या

"चन्द्रकान्त कन्घे से केश-कलाप सँवारे,
ढीली चोटी गूँथे, सीधी माँग निकाले,
रेशम की साड़ी पहने, जव्वादि[1] बसाये,
गले मोतियों की लड़ियों की माला डाले,
पत्ते-जैसे हरे रंग का टीका माथे,
उस पर से कूष्माण्ड-बीज-सा कुंकुम-टीका,
ताटक, हीरक-हार बीच मोती की झालर,
कंगन पर फिर कलाबन्द भी मोती ही का,
बाजूबंद, अँगूठी घुण्डीदार मेखला,
सोने की साँकल, ताबीज, जड़ाऊ काँची,
बालों में नगजड़ा सींथ-टीका, ललाटिका,
बन-ठनकर निकली वेश्या नागर-मन-राँची !"[2]

---

१. इत्र।
२. 'परमयोगीविलासमु', पृष्ठ २७३-४।

वेश्याएँ लाल मूँगे पहनती थीं।"[१]

वेश्याओं के दासियाँ भी होती थीं। उनकी पोशाक देखिये:

"काले पोत या काँच के दानों का छोटा हार, घुमचियों का बड़ा हार, मूँगे के कलाबंद, पीतल के कड़े, फूल-माला, काली मोटी चूड़ियाँ, लाख के ताबीज, राँगे की नथ, सीसे की अँगूठी, माथे पर अबरक का टीका, काँसे की बिछिया, सीपी का छल्ला।"[२]

साधारणतया स्त्रियों के आभूषणों का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

"तलुक बिल्लागिा, बाब्यलिकाय, औ' बिछिया,
वीरमत्ते, बाजूबंद, औ' सूती करधनी,
सेवलम्, पुञ्जाल माला, बन्नासर, मुखपट्टी,
मोती-हार, सूडिगा औ', गौड़माला औ' कड़े,
तरह-तरह की अँगूठियाँ, मुँगरा, कर्णफूल,
बविरा औ' चेरु चुक्का बँधी चोटी की कोप्पु,
अँग-अँग आभूषण पहनी हुई स्त्रियाँ,
स्वयं भूषणों के भूषण-सी बनी हुई,
आँखों को बरबस आकृष्ट किये लेती हैं।"[३]

'आमुक्त माल्यदा'[४] के अनुसार तब भी तेलुग देश में, रायल सीमा तथा तेलंगाणे में सभी स्त्रियाँ मुक्कुरा नथ पहनती थीं। पर चोटी के पेच बिल्ले, गले में मोतियों के हार कमर में सोने-चाँदी की कमरपट्टी और पैरों में, पांजीव (पायजेब—अनु०) साधारणतया केवल शूद्रादि जातियों की स्त्रियाँ ही धारण करती थीं।[५]

१. 'मनु चरित्र', ६-८१।
२. 'परमयोगीविलासमु', ३२३।
३. 'कला पूर्णोदय', ७-६६।
४. ४-१६१।
५. 'मनु चरित्र', ६-५।

तमडी अथवा तंबली एक जाति है। तंबली पहले शिवालयों के पुजारी होते थे। अब वे शिवालयों के मालिक तो हैं, पर पुजारी नहीं रहे। कहीं-कहीं पुजारी भी हैं। ये मन्दिरों, धर्मशालाओं आदि में ब्राह्मण-भोजन के लिए पत्तलें मुहैया किया करते थे।[1] रायल सीमा में इनका काम था शादी-ब्याह में फूल-पत्ते और बरतन-बासन आदि जुटाना। (कहीं ये तम्बली-ताम्बुली या तमोली तो नहीं थे ?) पूजा और उत्सवों पर ढोल-मँजीरे भी यही लोग बजाते हैं। साथ में शहनाई भी बजती है, पर उसे नाई बजाते हैं। इन सेवाओं के लिए उन्हें कुछ जमीन मौरूसी मिली होती है।

पुरुषों में सभी अपनी कमर में एक कपड़ा जरूर बाँधते थे। यह साधारणतया लाल रंग का होता था। वैसे काले-पीले भी पहने जाते थे। इसे कासे, दट्टी आदि कहा करते थे।[2]

अधिकारी, धनी, कवि, विद्वान् रेड्डी आदि उच्च श्रेणी के लोग पालकियों में चला करते थे। पालकियाँ ढोने वाले भोई (कहार) कहलाते हैं। आजकल इस जाति के लोग बेस्ता अर्थात् मछेरे कहलाते हैं। पल्नाडि-युद्ध में भोई की चर्चा है। मतलब यह कि ११५० ई० से लेकर आज आठ सौ साल तक इस भोई जाति ने अपना जात-पेशा नहीं बदला। कवि सम्मेलनों आदि के अवसरों पर ये लोग जूतों-चप्पलों की रखवाली के लिए नियुक्त किये जाते थे।[3]

सात्तनी या सात्तिन भी वैष्णव-सम्प्रदाय की एक जाति है। इसकी दो श्रेणियाँ हैं। आजकल इन्हें सातानि कहा जाता है। इनमें सात्तनी कहलाने वाले जाति के पुरुष सिरों को एकदम घुटवा देते थे, और गले में जनेऊ नहीं पहनते थे।[4] यह सम्प्रदाय हाल तक मौजूद था। उन

१. Salatore II.

२. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१८७,७--१६-७।

३. वही, ४-४-७।

४. वही, २-८७।

दिनों के सातनियों की वेश-भूषा का वर्णन इस प्रकार है :

"सुन्दर तिलकधारी काँख-तले ताड़पत्रों के बस्ते भुजाओं पर शंख चक्र की छापें..........."[1]

बस्ती के बाहर चमारों की अलग बस्ती होती थी। अब भी यही हाल है। चमार चमड़े की चप्पलें तैयार करते थे। वे चमड़े को वड वड़ की पत्ती में दबाकर नरम करते थे। [चाम को कमाने की देशी पद्धति अब भी यही है।]

विजयनगर शहर में वेश्याओं की संख्या अत्यधिक थी। उन पर कर लगता था, जिसे गणाचारी पन्नु (महसूल) कहा जाता था। (इस कर शब्द के साथ 'गुत्ता' यानी ठेके के शब्द का प्रयोग किया गया है। तो क्या इसकी वसूली ठेके पर होती थी ?) इस कर से इतना धन वसूल होता था कि नगर की रक्षा के लिए जो ९२००० रक्षक भट रखे गए थे, उनका सारा वेतन इसीसे पूरा हो जाता था। राजा, सामंत, धनी, सरदार आदि वेश्याओं को रख लिया करते थे। यह काम वे खुले-आम करते थे, और इसमें अपनी मरदानगी मानते थे। अच्छे-अच्छे राजाओं, सामन्तों और सरदारों ने अपने दरबारी कवियों द्वारा इन वेश्याओं पर कविताएँ लिखवाईं। सिगमनायडु ने तो अपनी वेश्या को लक्ष्य करते हुए पूरे 'भोगिनी दंडकमु' की रचना करवाई। (मजा तो यह है कि आज बहुत-से साधक जन और ब्राह्मण इस 'भोगिनी-दंडक' का दैनिक पाठ करते हैं अनु०)। बड़े-बड़े अधिकारी इन वेश्याओं को जलसों और उत्सवों में अपने साथ बिठाते थे। और बीच-बीच में उनसे दिल्लगी करके मन बहलाते थे, अपना भी और दर्शकों का भी।[1]

दासरी की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ये 'संध्यागोपालभिक्षा' से आजीविका पैदा करते थे। अर्थात् सन्ध्या समय कृष्णगोपाल के गीत गाते हुए घर-घर भिक्षा माँगते थे। (गोपालम् की भिक्षा का समाज में

१. 'कृष्णरायचरित्र', २-५।

१. 'आमुक्त माल्यदा', ४-३५।

आदर था, ब्राह्मणों के बच्चे भी, सावन के हर सनीचर को नाक की जड़ से बालों की माँग तक 'दासरी'-तिलक यानी लम्बी-चौड़ी कुंकुम-रेखा लगाकर, सब द्विज जातियों के घर भीख माँगने जाते हैं।) दासरी भीख माँगते थे, चमारों की श्रेणी के थे, फिर भी बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

ब्राह्मण अपनी विद्वत्ता अथवा पूजा-पाठ से निर्वाह करते थे। पुरोहिती या जमीन आदि न होने पर भी ब्राह्मणों की गुज़र-बसर अच्छी ही होती थी। मन्दिरों और क्षेत्रों में उन्हें भोजन मुफ़्त मिल जाता था। (यह प्रथा ट्रावनकोर कोचीन में अब भी है। त्रिवेंद्रम के पद्मनाभ मन्दिर में शहर के सारे ब्राह्मण, अपने बाल-बच्चों के साथ दोनों शाम भोजन कर सकते थे। पता नहीं अब भी यह प्रथा चालू है या नहीं।) उन दिनों ब्राह्मणों को हर सनीचर तैल-स्नान के लिए तेल भी दिया जाता था। पूजा-व्रतों की भी कमी नहीं थी। अनेक प्रकार के दान-धर्म पाने के अधिकारी ब्राह्मण ही थे। विशेषकर षोडश दान पर तो हेमाद्रि ने एक पूरा ग्रन्थ ही रच डाला था। वह ग्रन्थ एक प्रामाणिक धर्म-शास्त्र बन गया। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि रेड्डी राजा हेमाद्रि के सभी नियमों का विधि पूर्वक पालन करते थे। ग्रहण, संक्रमण आदि अवसरों पर शान्ति के लिए ब्राह्मणों को दान दिये जाते थे।

'आमुक्त माल्यदा' के अनुसार ऐसे बहुत-से पुरोहित ब्राह्मण थे जो झूठ-मूठ बातें बनाकर जाप-पाठ करके ठगते थे। कहीं किसी के घर कोई मरे या पैदा हो, ब्राह्मण देवता यमदूत बनकर हाजिर रहते। दान-दक्षिणा के लिए ठेला-ठाली करते। कहीं मुर्दों को ढोकर पैसा लेते, तो कहीं उनके नाम पर डटकर खाते। इस प्रकार आदर-अनादर, पाप-पुण्य की परवाह न करके पेट-पूजा करने वाले ब्राह्मणों की कमी नहीं थी।

सभी ब्राह्मण ऐसे न थे। पर कम-से-कम कुछ ने तो ऐसा ज़रूर किया। ब्राह्मणों ने अनेक विद्याओं का अभ्यास किया। विशेषकर वेद, वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्म-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, कर्म-कांड आदि

सभी पर ब्राह्मणों ने अधिकार प्राप्त कर लिया था। ब्राह्मण खेती नहीं करते थे। यदि की भी तो बहुत कम ने खेती की है। 'ऋणम् कृत्वा घृतम् पिबेत्' के न्यायानुसार यदि कर्जदार बन गए, तो जमीन-जायदाद रहन रखकर काम चलाते, पर खेती या मेहनत-मजूरी का नाम न लेते।[1]

दरबारों में विद्वानों की सभाएँ होती थीं, जिनमें शास्त्रार्थ चला करते थे। प्रसिद्ध विद्यापीठों के अन्दर भी शास्त्रार्थ होते थे। मदुरा में दक्षिण देश का प्रसिद्ध विद्यापीठ था। पहले भी कंची (कांचीवरम्) काशी व काश्मीर, तक्षशिला, नालंदा, नवद्वीप, अमरावती आदि अनेक स्थानों में ऐसे विश्वविद्यालय विद्यापीठ रह चुके थे। अध्ययन पूरा करने के बाद विद्यार्थी गुरु की आज्ञा से किसी विद्यापीठ में पहुँचते थे। वहाँ की पण्डित-परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते थे और जय-पत्र (डिप्लोमा) प्राप्त करके वहाँ से निकलते थे। "राजसभाओं में विद्याधिकारी नियुक्त रहते थे। किसी विद्वान् अथवा कवि के आने पर राज्य के विद्यार्थियों के सामने वाद-विवाद चलते थे। जो जीतता, उसे पुरस्कार दिया जाता। हारने वालों की तो बुरी गत बनती थी। लज्जा के मारे उनके होश उड़ जाते थे और वे सभा से उठ भागते थे। जाते-जाते जूते भूल जाते, और इस-लिए फिर लौट आते। अपनी ही भूल से क्यों न हो, जूता-चप्पल ढूँढ़ न पाने पर राजा को ही दो-चार सुना बैठते और इस प्रकार तरह-तरह से परेशान होते।"[2]

'आमुक्त माल्यदा' में यह भी लिखा है कि ऐसी पंडित-सभाएँ राज-भवन के चतुःशाला भवन में हुआ करती थीं। जीतने वाले पण्डितों और कवियों को राजा आदर-सम्मान के साथ भेंट (टंक) देकर विदा करते थे। भेंट में "तरोई के फूलों-जैसी चमकती टंक थैलियों में भर-भरकर दी

---

१. 'मनु चरित्र', ३-१२६।
२. 'आमुक्त माल्यदा', ४-४।

जातीं।"[1]

जिन विशेषज्ञों ने प्राचीन सिक्कों का अनुसंधान किया है, उन्होंने यह कहीं नहीं लिखा कि विजयनगर में सोने के टंक चालू थे। वह निश्चय ही सोने का सिक्का था। नये टंक तरोई के पीले फूलों की तरह चमका करते थे। कवि-सार्वभौम को इसी विजयनगर के सभा-भवन में टंकों से स्नान कराया गया था। ऐसे प्रमाण होते हुए भी न जाने क्यों सिक्कों के विशेषज्ञ इस विषय पर चुप हैं।

कवियों के बैठने के आसन को शंखपीठि कहा जाता था। यह तमिल देश का आचार था। श्री राजपह्लि का मत है कि तमिल देश में कवियों के संघम् नामक पीठ-स्थान थे। उसी 'संघम्' को 'कालहस्तीश्वर शतक' के रचयिता ने 'शंखम्' कहा है।

अग्रणी कवि अल्लसानि पेद्दना कृष्णदेव राय के दरबारी कवि थे। राजा ने स्वयं अपने हाथ से कविवर के पैरों में 'गंडेपेंडेरमु' (पुरस्कार-सूचक स्वर्ण आभरण) पहनाये थे। स्वयं अपने कंधों पर उनकी पालकी ढोई थी। जब कभी राजा की सवारी निकली होती और उन्हें रास्ते में कहीं अल्लसानि दीख जाते, तो तुरन्त हाथी को रोककर राय-राजा कविराट् को अपने साथ अम्बारी में बिठा लेते थे। ये प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। रामराज भूषण ने लिखा है कि : "**'भैरवी कविलाता' (कविवर दादा भैरवी) को राजगद्दियों पर स्वयं राजाओं की बगल में बैठाया गया है। राजाओं के मन्त्री, सेनानी और मंडलाधीश के पदों पर प्रायः ब्राह्मण ही नियुक्त होते थे। इस प्रकार ब्राह्मण प्रत्येक क्षेत्र में महान् अधिकारी माने जाते रहे।**"

कृष्णदेव राय की पोशाक के जो वर्णन उनके समकालिकों ने दिये हैं, उनसे पता चलता है कि राजा कारचोबी की हाथ-भर लम्बी टोपी पहना करते थे। युद्ध-भूमि में सिर के सूती साफ़े में जवाहरात पहना करते थे। शरीर में उजली कारचोबी के कपड़े और गले में कीमती

१. 'आमुक्त माल्यदा', २८५।

जवाहर के हार होते थे। राज-भवन के नौकर-चाकर भी टोपी पहना करते थे।

न्यूनिज ने लिखा है कि : "राजा एक बार के पहने कपड़े दूसरी बार नहीं पहनते। वह केवल बारीक कारचोबी के कपड़े ही पहना करते हैं। उनके ताज या टोपी को 'कुलाई' कहते हैं। तिरुपति क्षेत्र में कृष्ण-देवराय की मूर्ति उनकी दो पत्नियों के साथ खड़ी है। उसमें राजा के सिर पर फुँदके की तिरछी टोपी रखी है। अलिया रामराजु की युद्ध-यात्रा का जो चित्र मिलता है, उसमें भी हाथ-भर की टोपियाँ दिखाई गई हैं। हो सकता है ऐसी टोपियों का रिवाज कर्णाटक में रहा हो।"

यह उस समय के मुसमलमानों की पोशाक नहीं थी। उनकी तस-वीरों में ऐसी टोपियाँ नहीं हैं। तेलुगू देश में भी इनका प्रचलन नहीं था। श्रीनाथ को भी प्रौढ़ देवराय के दरबार में जाते समय उसे कर्णाटकी दरबारी पोशाक पहननी पड़ी थी। वह सिर पर यही 'कुल्ला' या 'कुलाई' रखकर, महा कूर्पासन नामक चोगा पहनकर और उसके ऊपर से एक बड़ी चादर डालकर दरबार में गये थे। कर्णाटकों ने फारसी के कुलाह (टोपी) शब्द को मुसलमानों से लिया होगा। अपढ़ जनता में भी यह शब्द तेलुगू है। विशेषकर छोटे बच्चों की तिकोनी या चौकोनी टोपी को कुल्लाई या कुल्ला ही कहते हैं। इसके लिए तेलुगू में दूसरा कोई शब्द नहीं है। अस्तु, विजयनगर के कर्णाटकी राजाओं की लम्बी टोपी के अनुकरण पर आज भी कर्णाटकी भिखारी हाथ में भिक्षा-पात्र के साथ-साथ सिर पर लम्बी टोपी भी पहनकर रामदास के भजन गाया करते हैं।

साधारण लोगों की वेश-भूषा के सम्बन्ध में अब्दुर्रज्जाक ने लिखा है—"इस देश में धनी-मानी लोग कानों में बालियाँ, गले में हार, बाजुओं में कड़े और हाथों में अँगूठियाँ पहनते हैं।"[1]

निकोलोडी कांटी नामक पाश्चात्य यात्री ने लिखा है—"पुरुष दाढ़ी

१. Salatore, भाग २।

तो नहीं रखते, किन्तु सिर पर चोटी बढ़ाते हैं और उन बालों में गाँठ देते हैं। यूरोप की तरह यहाँ के लोग भी ऊँचे और स्वस्थ होते हैं। धारीदार दरियों पर जरी के किनारे वाली सफेद चादर बिछाकर सोते हैं। कुछ स्त्रियाँ पतली तली की जूतियाँ पहनती हैं, जिन पर सुन्दर कारचोबी का काम किया होता है।"

बारबोसा नामक एक दूसरे पाश्चात्य यात्री ने लिखा है—"पुरुष छोटे-छोटे साफे बाँधते हैं, या रेशमी टोपी लगाते हैं। मखमखाली चप्पलें पहनते हैं। स्नान के समय शरीर पर मलने के उबटन में चन्दन, केसर, कपूर, कस्तूरी तथा घीकुआर मिलाकर पनीर या गुलाब-जल के साथ पीसकर मालिश करते हैं।"[1] विजयनगर के निवासी मुसलमानों की तरह चड्डी या जाँघिया पहनते हैं, जिसे 'चण्डातकम' कहते हैं।[2] टोपियाँ दो प्रकार की होती थीं। हाथ-भर की टोपी की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। दूसरी टोपी कपड़े की बन्ददार होती थी, जो सिर से चिपकी रहती थी। सिर के बालों के साथ कान और गालों को भी छिपाकर ठोड़ी के नीचे बन्दों से बाँध दी जाती थी। कनटोप इसीको कहते हैं। [तेलुगू में हाल-हाल तक 'कानटोपी' और 'कुल्लाई' ये दोनों शब्द चालू थे।]

राजा किसी अधिकारी के काम से खुश होने पर उसे नई धोती, चादर, अंगी और टोपी पुरस्कार दिया करते थे। मुसलमान बादशाहों ने इसे 'खिलअत' कहा है। अँगरखे के लिए 'कब्बाई' या 'गब्बाई' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। कुछ कवियों ने इसे कबाई कहा है।[3] कब्बाई के असली उच्चारण का सही पता नहीं लगता। कुलाई की तरह यह भी विदेशी शब्द हो सकता है। कवि पिंगली सूरना ने पहली बार इस शब्द का प्रयोग किया है। उससे पहले कवियों की रचनाओं में यह शब्द देखने में नहीं आया! [यह कबाई, कब्बाई या गब्बाई

१. Salatore, भाग २।

२. 'आमुक्त माल्यदा', ४-२५।

३. 'परमयोगीविलासमु', ४८२।

असल में अरबी का शब्द 'क़बा' है ।]

सवारियों में बैलगाड़ी, बैल, घोड़ा, अन्दलम् और पालकी के नाम आते हैं। पालकी तथा अन्दलम् समानार्थक शब्द माने जाते हैं, किन्तु यहाँ पर कविता में दोनों शब्द साथ-साथ आये हैं। इसलिए इनके अर्थ भी अलग-अलग होंगे।[1] 'अन्दलम्' वह पालकी है जिसमें उत्सवों के अवसर पर ठाकुरजी की सवारी निकाली जाती है। और पालकी शायद 'म्याना' है। पालकी में परदे भी लगते थे, 'अन्दलम्' खुला होता था। धनी वर्ग अपने घरों में छप्पर-पलंग रखते थे, जिसमें मच्छरदानी भी लगी रहती थी। प्रायः झूला-पलंग भी पाये जाते थे। इन पलंगों पर खुदाई का सुन्दर काम किया होता था। ये पलंग कैसे थे ?

"सोने की जंजीरों, मूँगा पिलाये हुए पायों, हीरे-जवाहर जड़े तोतों और हंसों आदि से तथा सोने के फूलों, चित्र-विचित्र बेल-बूटों, सूत के किवाड़ों, रंग-बिरंगे गोल लम्बे-चौड़े तकियों तथा केसरिया बिछौनों से उन पलंगों के चारों ओर की दीवारें जगमगा रही थीं। कमरों में बड़े-बड़े खड़े और छोटे हाथ के आइने थे। उनके बीच राजा अपने अन्तः-पुर की रमणियों की सेवाएँ स्वीकार करते हुए..............."[2] छुआछूत मानने वाले आचारवान् लोग शीशे को मिट्टी का बना समझकर काँसे के शीशों का प्रयोग करते थे, जो खूब माँजने पर चमक उठते थे और उनमें लोग अपने चेहरे देख लिया करते थे।[3] जाली के बटुओं में रुपये-पैसे भरकर उसे कमर से बाँधा जाता था।[4]

गरीबों के घर फूँस के होते थे। 'आमुक्त माल्यदा'[5] के अनुसार मिट्टी के धाबे भी होते थे। विदेशी यात्रियों ने लिखा है कि जन-साधारण की

१. 'कलापूर्णोदयम्', २-७।
२. 'परमयोगी विलासमु', पृ० ४८२।
३. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१८०।
४. 'परमयोगी विलासमु', पृ० ५०३।
५. ४-१२३।

अपेक्षा वेश्याओं के घर ही अधिक सुन्दर तथा वैभवपूर्ण हुआ करते थे। पीक ने लिखा है कि वेश्याएँ बड़ी धनवान् होती थीं और उनके घर बढ़िया होते थे।

प्रजा के आचार-विचार

लोगों को कुश्ती खेलने और देखने का बहुत शौक था। 'मल्लयुद्धादिकम् दृष्ट्वा'[1] तेल मलकर नहाने पर तेल छुड़ाने के लिए खली का प्रयोग करते थे।[2] 'मरुलुतीगा' अथवा 'मलुंमातंगी' एक प्रकार की बेल है, जिसकी पत्तियाँ बारीक और फल लाल घुमची [रत्ती] के समान होते हैं। उसके अन्दर दो बीज ककड़ी के बीज की तरह, पर एक-दूसरे से उलटी दिशा में होते हैं। लोगों का विश्वास था कि इस बूटी पर पैर पड़ जाने से आदमी राह भटक जाता है। एक बटोही साँझ के समय मलुंमातंगी पर पैर पड़ने से रास्ता भटक गया। रात-भर जंगल में भटकता रहा और सवेरा होने पर अपने को एक घने जंगल में चलता हुआ पाया।[3] तान्त्रिक लोग इस बूटी का प्रयोग प्रेमियों को एक-दूसरे की ओर आकृष्ट करने के लिए करते थे। स्त्रियाँ अपने पुरुषों में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करने और उन्हें अपने वश में रखने के लिए तान्त्रिकों से जड़ी-बूटियाँ प्राप्त करती थीं और पुरुषों को भोजन आदि के साथ मिलाकर खिलाया करती थीं। कभी-कभी यह दवा जान-लेवा भी सिद्ध होती थी। 'महाभारत' के अरण्य पर्व में सत्यभामा ने द्रौपदी से इस वशीकरण के सम्बन्ध में पूछा है कि पतियों को वश में करने के क्या-क्या मन्त्र-तन्त्र अथवा जड़ी-बूटियाँ हैं। इससे पता चलता है कि वशीकरण की तान्त्रिक विद्या भारत देश में प्राचीन काल से प्रचलित है। वात्स्यायन से लेकर बाद के सभी काम-शास्त्रियों ने वशीकरण-प्रयोगों के सम्बन्ध

१. 'आकाश भैरव कल्प'।
२. 'आमुक्त माल्यदा', १-८३।
३. वही, ४-१२५।

में लिखा है। किन्तु इन प्रयोगों के सफल होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। यदि कहीं कोई प्रमाण मिलते भी हैं तो मरण के मिलते हैं, वशीकरण के नहीं। 'रुक्मांगद चरित्र' में लिखा है कि ब्राह्मणी ने अपने पति को अपने वश में रखने के लिए किसी तान्त्रिक से जड़ी लेकर खिला दी। खाते ही पति मर गया।

"एक स्त्री ने किसी सिद्धा से पूछा, 'मेरा पति मुझसे प्रेम नहीं करता, उसे मैं छोड़ नहीं सकती। अब मेरा कौन सहारा है?' सिद्धा ने एक जड़ी देकर कहा कि इसे दूध के साथ घिसकर अपने पति को पिला दो, वह तुम्हारे वश में हो जायगा। उसने ऐसा ही किया। पर, वश में होने के बदले उसका पति एकदम मर गया।"[1]

रेड्डी-राज्य-काल वाले अध्याय में चोरों की करतूतों के विषय में काफी चर्चा की जा चुकी है। विजयनगर-काल के कवियों ने भी लगभग उन्हीं बातों को दुहराया है। ताडलॅ पाकॅ चिन्नना ने 'परमयोगीविलासमु' में चोरों के सम्बन्ध में लिखा है। इससे पता चलता है कि चोर तब भी वही इकहरे तल्लू की चप्पलें, काले कपड़े, रेत, नक़ब-छुरे, दिया-बुझाऊ कीड़े, चीलनख, सेलॅम खरिया, गेंद काँटे आदि उपकरणों का उपयोग भी करते थे। उसी पुस्तक में[2] लिखा है कि—**"सोने की एक बड़ी-सी मूर्ति को चोरों ने जंजीर से बाँधकर उसे हिलाया। ऊपर छत वाले चोर ने कुएँ से पानी का डोल निकालने के समान उसे ऊपर खींच लिया। उसी प्रकार उस चोर को भी उसके साथ बाहर निकाल ले गए।"**

लुटेरों और बदमाशों की चोर-विधि के सम्बन्ध में कृष्णदेवराय ने विस्तार से लिखा है। एक ब्राह्मण अपनी पत्नी के पास ससुराल चला। चोरों और बदमाशों के डर के मारे लोग अकेले-दुकेले यात्रा नहीं करते थे। ब्राह्मण साथियों के लिए पूछ-ताछ करने लगा। स्वयं एक चोर

१. 'आमुक्त माल्यदा', ३-२३६।
२. वही, पृ० ५०६।

उसका साथी बन गया और कहा कि मुझे भी चलना है। दोनों ने तय कर लिया कि कोई यात्री-दल आये तो उसके साथ चल पड़ेंगे। वह दिन भी आ गया। दिन-भर रास्ता चलकर वे सन्ध्या समय कहीं ठहर जाते थे। दो-एक दिन राह चलने के बाद, एक रात चोर राही ने अपनी टोली वालों को सूचना दे दी, और आप स्वयं सवेरे जब दल चला तो सबको रास्ता दिखाता आगे-आगे बढ़ता काफ़ी आगे निकल गया। यात्री-दल जब एक पहाड़ी नाले पर पहुँचा तब चोर ने सीटी बजा दी। सीटी चोरों का इशारा होता था। यह इशारा नदी, नाले, घाटी आदि स्थलों पर किया जाता था। ये चोरी के लिए अनुकूल स्थान होते थे। सीटी बजते ही पहाड़ी पर से एक तीर आ गिरा। फिर कंकड़-पत्थर बरसने लगे। यात्री-दल में गड़बड़ मच गई। कुछ भागे, कुछ भागते हुए गिर पड़े, कुछ ने अपनी पोटली-पाटली झाड़ियों के पीछे छिपा दी। कुछ अपने तीर तानकर खड़े हो गए। जिनके पास कुछ न था, उन्हें छोड़ दिया। झाड़ियों में छिपे हुए लोगों पर चोरों ने भाले भोंके, उनके रुपये-पैसे, कपड़े-लत्ते छीन लिये और उन्हें नंगा करके एक लंगोटी दे दी। चोरों ने यात्रियों की चप्पलें जमा करके उनके तल्लों को फाड़-फाड़-कर देखा कि अन्दर कुछ रखा तो नहीं है। इसी तरह स्त्रियों की चोटियाँ भी खुलवाकर देखीं। ब्राह्मण की बारी आने पर वह अपने रुपयों की थैली के साथ भाग खड़ा हुआ। जो चोर उसका साथी बनकर चला था, उसने उसका पीछा किया और छुरी मारकर ब्राह्मण को एड़ियों पर घायल कर दिया। फिर कमरबन्द खींचकर उसके नीचे से 'बराहों' (अशरफ़ियों) की थैली छीन ली। चोर पड़ोसी गाँव का था। ब्राह्मण ने यहाँ भी अपनी मूर्खता का परिचय दिया। बोला—"अरे तू वही अमुक गाँव का है अच्छा, देख लूँगा बचेगा कैसे? पहचानने वाले को प्राणों से न छोड़ना चोरों की नीति है। चोरों ने ब्राह्मण की गत बनानी शुरू कर दी। वह अधमरा-सा हो रहा था कि यात्रियों का एक और दल आ निकला। चोर वहाँ से भाग निकला। इस दूसरे दल में

उस ब्राह्मण का बहनोई भी था। बहनोई ने उसके घावों पर पट्टी बाँधी और उसे बँहगी में बिठाकर घर की ओर ले चला। पर ब्राह्मण रास्ते में ही मर गया।"[1]

चोरों को पकड़ने में ग्रामाधिकारी काफ़ी मुस्तैदी से काम लेते थे। जाँघिये पहने ग्राम-रक्षक रात-दिन चोरों का सुराग लगाते रहते थे। जहाँ-जहाँ चोरी का माल बिकता हो, वहाँ निगाह रखते थे। वे जानते थे कि चोरी का माल प्रायः वेश्याओं अथवा सुनारों के पास पहुँचता है। इसलिए उन पर खास निगाह रखते थे! पकड़े जाने पर चोरों को चिमटों से पकड़कर हिंसा द्वारा पूछ-ताछ करते थे। जहाँ-जहाँ माल छिपा रखा हो, कबूल करवाकर वहाँ से निकाल लाते थे। फिर चोर को पंचायत से सजाएँ दी जाती थीं। सजा पाये हुए कैदियों से किलों और भवनों के लिए पत्थर ढुलवाया जाता था![2]

यदि चोर कबूल ही न करे तो उसे मुश्कें बाँधकर धूप में उसकी झुकी पीठ पर पत्थरों के बड़े-बड़े ढोके लाद देते थे। गले में कपड़ा या रस्सी डालकर बल देते थे, इसे 'पोगडॅ दंडॅ' कहते थे![3]

'पोगडॅ दंडॅ' का शब्द विचारणीय है! तेलुगू में 'दंडॅ' हार को कहते हैं। 'पोगुड्डटा' के माने हैं यश-गान। किन्तु चोर को हार पहनाकर उसकी प्रशंसा नहीं की जाती थी। और न इस प्रकार उससे चोरी ही कबूलवाई जा सकती है। कवि सार्वभौम श्रीनाथ की भी, खेती के ठेके की रकम न चुकाने पर, ऐसी ही गत बनी थी। उन्हें 'पोगडॅदंडॅ' की सजा दी गई थी। वह अपना दुखड़ा, यों रोते हैं :

"खड़ी धूप में, आम बाजार में चिपक गई कविवर्य-कण्ठ से फँसटी पोगडॅ दंडॅ की!"

यहाँ पर भी धूप में खड़ा करके, पीठ पर ढोके लादकर 'पोगडॅ दंडॅ'

१. 'आमुक्त माल्यदा', ७-७-२१।
२. वही, ४-१८३।
३. 'परमयोगीविलासमु', पृ० ३२४।

लगाये गये हैं। बहु वचन का प्रयोग है। तो फिर कौन-कौन से 'दंडें' थे ? सम्भवतः पोगडें फूलों के आकार वाली साँकलें रही हों।

आज भी समय पर कर्ज न चुकाने वाले को गले में रस्सी या चादर डालकर घसीटने का दृश्य कभी-कभी देखने में आ जाता है। 'गरदनिया देना' आम मुहावरा है ही। उगलवाने का मतलब भी यही हो सकता है कि सताकर बात कबूल कराई जाती रही हो। रुद्र कवि ने लिखा है कि निरंकुश नाम का ब्राह्मण शिवलिंग के सामने बैठकर चौपड़ में अपनी और शिवजी की बाजी खुद ही डालता रहा। अन्त में शिवजी हारे। इस पर निरंकुश ने मूर्ति को लक्ष्य करके बाजी भुगताई जाने की माँग की। शिला-मूर्ति क्या देती और क्या बोलती ! इस पर निरंकुश ने मूर्ति को लक्ष्य करके यों कहा—**"बाजी हारने पर भी पैसा न चुकाकर चुपचाप बैठे रहना तुझे शोभा देता है भला ? अब मैं तेरा और अपना यह झगड़ा चार बड़ों के सामने पेश करूँगा ! यों कहते हुए ढीठ ब्राह्मण ने अपने कन्धे पर से सफेद चादर लेकर शिवजी के गले में 'पोगडेंदंडें' डाल दिया !"**[1]

आगे कहा है कि चादर के दोनों छोर पकड़कर वह शिवजी के गले को खींचने लगा। इस कथा से मतलब कुछ तो साफ हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि रस्सी या कपड़ा गले में डालकर घसीटने को 'पोगडेंदंडें' कहते थे।

निरंकुश मूर्ति के गले में अपनी चादर डालकर घसीटने लगा। शिवजी ने प्रत्यक्ष होकर हार मानी, और भुगतान कर दिया। कथा कुछ भी हो, हमें तो कर्ज वसूल करने की विधि से मतलब है। जब स्वयं भगवान् की ऐसी गत बनती थी, तो साधारण जन की बात का क्या कहना ? 'पोगडेंदंडें' का यह प्रभावशाली शब्द आज के शब्द-कोशों में नहीं है। रुद्रकवि ने उक्त कथा १६२० ई० के लगभग लिखी थी। ३०० वर्षों के अन्दर ही हमारे पूर्वजों की भाषा हमारे लिए अजनबी बन

१. **'निरंकुशोपाख्यान', अ० ३, पद्य २६।**

गई है। यदि इसी तरह उपेक्षा की जाती रही तो बची-खुची परिचित संज्ञाएँ भी यों ही मिट जायगी।

अपराधों के लिए घोर दण्ड दिये जाते थे। छोटी-मोटी चोरी-चकारी करने पर चोर के एक हाथ और एक पैर को काट दिया जाता था। बड़ी चोरी करने वालों को गले में लोहे का काँटा देकर पेड़ों से लटकाकर मार डाला जाता था। कुलीनाओं अथवा अविवाहित कन्याओं का मान-भंग करने पर सूलियों पर चढ़ा दिया जाता था। सामन्तों और सरदारों को राज-द्रोह के अपराध में पेट में भाला भोंककर सूली पर चढ़ा दिया जाता था। नीच जाति वालों के अपराधों में साधारणतया गरदन उड़ा दी जाती थी। कुछ अपराधों में हाथियों से रौंदवाया जाता था। मामूली अपराधों पर ग्रामाधिकारी अपराधी को धूप में खड़ा करके अथवा झुकाकर सिर या पीठ पर पत्थर लाद देते थे।

शासन-व्यवस्था के लिए देश को २०० मण्डलों में बाँट दिया गया था। प्रत्येक मंडल एक मंडलाधीश के अधीन होता था, जिसे 'पालेगार' कहते थे। पालेगारों के तीन कर्तव्य होते थे : समय पर नियमित कर राज्य को पहुँचाना, अपने पास नियमित संख्या में सेना रखना और जब बुलावा हो तब अपनी सेना के साथ युद्ध पर जाना।

होटलों की प्रथा तेलुगु देश में काकतीय काल से ही चली आ रही है। होटल का पुराना तेलुगु नाम 'पूटकुट्' है जिसके अर्थ हैं; 'पहर (शाम का) भोजन'। इन होटलों में आहार-विहार की व्यवस्था रहती थी।[1] विजयनगर में इन होटलों की संख्या काफ़ी बड़ी थी। उनका उद्देश्य बस किसी भी तरह पैसा कमाना ही होता था। इसलिए वे खराब खाना खिलाते थे। वे सुबह का बासी शाम को और शाम का बासी गरम करके फिर सुबह को परोस दिया करते थे। खराब घी, पनियाली छाछ आदि देने की दुष्टताएँ करते थे। इसीलिए तेलुगु में एक कहावत ही है कि 'पूटकूली वाली' (भटियारिन या होटल वाली) पुण्य नहीं जानती।

१. 'आमुक्त माल्यदा', ८-७।

(स्त्रीलिंग के प्रयोग से जान पड़ता है कि होटलों को स्त्रियाँ ही चलाती थीं।) 'अक्कल वाडें' शब्द के प्रयोग से अनुमान होता है कि होटलों के मुहल्ले अलग रहे होंगे। 'अक्का' बहन को कहते हैं और 'वाडें' मुहल्ले को। तो क्या सचमुच होटलों के अलग मुहल्ले हुआ करते थे ? औरतों के होटल की मालकिन होने से अनुमान होता है कि वे विधवाएँ होती होंगी। शहर में होटल खोलकर वे गुज़ारा कर लेती रही होंगी। पहले घर वालों के लिए पकाना था, अब बाहर वालों के लिए। 'क्रीडाभिरामम्' में भी होटल जाने के बजाय 'अक्कलवाडा' जाने की बात आई है। आज भी खाना पकाने वाली को 'वंटलक्का' कहते हैं।

शहरों में 'क्षौरशालाएँ' (हजामतघर) भी होती थीं। विजयनगर में इनकी तादाद काफी बड़ी थी।

किराये पर चलने वाले स्नानागार भी होते थे, जहाँ पर उनके मालिक लोगों को पैसे लेकर तेल की मालिश करते और गरम पानी से नहलाते थे।[1]

नगरों में भ्रष्टाचार की भी कमी नहीं थी। घूस लेकर झूठी गवाही देने वाले अथवा रिश्वत लेकर अन्याय करके झूठा फैसला देने वाले बुजुर्ग भी काफी थे। विजयनगर में इन भ्रष्टाचारों का बोल-बाला था।[2]

कृष्णदेवराय ने एक जगह कहा है—"गर्भ मंडप का गंदा धोवन, जो नाली की राह से बाहर एक पथरी में इकट्ठा होता, उसे शूद्र के देने पर भी वैष्णव भक्तजन बड़ी श्रद्धा से पीते थे।"[3] इससे स्पष्ट है कि वैष्णव मन्दिरों के पुजारी शूद्र होते थे। मन्दिर के बीच का वह छोटा-सा मंडप, जिसमें भगवान् की मूर्ति होती है, 'गर्भमंडप' कहलाता है। वैसे उसे गर्भगुडि (गर्भ मन्दिर) भी कहते हैं। उस मंडप के अन्दर धोवन इकट्ठा होने के लिए पत्थर को काटकर हौज की शक्ल का बना लिया जाता था। तीर्थ (चरणामृत) के नाम पर उस जल को शूद्र

१. 'आमुक्त माल्यदा', ७-७।
२ 'लाडल पार्कनीलिसीस पद्यशतकम्'।
३. 'आमुक्त माल्यदा', ६-८।

पुजारी भक्तों को देते थे और उसे ब्राह्मण भी ग्रहण करते थे। अब तो यह प्रथा नहीं रही। उस समय वीर शैवों के मुकाबले में मोर्चा जीतने के लिए वीर वैष्णवों ने जाति-भेद को मिटाने के ये साधन अपनाये थे। जाति-सुधार की वह प्रवृत्ति अब एकदम लुप्त हो चुकी है।

गड़ा हुआ धन बताये बिना ही बड़े बूढ़ों के मर जाने पर, उनकी संतानें तन्त्र-जाल के ज्ञाताओं की सहायता से धनांजन लगाकर और धन पर बैठे भूत-प्रेतों को बलि देकर, धन की खुदाई करती थीं। खुदाई के पहले पूरब की ओर भूतों के लिए बलि-रक्त के बरतन रख दिये जाते थे। उसके बाद ही खुदाई करके धन निकाला जाता था।[1]

शादी-ब्याह में आज की तरह उस समय भी वर-वधू को दोनों कुलों के सगे-सनेही और बंधु-बांधव साड़ी, धोती, गहने, रुपये (वरहा) आदि भेजते थे। मन्त्रोच्चारण के साथ पुरोहित यह भी कहता था कि किसने किसको कौन-सी चीज कितनी भेंट की। ससुर अपने दामादों को मूल्यवान वस्त्र और आभूषण भेंट करते थे।[2] धनी माता-पिता अपनी कन्याओं को पलंग, बिस्तरे, थाली, पटियाँ, झूले, घड़े, लोटे, पानदान, सोने के जड़ाऊ जेवर, रेशमी कपड़े, अगर, कस्तूरी, जव्वासि, केसर, चन्दन, हरा कपूर, इत्र, पनीर आदि दहेज में दिया करते थे। बेटी के साथ सेवा के लिए दासी अथवा दासियों को भी भेजा जाता था।[3]

लोग छोटे-मोटे रोगों का इलाज आप ही कर लेते थे। हाल-हाल तक गाँव की बूढ़ी औरतें घर के अन्दर अजवायन, कुलंजन, पीपल, सोंठ आदि दवाओं की थैली बाँधे रखती थीं। अधिकतर घरों में तुलसी का पेड़ होता था। ज्वर में तुलसी-रस दिया करते थे। अधिक जानकारी रखने वाले घरों में बारहसिंघे के सींग, गोरोचन, कस्तूरी,

१. 'प्रभु चरित्र', ३२१।
२. वही, ५, ८६-८७।
३. 'आमुक्त माल्यदा', ५, १०१।

केसर, वैष्णवी तथा भैरवी की गोलियाँ पड़ी होती थीं। फोड़ा न फूटने पर गेहूँ का आटा पकाकर बाँधते थे। सिर-दर्द में कंकर की भाप देते थे। दर्द में नीम का सेंका देते थे। आँखों के इलाज का भी कुछ वर्णन मिलता है :

"पल्लू की तहें करके मुँह की भाप दे-देके आँखें बफारना,
नींबू की पत्तियों के रस में तडवड की पत्ती पीस, लेप सिर पर पसारना।
कँवल फूल को निचोड़ना, जमे घी या दही की सलाई फेरना।
औरत के थन का दूध डालना, इसमें हो जाय कहीं देर ना!"[1]

'आमुक्त माल्यदा' में एक जगह लिखा है कि : "चमार के बड़े टेढ़े छुरे से एक व्यक्ति का कन्धा कट गया था। वैद्यों ने उस पर टाँके लगाये थे। सिर के फटने पर पुराने लत्तों की राख घाव में भरकर तत्काल इलाज कर लिया।"[2]

अकाल पड़ने पर पुराने जमाने में लोग दारुण दुःख उठाते थे। बहुत सारे भूख से तड़प-तड़पकर मर जाते और बहुतेरे तो पेट भरने के लिए अपने छोटे-छोटे बच्चों तक को बेच दिया करते थे। आजकल के रेलों और मोटरों के जमाने में जब सन् १९४१ ई० के अकाल में अकेले बंगाल में बीस लाख व्यक्ति काल के कौर बन सकते हैं, तो तब क्या दशा रही होगी, इसका अन्दाज़ा सहज ही किया जा सकता है। एक पद्य के अनुसार लोगों ने अनाज न मिलने पर घास-पात, कंद-मूल, ताड़ का मग़ज़ आदि खाकर भी गुजर की। कहते हैं कि कुछ किसानों ने भूखे पेटों को बाँधकर ६० दिन के अन्दर फसल तैयार होने वाली रागी बोकर उसे ढेकलियों से सींचा, किन्तु उसमें भी कीड़े पड़ गए और फसल सड़ गई।

बड़े कस्बों में साप्ताहिक हाटें लगती थीं। वर्षा में हाट अच्छी नहीं

---

१. 'कालहस्तीमाहात्म्य', अ० ३-११०।
२. ७-२१।

भर पाती थी ।[1] इन हाटों में घुमक्कड़ व्यापारी आया करते थे। टट्टुओं पर लादी लादकर वे हाटों-हाट फिरते थे ।[2] विजयनगर के राजाओं ने जगह-जगह धर्म-सत्र खोल रखे थे, जहाँ ब्राह्मणों को मुफ्त भोजन दिया जाता था ।[3]

मनोरंजन

पर्व-त्योहार उत्सव के दिन होते थे । त्योहार तो उस समय भी वही थे, जो आज हैं । कोई अधिक अन्तर नहीं है । 'एरुवाक पौर्णिमा' (जेठ पूर्णिमा) किसानों का खास त्योहार था । कुछ विद्वानों ने इसे 'एरु' (नदी)+वाका=(बहना) अर्थात् नदियों के भरने का त्योहार कहा है । पर यह अर्थ ठीक नहीं है । वास्तव में 'एरु' हल को कहते हैं और 'वाकू' चलाने या चालू करने को। अर्थात् एरुवाक हल चालू करने का त्योहार था । उस दिन किसान अपने बैलों, हलों और दराँती आदि को धो-धाकर गेरू और चूने से रँगते थे; तेल मलकर नये कपड़े और गहने पहनते थे। अच्छे-अच्छे भोजन का भोग लगाकर सभी किसान मिलकर जलूस निकालते थे । जब जलूस पूरे गाँव में घूम चुकता तो सभी अपने-अपने खेतों में पहुँचकर जुताई का मुहूरत करके घर लौट आते थे । यह निश्चय ही वेदोक्त त्योहार है—"**ज्येष्ठ मासस्य पौर्णिमा-स्याम् बलीवर्दान् अभ्यर्च्य धावन्ति सोयम् उद् वृषभयज्ञः ।**" (यह त्योहार गाँवों में आज भी उसी शान से मनाया जाता है । इसे मनाने में हिन्दू, मुसलमान या जात-पाँत के भेद का कोई विचार नहीं होता । मुसलिम घरों में भी उस दिन वही पूरणपोली आदि खाने पकते हैं और गोश्त नहीं पक सकता ?—अनु०)

'आमुक्त माल्यदा' का पद्य है :

१. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१२३ ।

२. वही, ४-३५ ।

३. 'राधाराघवम्', ३-८५ ।

"दशहरे का त्योहार सम्राट् तथा सामन्तों के दरबारों में महा वैभव के साथ मनाया जाता था। यह क्षत्रियों का त्योहार है। सेना को सबसे अधिक महत्त्व देने वाले राजा-महाराजाओं का दशहरे को बढ़ावा देना स्वाभाविक ही है।" आंध्र देश के त्योहारों में से दशहरा और होली विदेशियों की दृष्टि में विशेष त्योहार थे। अब्दुर्रज्ज़ाक ने दशहरे का आँखों-देखा वर्णन इस प्रकार किया है :

"सम्राट् ने अपने सभी सामंतों और सरदारों को अपनी राजधानी पर बुला लिया। उनमें ऐसे सरदार भी थे, जो तीन-चार महीनों का रास्ता चलकर पहुँचे थे। एक हजार हाथियों को चित्र-विचित्र रंगों से रँगकर मैदान में खड़ा किया गया था। एक रमणीक विशाल मैदान में पाँच-छः मंजिला बँगला खड़ा किया गया था। प्रत्येक मंजिल में दीवारों पर रंगीन चित्र बने हुए थे। मनुष्यों, पशुओं, मक्खियों और घोंघों तक के चित्र बने थे। चित्र अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण थे। उसी मैदान में बड़े-बड़े खम्भों पर एक नौ-मंजिला महल खड़ा था। उसकी शोभा अद्वितीय थी। सम्राट् का सिंहासन नवीं मंजिल पर था। बड़ा-सा रत्न-खचित स्वर्ण-सिंहासन। उसकी सुन्दरता पर लोग मुग्ध थे। उसी सिंहासन पर बैठकर सम्राट् दशहरे का समारोह देख रहे थे। उत्सव तीन दिन तक चलता रहा। बहुरूपियों के विनोद, बाजीगरों के तमाशे तथा वेश्याओं के नाच-गान सभी प्रदर्शन सम्राट् के सामने हुए।"

पीस नामक यात्री ने भी इस उत्सव का विस्तृत वर्णन किया है। उक्त बातों के अलावा उसने यह भी कहा है कि :

"पहलवानों ने कुश्तियों का प्रदर्शन किया। रास्ते में आतिशबाजी हो रही थी। आतिशबाजी में भाँति-भाँति की आकृतियाँ आकाश में उड़ाई जा रही थीं, जो ऊपर जाकर धड़ाक से फटतीं और आकाश में फैल जातीं। काली शक्ति (महाकाली) नवरात्र के नवों दिन २४ भैंसों और १५० बकरों की बलि चढ़ाई गई। अन्तिम दिन २५० भैंसों और ४०० बकरों की बलि चढ़ी। ब्राह्मण दिन में कई-कई बार देवी की

पूजा करते थे। घोड़ों को सजाकर जलूस निकाला गया।"

एक बार स्वयं कृष्णदेवराय शिकार से एक अरना भैंसा पकड़ लाये थे। उसे नवरात्र में देवी को बलि चढ़ाने का उन्होंने आदेश दिया। प्रचलित प्रथा के अनुसार एक ही मार में भैंसे का सिर धड़ से अलग हो जाना चाहिए। अरना भैंसा हाथी-जैसा भारी था। उसके सींग पीछे की ओर दुम से छू जाते थे। ऐसे भारी जानवर को एक ही वार में खत्म करने में बड़े-बड़े वीर आगा-पीछा कर रहे थे। तब विश्वनाथ नायडू ने आगे बढ़कर एक ही वार में भैंसे के सिर को धड़ से अलग कर दिया।

होली के त्योहार को कृष्णदेवराय के समय वसन्तोत्सव कहा जाने लगा था। निकलो कांटी नामक एक विदेशी यात्री ने लिखा है :

"सड़कों पर लाल रंग से भरे बरतन रखे रहते थे। वसन्तोत्सव के दिनों में सड़क से गुजरने वाले हर व्यक्ति पर रंग फेंका जाता था। यहाँ तक कि उस रास्ते से निकलने पर स्वयं सम्राट् या महारानी के लिए भी रंग से बचना सम्भव न था। इस उत्सव पर दूर-दूर के प्रान्तों से आये हुए कवियों की कविताएँ सुनकर उन्हें पुरस्कृत किया जाता था।"

कवि मुक्कतिमन्ना ने सम्राट् को इन शब्दों में सम्बोधित किया था :

"प्रतिवर्ष-वसन्तोत्सव-कुतुकागत-सुकवि-निकर गुम्भितस्मृति-लोभांध-विशंकित-चतुरान्तःपुरवधू प्रसाद नरसिंका।"[1]

दिवाली के सम्बन्ध में हमारे लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। भण्डारकर संस्था के अध्यक्ष पी० के० गोडे ने लिखा था कि विजयनगर राज्य-काल (सन् १४५०-१५५०) के लगभग 'आकाश भैरवी' के नाम से एक संस्कृत-ग्रन्थ की रचना हुई थी, जिसमें दिवाली का सुन्दर वर्णन है। उसमें लिखा है : "राजा को चाहिए कि क्वार बदी चौदस को सवेरा होने से पहले, ब्रह्म मुहूर्त में उठकर शौचादि से निवृत्त होकर ब्राह्मणों का आशीर्वाद ले। उसके बाद बाहर मंगल-वाद्य बजें और

१. 'पारिजातापहरणम्', १-१३९।

सुवासिनियाँ आकर उन्हें स्नान के लिए तैयार करें। पहलवानों से तेल मलवाकर गुनगुने पानी में उन्हें नहलाया जाय।"

"नदत्सु पंचवाद्येषु बाह्य कक्षांतरे ततः
कुंजरगत कंकणाया बध्वादरवल्गदुरोजया,
अभ्यक्ते स्नापितो मल्लैः कैश्चित्कोष्णेण वारिणः।"

सूर्योदय से पहले इन सबसे निबटकर दरबार में बैठकर नाच-गाने का आनन्द लेना चाहिए और सबको इनाम आदि देकर भोजन करना चाहिए। संध्या के बाद पटाखे जलाने चाहिएँ।[1]

आंध्र में उस समय जो विनोद होते थे, उनमें से कुछेक मुख्य-मुख्य विनोदों का लोप हो चुका है। उनमें से 'सीढी' भी एक है। सीढी को हम मनोरंजन-मात्र की वस्तु नहीं कह सकते। वह एक अत्यन्त भक्ति-प्रधान तथा आत्म-हिंसात्मक प्रदर्शन था। लोग अपनी मन्नतें पूरी होने पर सीढ़ी पर चढ़कर टँग जाते थे। लम्बे बाँस के सिरे पर लोहे के कड़े में लोहे का एक ऐसा काँटा (कुण्डा) लगाया जाता था, जो चारों ओर घूमता रहता था। उस कुण्डे को स्त्री या पुरुष अपनी पीठ की चमड़ी अथवा रगों में से निकालकर उससे लटक जाते थे और तब बाँस के चारों ओर गोल घुमाये जाते थे। बारबोसा ने इस प्रक्रिया का आँखों-देखा वर्णन इस प्रकार किया है :

"इस देश (विजयनगर) की स्त्रियाँ अत्यन्त साहसी होती हैं। मन्नतें पूरी होने पर वे भयंकर कार्य करती हैं। प्रेमी से विवाह हो जाने पर प्रेमिका सीढ़ी से लटक जाती है। निश्चित दिन पर एक बैलगाड़ी सजाकर उस पर लोहे के कुण्डे के साथ एक बड़ा रस्सा ले जाते हैं। बाजे-गाजे के साथ प्रेमिका चल पड़ती है। केवल उसकी कमर पर ही कपड़ा होता है। सीढ़ी के पास पहुँचने के बाद रस्से के कुण्डे को उसकी पीठ में चुभो दिया जाता है और सीढ़ी उठा दी जाती है। उसके बायें हाथ में एक छोटी-सी कटार भी होती है। फिरकी को सीढ़ी के खम्भे

१. 'आकाशभैरवीकल्प'।

से लगाकर युवती को रस्से के द्वारा ऊपर खींच लेते हैं। युवती कुण्डे पर हवा में लटकती रहती है। पीठ से एड़ी तक खून जारी रहता है, पर वह चूँ तक नहीं करती, बल्कि किलकारी भरती, कटार घुमाती हुई अपने प्रेमी पर नींबू मारती रहती है। थोड़ी देर बाद उसे उतारकर घावों पर पट्टी बाँध दी जाती है। फिर वह सबके साथ पैदल मन्दिर में जाती, दर्शन करती और ब्राह्मणों को दान-धर्म करती है।"

सीढ़ी का आकार-प्रकार कुछ ऐसा होता था : गड़े हुए खम्भे के सिरे पर लोहे की कील से एक गोल पत्थर लगा होता और उस पत्थर वाली कील पर घूमने लायक एक आड़ी बल्ली लगी रहती। बल्ली के एक सिरे पर चरखी होती। रस्से को चरखी से उतारकर लोहे का कुण्डा स्त्री की पीठ पर लगा देने के बाद युवती हवा में टँगी रहती।[1]

पहले तेनालि रामकृष्ण को भी कृष्णदेवराय के अष्ट-दिग्गजों में गिना जाता था, पर अब पता लगा है कि वह बाद के कवि हैं। उन्होंने भी अपने 'पांडुरंगमाहात्म्य' में इस सीढ़ी का वर्णन दिया है : "काले बादलों में कौंधती बिजली की तरह एक युवती सीढ़ी पर लटक गई।"[2] जान पड़ता है कि यह प्रथा रेड्डियों में अधिक प्रचलित थी। 'सीढ़ी' की प्रथा आजकल नहीं है। चार सौ वर्षों के अन्दर ही इतना अन्तर हो चुका है।

कोलाटम खेलने (नाचने) में भी लोग बड़ी आसक्ति रखते थे। रायलसीमा में आज भी, विशेषतः चाँदनी रातों में, कोलाटम चला करता है।[3] इसके अतिरिक्त मुर्गबाज़ी, भैंसा-युद्ध, बाज़ का शिकार, चौपड़ आदि में भी लोगों की विशेष अभिरुचि थी। (पाश्चात्य यात्री पीस)। कृष्णराय देव ने लिखा है : "लंगोटी बाँधना, तलवार थामना, कुक-वाक-

१. Salatore, I.
२. 'पांडुरंगमाहात्म्यमु।'
३. सौराष्ट्र के डंडे वाले गरबे से अन्तर बस इतना है कि यहाँ मर्द नाचते हैं।—अनु० व सं० हि० सं०।

युद्ध...''[1]

शतरंज का खेल सम्राट् से लेकर साधारण जन तक सबको प्रिय था। विख्यात है कि मूसा से पहले ही भारतीय इस खेल का पता लगा चुके थे। जब ईरान के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवाँ ने इस खेल की महिमा सुनी तो उसने बड़ी आरज़ू से भारत में अपने आदमी भेजे। यहाँ से शतरंज की बिसात और नर्द-मुहरे ही नहीं मँगाये, उस्ताद भी बुला लिये। बाणभट्ट तथा रुद्रभट्ट ने अपने काव्यों में इस खेल का वर्णन किया है। कृष्णदेवराय के समय बोड्डु तिम्मना इस खेल में बड़ा निपुण माना जाता था। तिम्मना 'कवीश्वरदिग्दंति' की पदवी पाकर कृष्णदेवराय के पास रहता था और उनके साथ शतरंज खेला करता था। खेल में कभी-कभी तो हजारों-हजार की बाजी लगती थी और तिम्मना जीत जाता था। सम्राट् ने प्रसन्न होकर उसे सर्वाधिकारों के साथ कोप्पल ग्राम पुरस्कार में दिया।[2] तिम्मना की प्रशंसा में एक पद्य भी है :

"भले बोड्डु-तिम्मना !
चाहे बस केवल हो एक नर्द
फिर भी जुट जाता है जवाँमर्द
कृष्णदेवराय के साथ,
जिनकी भरी बिसात
को भी देता है सदा मात पर मात !"

कुछ कवियों ने उस समय के कुछ बाल-खेलों की भी चर्चा की है, किन्तु उन नामों से आज हमें इस बात का भी कुछ पता नहीं चलता कि वे खेल आखिर थे क्या चीज़? कोशकारों ने 'बालक्रीडा-विशेष' लिखकर अपना पिंड छुड़ा लिया है। पिंगलसूर कवि ने तथा हर्संटी ने बालक-बालिकाओं के खेलों के नाम कविताबद्ध किये हैं। पर खेद है कि वे खेल अब लुप्त हो चुके हैं। हमें उनका बोध नहीं हो पाता।

१. 'आमुक्त माल्यदा'।
२. स्थानीय रिकार्ड।

फिर भी यहाँ उनका नाम दे देने में कोई हर्ज नहीं।

'कला पूर्णोदय' में वर्णित बालिकाओं के खेल ये थे :

बोम्मपेंड्लि—गुड्डों-गुड़ियों की शादी

गुज्जनग्रूड्ल—खाने-पकाने का खेल

अच्चनगड्लु—हथेली पर उल्टे-सीधे कंकर उछालने का खेल

पिपड्लु—ओठ बजाते हुए उकडूँ बैठकर खेलने का खेल

कुच्चिल्—बालू की नाली में चीज़ छिपाने का खेल

गीरनागिजा— " " "

ओमनगुण्ट्ल—लकड़ी के पाट पर चौदह गढ़े बनाकर उसमें इमली के बीज भरने और खाली करने का खेल

कनुमुसिगलनल—

कम्बालाटा—चार खम्भों पर भागने और पकड़ने का खेल।

बालकों के खेलों के नाम इर्भटी ने ये गिनाये हैं :

(१) चिट्लापोटलाकाय, (२) सिरि सिगणाबत्ति, (३) गुड्डु-गुड्डु गुञ्चालु, (४) कुदेन गुडि, (५) दागिलि मुच्चुलु, (६) कच्चाकायलु, (७) वेन्नेलाचिप्पलु, (८) तन्नु बिल्ला, (९) तूरनतुकालु, (१०) गीरन-गिजलु, (११) पिल्लादीपालु, (१२) अंकि बल्लिगोड्डु, (१३) चिड्डुगुड्डु, (१४) अव्वला पोटी, (१५) चेंडुगट्टिनाबोदि, (१६) उप्पन बट्टे, (१७) अप्पलालु, (१८) लोटिल्ल, (१९) चिकन्नाबिल्ला, (२०) चिंदर आदि।[1]

आगे लिखा है कि वैश्य कन्याएँ रत्नों से कुच्चिल आदि खेलती थीं।

वोलाक्रोतुलु, बिल्लागोड्ल, इरना गोला, अन्दलम्बुलु, कुन्दि-काड्लु।[2]

खेलों में से अधिकतर के अर्थ आज हमें मालूम नहीं। कोशकारों ने भी उन्हें केवल 'बालक्रीडा विशेष' लिख छोड़ा है।

१. 'कालहस्ती महात्म्यमु', ३-३३।

२. 'विष्णु पुराण', आश्वास, ७।

शादी-ब्याह की दावतों में साग-भाजी, चटनी-अचार, चावल-आटे की चीजें, खीर-मिष्टान्न आदि जो-जो खाद्य पदार्थ बनते थे, उनके नामों की एक लम्बी सूची है। निश्चय ही और नाम होंगे। किन्तु जो नाम दिये हैं, वे खाद्य भी आज कहीं दिखाई-सुनाई नहीं पड़ते।

शब्द-कोष भी मूक हैं। 'कलापूर्णोदय' में दिये हुए नाम ये हैं—बुटेलु, तेनेतोललु, चापट्लु, मंडिगा, ओब्बटलु, वडालु, कुडुमुलु, सुकियलु, जडियपुट्टलु, वेन्नपायलु, वडियमुलु, मण्पडालु, वोंगरमुलु, सोज्जेबूदे, तागुलु, सेवेलु, उक्केरलु, अरिसेलु, चक्किलमुलु, खर्जूर, गोस्तनी, कदलिका, सहकार, कोब्बरि (नारियल), पनसा (कटहल के कोये), तेने, जुन्नु, मीगड, आनवालु, पानकम, रसावल, पच्चड्लु, पप्पुलु, कूटलु आदि अनुपम अन्न।

खेद का विषय है कि हम अपने परम्परागत खानों से भी अनभिज्ञ हैं। उक्त भोजन ब्राह्मणों के हैं। अन्य जातियों में इतने नहीं होते। फिर मांसाहारियों के भी कुछ होंगे। कृष्णदेव राय ने कुछ और नाम गिनाये हैं—

१. पोरुविलंगाय, २. पेरुगुवडियम्, ३. पच्चिवरुगु।

ये विगड़ न सकने वाले सफरी खाने हैं।[1]

वर्षा में—

कलमान्न, वलिचनपप्पु, चारपाँचपोगसिम, कूरलु, वरुगुलु, पेरुगु, वडियमुलु, नेच्चि।

गर्मियों में—

उलिवेच्च अन्नमु, तिरयनि चारुलु, मज्जिग पुलुस, पलुचनि अम्वलि, चेरुकुपालू, एडनीरु, रसावल, वडिपिंदला, ऊरुकायनु, नीरुचल्ला तथा

सर्दियों में—

पुनुगुविच्चपुअन्नमु, मिरियप्रपोडितोउड्डुकूरलु, मुक्कुकेक्कु अरवधाट्टु

---

१. 'कलोपूर्णोदय', १-८०-८२।

पच्चडुलु, उरुगायलु, पायसान्नमुलु, उडुकुनोचि, खूब पका हुआ दूध आदि खाते थे।[1]

मेलों-ठेलों पर जाने वाले 'पेरुगु चलरी' दही-चावल साथ लेकर नदी-नालों और कुओं-तालाबों पर बैठकर खाते थे। भैंस के दही में नींबू निचोड़कर, अदरक काटकर डालते थे। इसमें चावल मिलाने पर 'दध्यन्नमु' कहलाता था।[2]

(कृष्णदेव राय ने भोजनों का ऋतुओं के अनुसार वर्णन किया है। इसमें देश की शीतोष्ण स्थिति के साथ भोजनों में परिवर्तन किया गया है। यहाँ तक कि सर्दियों और गर्मियों के अचार भी अलग-अलग हैं।)

कलाएँ

विजयनगर साम्राज्य में कलाओं की उन्नति पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी। सम्राट्, सामन्त, सरदार तथा धनी-मानी सभी ने मन्दिरों तथा भवनों का निर्माण करवाया, जिससे शिल्प-कला अत्यधिक उन्नत हुई। राजा और प्रजा ने चित्र-लेखन, कविता, संगीत और रंगरेजी का पोषण किया। अच्युतराय कृष्णराय के बाद विजयनगर का पतन हो चुका था। फिर भी, वेंकटपतिराय तक के शासन-काल में चित्रकार मौजूद थे। उन्होंने भवनों तथा देवालयों की दीवारों पर मनोहर चित्र बनाये। अनन्तपुर के लेपाक्षीदेवी के मन्दिर के चित्रों को बाद के लोगों ने अपनी मूर्खता से बिगाड़ डाला। जो कुछ बचे हैं, वे बड़े ही सुन्दर हैं। उस मन्दिर में अच्युत राय के शिला-शासन मौजूद हैं। छत पर भी चित्र बने हुए हैं। खम्भों पर शिल्पकारी है। परन्तु बाद वालों ने उन पर चूना और गेरू पोतकर अपनी भोंडी चित्रकारी का प्रदर्शन किया है। खुदे हुए चित्रों में कई महादेव—शिव से सम्बन्धित चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं। तञ्जौर

---

१. 'आमुक्त माल्यदा', १-८७।

२. 'कलापूर्णोदय', ४-३५।

के बृहदीश्वरालय के चित्र भी विजयनगर-सम्राटों के बनवाये हुए हैं।

पीस ने लिखा है : "कृष्णदेवराय के अन्तःपुर भवन (रनिवास) में दीवारों पर स्वयं उनके और पिता के चित्र हैं। चित्र उन राजाओं की आकृतियों से खूब मेल खाते हैं। उन्हीं दीवारों पर भाँति-भाँति के अन्यान्य लोगों की प्रतिकृतियाँ भी हैं। वे चित्र पुर्तगालियों के हैं। इन चित्रों से रनिवास की नारियों को संसार-भर का ज्ञान प्राप्त होता था।" अब्दुर्रज्जाक ने लिखा है कि वेश्याओं के घरों की दीवारों पर शेर-बबर आदि जानवरों की तसवीरें होती हैं। ये जानवर सचमुच सजीव जान पड़ते हैं। प्रौढ़ कवि मल्लना ने कहा है कि दीवारों पर कृष्ण-लीलाएँ चित्रित होती थीं।

कृष्णदेवराय के शासन-काल में जो साहित्य-सृजन हुआ, उसमें और स्वयं कृष्णदेवराय की 'आमुक्त माल्यदा' में तत्कालीन सामाजिक इतिहास कूट-कूटकर भरा है। यदि पाश्चात्य यात्रियों का ब्यौरा हमें उपलब्ध न होता तो हम अपने साहित्य को कदाचित् 'कल्पना-मात्र' समझते। उन दिनों स्त्रियाँ भी शास्त्रोक्त रीति से 'तूलिका' से चित्र बनाती थीं। कूची को तूली-बागरा भी कहते थे। उसीको संस्कृत में एषिका तथा तूलिका कहा है। कृष्णदेवराय ने लिखा है कि पक्के चूने की दीवारों पर कूची से चित्र उरेहे जाते थे।

"पूबोडी (कुसुमांगी) शास्त्र सरजिन तूलिन हरिन्।"[1]

आगे चलकर सभा-भवन की चूने की दीवारों की चित्रकारी का वर्णन है।[2] पक्के चूने को तेलुगु में 'गच्चू' कहते हैं। मजबूत गच तैयार करने के लिए महीन बालू, गुड़ का पानी, तेल और चूना मिलाकर 'दंगु' में पीसा जाता था।[3] इतना तो हमारे साहित्य में मिलता ही है।

---

१. 'आमुक्त माल्यदा', ५-१४६।

२. वही, ४-५८।

३. 'मनु चरित्र', ५-३२।

किन्तु उसमें गोंद, हरड, भेंडी, अमृतवल्ली, बबूल की छाल आदि और मिला दी जाती थी। ऐसा चूना बड़ा टिकाऊ होता था।

अब यह सुनिये कि सार्वजनिक भवनों में किस प्रकार के चित्र खींचे जाते थे :

"आदि नारायण भगवान् का अमृत-मन्थन करके श्री लक्ष्मी से, चन्द्रशेखर श्री शंकर भगवान् का पुष्पशर कामदेव को भस्म करके श्री पार्वती से, श्री रामचन्द्र का शिव-धनुष तोड़कर श्री सीताजी से, तथा राजा नल का देवताओं को लज्जित करके भीमाधीश की दमयन्ती से विवाह करने की कथाओं तथा चित्तभव केलि-बंध विचित्र गतियों, हंस-कलरव कीर-रथांग कुगतियों आदि का चित्रण करके तत्स्वयंवर महास्थलांतिक-स्वर्ण-सौध कड्य....."[1]

इसके विपरीत वेश्याओं के घरों के भीतर दीवारों पर उनकी अपनी वृत्ति के अनुकूल चित्र चित्रित होते थे।

"वे रम्भा-कुबेर पुत्र, उर्वशी-पुरुरवा, मेनका-विश्वामित्र, गोपी-कृष्ण, मालिनी-रावण, मत्स्यलोचना-ऋष्यशृंग, मत्स्यगंधा-पराशर, तारा-चन्द्र, इन्द्र-अहल्या, द्रौपदी-पाण्डव इत्यादि अपने घरों की भीतों पर भी उरेहवातीं, जिनमें स्वयं उनकी बेटियाँ रहती थीं। इतना ही नहीं उनमें काम-शास्त्र के सिद्धान्तों का चित्रण भी सम्मिलित रहता था।[2]

विजयनगर के सम्राटों में भी कृष्णदेवराय ने ही उत्तमोत्तम मन्दिरों का निर्माण करवाया था। हजारारामालय तथा विट्ठलालय के मंदिरों की शिल्प-कला की प्रशंसा अच्छे-अच्छे शिल्पवेत्ताओं ने भी की है। कृष्णदेवराय का सभा-भवन अथवा 'दरबार' 'भुवनविजय' कहलाता था और राजमहलों को 'मलयकूट' कहते थे। 'मलयकूट' की दीवारों की चित्रकारी बहुत प्रसिद्ध थी। उनमें राजदूतों, नर्तकियों, बन्दीजनों, बन्दरों और शिकार तथा नाट्य-मण्डली के दृश्य भी चित्रित थे। मानो

१. 'राधामाधवम्', १-१४८।

२. 'काल हस्ती माहात्म्य'।

राज-भवन की चित्रकारी उस समय के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब रही हो। विजयनगर के विध्वंस से हमारे इतिहास को अपार हानि पहुँची है। राज-भवन के बड़े फाटक पर 'घटिका-यन्त्र' लगा हुआ था। घड़ियों के हिसाब से दिन-रात घण्टे बजाये जाते थे।

कृष्णदेवराय को साहित्य में ही नहीं संगीत-कला में भी दक्षता प्राप्त थी। सम्भवत: विजयनगर-सम्राटों के शासन-काल में ही दक्षिणी भाषाओं, तेलुगू, कन्नड़ और तमिल के संगीतों का समागम हुआ, और उन सबके लिए एक ही नाम 'कर्णाटिक संगीत' पड़ा। कृष्ण नामक संगीतज्ञ ने कृष्णदेवराय को संगीत सिखाया। उसने राय को वीणा बजाना भी सिखाया था। कर्णाटिक के नारायण कवि-रचित 'राघवेन्द्र विजयम्' में लिखा है कि राजा ने गुरु-दक्षिणा के रूप में मोती और हीरे के हारों की भेंट दी थी। शास्त्रीय संगीत की खूब उन्नति हुई। विशेष ऋतुओं में विशेष रागों की प्रधानता रहती थी। कहा जाता है कि पुर्तगाली राजदूतों के द्वारा अपना पुर्तगाली बाजा भेंट करने पर राजा बहुत प्रसन्न हुए थे। इस सम्बन्ध में बारबोसा ने लिखा है कि स्त्रियाँ गा-गाकर नित्य अनगिनत घड़े पानी से राजा को नहलाती थीं। दरबार लगने पर भी गाना होता था। उस युग की चित्रकारी में भिन्न-भिन्न नृत्यों, वाद्यों आदि को प्रदर्शित किया गया है। वेश्याओं ने नृत्य और संगीत की विशेष वृद्धि की। वह अपनी लड़कियों को दस वर्ष की आयु से पहले ही नृत्य-कला सिखला दिया करती थीं। दसवें वर्ष में प्रवेश करते ही उन्हें 'दवरासी' बना दिया जाता था। पीस आश्चर्य-चकित होकर लिखता है कि व्यभिचार-वृत्ति के कारण वेश्याओं का मान गिरने के बजाय राजाओं, सामंतों और धनी-मानियों द्वारा उन्हें खुल्लम-खुल्ला रख लिये जाने के कारण और बढ़ा ही है। वेश्याएँ राज-भवनों के अन्दर बे-रोक-टोक आती-जाती थीं। हजारा राम-मन्दिर के शिला-स्तम्भों पर रंग-बिरंगे आभूषणों के साथ मुसकुराती हुई वेश्याओं के चित्र खुदे हुए हैं। उनमें से कई तंग पायजामों पर लहँगा पहने

दिखाई गई हैं। नवरात्र के अवसर पर दोपहर के बाद वेश्याओं की कुश्ती भी होती थी। प्रत्येक शनिवार के दिन भगवान् की मूर्ति के सामने उनका नाच होता था।

विजयनगर में कुश्ती का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि मन्दिरों में नाट्य-मंडप होते थे। सानियाँ लड़कियों को नृत्य-कला सिखातीं या सीखती थीं। (वेश्या को सानी कहते हैं जैसे—रंगासानी, विमलासानी आदि।) सानियों के संगीत-नृत्य-कलाओं के गुरुओं को माफी में जमीनें मिल गई थीं। कन्नड़ तथा संस्कृत में संगीत-शास्त्रों की रचना हुई।

उस समय कूचि पूडी भरत-नाट्य की ख्याति अच्छी थी। इसके सम्बन्ध में भी एक रोचक गाथा है। माचुपल्ली रेकार्ड में लिखा है: "सम्बेटा गुरुवराजु अपनी प्रजा को दारुण दुःख दिया करता था। प्रजा यदि रकम तुरन्त न देती तो वह उनकी स्त्रियों को पकड़वाकर उनके स्तनों में 'चिमटे' लगवाता था। कूचिपूडी नाट्य-मण्डली विलुकोंडा, बेल्लमकोंडा से होती हुई माचुपल्ली पहुँची, जहाँ पर उन्होंने गुरुवराजु का व्यवहार देखा। मण्डली तुरन्त वहाँ से चल पड़ी और विजयनगर पहुँची। वीर नरसिंहराय वहाँ का शासक था। नाट्य-मण्डली ने दरबार में हाज़िर होकर नाचने की अनुमति माँगी, जो तुरन्त मिल गई। यथा-समय रंगमंच पर मण्डली वालों ने गुरुवराजु के दरबार का दृश्य पेश किया। एक ने सम्बेटा गुरुवराजु का स्वाँग किया, दो उसके सिपाही बने, तीसरे ने स्त्री का रूप धारण किया। गुरुवराजु का दरबार लगा। सिपाही स्त्री को घसीट लाये, राजु के आदेश पर सिपाही स्त्री के स्तनों पर 'चिरतलु' (चिमटे) लगवाकर रकम का तकाजा करने लगे···राजा को बोध हुआ कि असली बात क्या है। दूसरे दिन सवेरे उसने फौज को कूच का हुकुम दिया और इस्माईलखाँ को, जिसने राजा का बेटा कहलाने की ख्याति पाई थी, उस फौज का सरदार बनाकर रवाना कर दिया। इस्माईलखाँ ने गुरुवराजु को युद्ध में परास्त करके गिरफ़्तार किया और उसका सिर काटकर विजयनगर के राजा के पास ले आया। किले

के अन्दर राजू की सभी स्त्रियों और बच्चों ने शरीर त्याग दिये।"

तब से आज तक कूचिपूडी वालों ने भरत-नाट्य की रक्षा करके देश-भर में उसका प्रचार किया है। 'वेंकटनाथ पंच'[1] के अनुसार कृष्णा-गोदावरी मण्डलों में 'जंगम' जाति के लोग परदे डालकर नाटक खेला करते थे।

वास्तव में 'आंध्र' भाषा संगीत के लिए अत्यन्त अनुकूल भाषा है। सारे दक्षिण भारत में कन्याकुमारी से कटक तक अन्य दक्षिणी भाषा वाले भी तेलुगू गीतों को गाया करते हैं। विजयनगर के सम्राटों के कर्णाटकी होने के कारण उनके पोषकत्व में जिस आंध्र-संगीत की उन्नति हुई उसका नाम भी 'कर्णाटक संगीत' पड़ा। वास्तव में उसका नाम आंध्र-संगीत था। आंध्र राजाओं ने संगीत की विशेष कृष्टि की थी। तंजावर के रघुनाथराय ने 'रघुनाथ मेला' (रघुनाथ बजा) नामक एक नई वीणा को जन्म दिया। पूर्वकाल में एक राग का नाम ही 'आंध्री राग' था, अर्थात् जिस प्रकार 'गांधारी राग' एक प्रकार के संगीत का प्रतीक है, उसी प्रकार आन्ध्र देश एक और प्रकार के संगीत के लिए प्रसिद्ध था। उसीको आज 'कर्णाटक संगीत' कहते हैं :

"बिन्नावनीतु पौराली वेगवंती तु पंचमा।
आंध्री गांधारिका चैव सत्स्युमलिव पंचमात॥"

तेलुगू देश के संगीतज्ञों ने उत्तर हिन्दुस्तान में जाकर पराई भाषा फ़ारसी में गाकर मुसलमान बादशाहों तक को रिझाया था। विट्ठल नामक एक व्यक्ति ने 'संगीत रत्नाकर' पर भाष्य लिखा था। उसका पिता २२ प्रकार के रागों में प्रवीण था, जिसके लिए गुजरात के मांडवी सुलतान ग़यासुद्दीन मुहम्मद ने एक हजार तोला सोना भेंट करके उसका सम्मान किया था।[2]

---

१. ४—२४०।

२. श्री मानवल्ली रामकृष्ण कवि Journal of Andhra H. R. Vol. X J—P. 174.

उस युग में तेलुगू साहित्य में गोंडली नृत्य की चर्चा बार-बार आती है। श्रीमान् वल्लीराम कृष्ण कवि ने लिखा है—"जाय सेनानी अपनी 'नृत्त रत्नावली' में······चालुक्य भूलोक मल्लसोमेश्वर ने उसका प्रचार किया।" इन शब्दों के साथ मानवल्ली ने निम्नोक्त प्रमाण उद्धृत किये हैं :

"कल्याण कटिके पूर्वम् भूत भातु महोत्सवे,
सोमेश: कुतुकी कांचित भिल्ल वेषमुपेयुषीम
नृत्यन्तीमथ गायन्तीम स्वयं प्रेक्ष मनोहरम्
प्रीतो निर्मितवान चित्रम् गोंडली विधिमत्पयम्
यतो भिल्ली महाराष्ट्रे गोंडीगीत्याभिदीयते।"

इससे जान पड़ता है कि आजकल जंगली कहलाने वाले गोंडों की नृत्य-कला देश-भर में फैल चुकी थी। वही गोंडनी बाद में गोंडली हो गया है। 'आमुक्त माल्यदा'[1] से प्रतीत होता है कि नृत्य-कला में मुकाबले और होड़ें हुआ करती थीं। निर्णायकगण उत्तम-मध्यम आदि क्रमों के अनुसार कलाकारों को पुरस्कृत करते थे। कृष्णदेवराय ने अपनी कविता में बाजों के भी बीसियों नाम गिनाये हैं—"मृदंग, उपांग, बावजम्, दंडे, ताल, बुरूमाविन्नर, सन्नागालँ, वीणा, मुखवीणा, वासे ग्रोलु, भौरी, भेरी, गौरु, गुम्मेट, तम्मेट, डुक्की, डक्की, चक्की, चुप्पकी इत्यादि असंख्य वादित्रत्रियम परम्परा······।"[2]

विजयनगर-युग को तेलुगू साहित्य की दृष्टि से प्रबन्ध-युग नाम से याद किया जाता है। इस युग में महान् कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। कवि-सार्वभौम, आन्ध्र-कविता-पितामह, साहित्य-रस-पोषण, संविधान-चक्रवर्ती ये सब इसी युग में हुए। राजाओं ने जिस ज़ोर से तलवार चलाई, उसी वेग से गंटम (लोहे की कलम) को भी चलाया। स्त्रियों ने भी संस्कृत तथा आन्ध्र-भाषा में सुन्दर कविताओं की रचना की।

१. ४—३६।
२. 'आमुक्त माल्यदा', ४—३५।

गंगादेवी, तिरुमलाम्बा, रामभद्राम्बा आदि सुप्रसिद्ध कवयित्रियाँ थीं। गोलकोंडा के मुसलमानी नामों को तेलुगू का चोला मिला। इब्राहीम को 'इन्नाराम' का रूप दिया गया।

इस प्रकार आन्ध्र में भिन्न-भिन्न कलाओं ने चौमुखी उन्नति करके देशवासियों तथा विदेशियों को मुग्ध कर दिया था।

पंचायत

उस समय आजकल की-सी अदालतें नहीं थीं। गाँव-गाँव में गाँव के प्रमुख व्यक्ति बदले में कुछ पाने के लोभ से मुक्त रहकर झगड़ों-तकरारों का फैसला किया करते थे। 'विज्ञानेश्वरी' ही उनके लिए प्रामाणिक धर्मशास्त्र था। सभा अथवा पंचायत ही अदालतें थीं। उसके सदस्य ब्राह्मण होते थे। पंचायत के फैसले के विरुद्ध राजा के पास पुनर्विमर्श की प्रार्थना (अपील) की जा सकती थी। साधारणतया पंचायत का फैसला पलटता नहीं था। झगड़े दो प्रकार के होते थे। एक धनोद्भव (दीवानी) और दूसरे हिंसोद्भव (फौजदारी)। दोनों की ही सुनवाई ग्राम-पंचायतें करती थीं। विशेष अभियोग की सुनवाई राजा स्वयं करता था। राजा भी सभा वालों को बुलाकर उनकी सलाह से फैसले सुनाता था।

सभा की बैठक चावड़ी (चौपाल) में अथवा मन्दिर या बीच गाँव में बने हुए रच्चँ कट्टा (पंचायती चबूतरा) पर हुआ करती थी। रच्चँ (सार्वजनिक) इसलिए कहा गया कि खुली बहस होती थी।[1] जब राजा सुनवाई करता तो विद्वानों को बुलाकर कसूरवार का कसूर सुना देता और कहता कि वे शास्त्रों को देखकर बतायें कि इस अपराधी को क्या दंड दिया जाना चाहिए।[2]

एक बार की बात है कि एक वैष्णव और एक जैन के बीच लेन-

१. 'आमुक्त माल्यदा', ४—१११।
२. 'परमयोगी विलासमु', पृ० ३५०।

देन के मामले में तकरार हो गई। मामला राजा के पास पहुँचा। राजा ने कुछ प्रमुख व्यक्तियों की सभा बुलवाकर मामला सुना दिया और एक तारीख़ मुकर्रर करके कहा कि वे अमुक दिन तक अपना फ़ैसला सुना दें। सभासदों के सामने दोनों फरीकों ने अपनी-अपनी बातें रखीं। इस पर सभा वालों ने पूछा, 'कोई गवाह है।' उन्होंने काग़ज़-पत्र सामने धरकर कहा, 'देखिए इस पर गवाह दिये हैं।' गवाहों के सामने पत्र ज़ोर से पढ़कर सुनाया गया। सब-कुछ सुन-समझकर सभा ने अपना फैसला दिया।[1] इसी ग्रन्थ में आगे[2] कहा गया है—"मुद्दई मुद्दालेय 'रच्चा कट्टा' पर सभा को नज़र-भेंट देकर अर्ज़ी सुनाकर फ़ैसला चाहते हैं। झगड़ा ज़मीन का है। सभा वालों ने पूछा, 'ज़मीन तुम्हारी है, इस बात की कोई गवाही है ?' इस पर मुद्दई ने कहा—'जब हमारे पुरखों को यह जमीन मिली थी तब के गवाह आज तक जीवित ही कैसे रह सकते हैं ? वे तो कभी के जाते रहे।' सभा ने पूछा, 'तो तुम्हारे पास कोई काग़ज़-पत्र हैं ?' जवाब मिला, 'हमारे सातवें दादा को जो काग़ज़-पत्र मिले थे वे इतने वर्ष तक कैसे रह सकते थे ? कोई ताम्र-पत्र थोड़े ही थे ?' तब सभा ने कहा—'अच्छा, 'सत्यम्' लो, यानी क़सम खाओ।' इस पर उसने ईश्वर की कसम खाई और मुकद्दमा जीत गया।"

ऊपर की बातों से उस समय के पंचायती विधान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पहले बयान, फिर काग़ज़-पत्र की या मनुष्य की गवाही; और अन्त में कुछ न हो तो क़सम खाना। इसी पर शास्त्रों को देखकर फैसला दिया जाता था। क़सम खाना कोई मामूली बात नहीं है। लोग मानते थे कि झूठी क़सम खाने पर वंश-नाश होता है और दरिद्रता घेरती है। इसी प्रकार पंचायत के सदस्य भी झूठा फैसला देने से डरते थे। 'वेंकटेश शतक' के आधार पर हम पीछे कह आए हैं कि कहीं-कहीं घूस खाकर झूठा फैसला देने वाले पंच भी होते थे, किन्तु बहुत कम।

१. 'परमयोगी विलासमु', पृ० ३४०।
२. पृ० ५३२-३ पर।

समाज के अन्दर ऐसे लोगों की कोई कद्र नहीं थी। पंचायत की विशेषताओं को उस समय के तेलुगु-साहित्य में बार-बार दरसाया गया है। वही उत्तम पद्धति थी। अंग्रेजी अदालतों, वकीलों, कानूनों, कानून की बारीकियों, झूठ और बेईमानियों के इस युग में उन प्राचीन पंचायतों की पुनःस्थापना कदापि सम्भव नहीं।

इस अध्याय के आधार-ग्रन्थ

(१) श्री कृष्ण देवराय-कृत **'आमुक्त माल्यदा'**—श्री वेदम् वेंकटराय शास्त्री ने इस पर व्याख्या लिखी है। कलापूर्णा से एक बार पूछे जाने पर इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में एक ही बात में कहा था कि "श्री कृष्णदेव राय ने इसे लिखा है और कवि सार्वभौम अल्लसानि पेद्दना ने उसे देखा है।" निश्चय ही यह श्रीकृष्ण देवराय की रचना है। इसमें सम्पूर्ण लोकानुभाव विद्यमान हैं। पग-पग पर सामाजिक इतिहास के मसाले हैं। इस दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में इसे तेलुगू-साहित्य में अग्रस्थान प्राप्त है। अपूर्व स्वाभाविक वर्णनों तथा सरल व्यंग्यों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। यदि इस ग्रन्थ पर 'सर्वतन्त्र स्वातन्त्र्य' की व्याख्या न होती तो आधी बातें हमारी समझ से बाहर ही होतीं।

(२) **परमयोगीविलासमु**—रचयिता पाडलापाका तिरुवेंगलनाथ। यह एक द्विपद काव्य है। वेंगल कवि को 'चिन्नन्ना' के नाम से भी याद किया जाता है। इसी कवि के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि द्विपद का जानकार तो चिन्नन्ना ही है। 'वेणुगोपाल शतक' के रचयिता ने इसीको 'अलताडला पाका चिन्नन्ना' की गाली दी थी। इसकी कविता में पंक्ति की पंक्ति छाप बैठने वाला संस्कृत समास एक भी नहीं है। सब जगह तेलुगू बोल ही विद्यमान हैं। यह अवश्य है कि विद्वत्ता में इसका स्तर पालकुरिकी सोमनाथ तथा गौरेना से गिरा हुआ है। किन्तु अपने सामाजिक इतिहास के लिए यह बड़े ही काम की वस्तु है। इस दृष्टि से 'वसु चरित्र', 'मनु चरित्र' इत्यादि प्रबन्ध-ग्रन्थों की अपेक्षा यह

द्विपद कविता कहीं उत्तम है।

(३) **मधुराविजयम्**—रचयित्री गंगादेवी। यह संस्कृत भाषा का एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसे प्रकाशित करने वाले इतिहास-विशेषज्ञों ने इस बात को सिद्ध किया है कि इसमें सच्चा इतिहास भरा है। कविता सुन्दर है। अन्य भाषाओं में टीका-सहित प्रकाशित करने योग्य है।

(४) **कृष्णराय-विजयम्**—लेखक कुमार इर्भटी। कविता साधारण है, ऐतिहासिक जरूर है, किन्तु हमारे काम की कम।

(५) **श्री कालहस्ती माहात्म्यम्**—लेखक इर्भटी। केवल तीसरा आश्वास ही कुछ काम का है।

(६) **राधा राघवम्**—लेखक एल्लानार्य कवि।

(७) **कला पूर्णोदयम्**—लेखक पिंगलि सूरना। इन दोनों से कुछ-कुछ सहायता मिलती है।

(८) Vijaynager sexcentenary commemoration Volume (1936). यह बहुत काम की वस्तु है। किन्तु इसमें राजवंशों तथा उनके शासन-काल का विवरण नहीं है। इसे कर्णाटक के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से लिखा गया है।

(९) Social and political life in Vijaynager Empire by Salatore, दो खण्डों में।

यह है तो बहुत अच्छी, किन्तु कर्णाटकी दृष्टिकोण से लिखे जाने तथा लेखक के तेलुगू से अनभिज्ञ होने के कारण उतनी उपयोगी नहीं है।

: ५ :

विजयनगर राज

(सन् १५३० से १६३० तक)

कृष्णदेवराय के बाद भी विजयनगर राज्य की दशा सन् १५६५ ई० तक उज्ज्वल ही रही, किन्तु सन् १५६५ ई० में तालीकोट के युद्ध में उसको भारी धक्का लगा। दक्षिण के सभी मुसलमान सुलतानों ने एक होकर विजयराजु के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध में उसकी हत्या कर डाली और उसकी सारी सेनाओं को तितर-बितर करके विजयनगर पर अधिकार जमा लिया तथा लगातार छः मास तक उसको तहस-नहस करते रहे। फिर भी विजयनगर की ताकत टूटी नहीं। तिरुमल देवराय पेनुगोंडा को अपनी राजधानी बनाकर शासन करता रहा। उसके बाद श्री रंगराय राजा हुआ। वह बहुत दुर्बल राजा था। अपनी दुर्बलता के ही कारण उसने अपनी राजधानी पेनुगोंडा से बदलकर चन्द्रगिरी में रखी। अन्त में सन् १६३० के बाद विजयनगर साम्राज्य का पतन हो गया। केवल उसकी एक शाखा तंजावूर में दो पीढ़ियों तक शान के साथ शासन करती रही।

वरंगल के काकतीय राज्य के पतन के बाद विजयनगर ने लगभग २३० वर्ष तक दक्षिण के हिन्दुओं को मुसलमानों के आघात से बचाये रखा। सन् १६०० के बाद आन्ध्र का सारा प्रान्त दक्कन के सुलतानों के अधीन हो गया। इसी बीच भारत भूमि पर फरांसीसियों और

अंग्रेजों का पदार्पण हुआ। वे भी देश को लूटने की नीयत से ही यहाँ आये थे। रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण ही उनका उद्देश्य था। सन् १६०० से १८०० तक आन्ध्र देश के अन्दर अराजकता का तांडव नृत्य होता रहा। वह एक अन्धकारमय युग था। कम-से-कम उत्तर सरकार तथा रायल सीमा के प्रान्तों को तो सन् १८०० ई० के बाद किसी प्रकार से साँस लेने का अवसर मिल भी पाया, किन्तु तेलंगाना तो कल तक पतनावस्था में ही रहा और वहाँ की जनता असहनीय यातनाएँ सहती रही।

धर्म

कृष्णदेव राय के समय जो स्थिति आन्ध्र की थी उसमें कुछ विशेष परिवर्तन तो नहीं हुआ, किन्तु बाद के साहित्य से जिन थोड़ी बहुत विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है उनकी चर्चा करना जरूरी है। मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर तथा उनके धर्म और संस्कृति पर निरन्तर आक्रमण होते रहने के बावजूद हिन्दू राजाओं ने सुलतानों के प्रति शुद्ध राजनीतिक विरोध भाव ही रखा। उनके मजहब के विरुद्ध कोई द्वेष भाव नहीं दिखाया। जनता ने भी इस्लाम धर्म का विरोध नहीं किया। पल्नाडि प्रान्त में मुसलमानों की कब्र तक पल्नाडि वीर-मन्दिर के अहाते के अन्दर ही बनी हुई है। आज भी वहाँ के मुसलमान कार्तिक के महीने में पल्नाडि के वीर-पूजा-समारोह में भाग लेते हैं। गुलबर्गा के अन्दर मशहूर वली की दरगाह के बारे में प्रसिद्ध है कि उसके भवन को नारायण महाराज नामक किसी सेठ ने बनवाया था। पेनुगोंडा के बाबा वली की दरगाह के नाम सालुवा नरसिंह राय ने माफी में कुछ गाँव दे दिये थे। उस दरगाह को बाद के राजाओं ने भी अनेक दान दिये। जटिल वर्मा कुलशेखर पांड्य राजा ने शालिवाहन सम्वत् १४७७ में एक मसजिद के नाम एक गाँव दिया था। वरंगल में भी मसजिदें बनी थीं। 'क्रीडाभिरामम्' में एक मसजिद को लक्ष्य करके कहा गया है कि यही 'करतार' की मसजिद है। पर न जाने वह करतार कौन

था—वली या बादशाह; क्योंकि मुसलमानों में करतार नाम नहीं होता।

"कर्तार-कर्तार कहकर मुसलमानों के भजने पर पूरब दिशा में......।"[1] पद्य सन् १५८५ के लगभग के कवि मल्लन का है। इससे विदित होता है कि उस समय मुसलमान सूर्य को करतार कहते थे, और उसको पूजते थे। किन्तु इस्लाम अथवा उससे सम्बन्धित सम्प्रदायों में करतार का शब्द नहीं मिलता। कवि रामराजु ने 'साम्बोपाख्यान' में रमजान के रोजे (उपवास) के सम्बन्ध में यों कहा है :

"मुसलमान उत्तरायण में जब रोजा रखते, तब चमेली की सुगन्धियों से भी बचते। वे मोतिया चमेली के सफेद फूलों को देखकर विरह-वेदना को जीतने के उद्देश्य से दुगनी नमाजें पढ़ते।"[2]

शैवों तथा वैष्णवों के बीच परस्पर वैमनस्य पूर्ववत् चलता रहा। एक वैष्णव आचार्य विप्रनारायण पर शैवों ने चोरी का अभियोग लगाया और मामले को पंचायत में ले गए। वैष्णवों को इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने आपस में कहा—"ये तो पहले से ही हमारे धर्म के शत्रु हैं। 'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या' का प्रचार करने वाले मायावादी अपने लोगों के घोर अपराधों पर भी पर्दा डालते हैं, पर हमारी छोटी त्रुटियों की राई को भी पहाड़ बनाकर पंचायतों में ले जाते हैं। तब क्या वे विप्रनारायण को सहन कर सकेंगे? कदापि नहीं। तुम लोग चाहते हो कि लोग (अद्वैतवादी) विप्रनारायण को चोर न कहें, व्यभिचारी न कहें, अनाचारी न कहें? अच्छा तो तुम वैष्णवजन इसके लिए एक 'ब्रह्मरथ' उत्सव करो!" इस प्रकार उन्होंने व्यंग्य किया। ब्रह्मरथ एक प्रकार का सम्मान-सूचक समारोह होता है। जिसका अतिशय आदर करना हो, उसे एक रथ में बिठाकर सभी ब्राह्मण अपने हाथों से रथ को खींचते हुए बाजार में उस व्यक्ति का जलूस निकालते थे।

१. 'विप्रनारायणचरित्र', चदलवाडॅ मल्लय्यॅ।

२. 'साम्बोपाख्यान', रामराजुरंगप्पा, २-१०३, यह १५६० के लगभग हुआ है।

इस साम्प्रदायिकता ने ही हिन्दू-समाज को सबसे अधिक हानि पहुँचाई है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के परिवार-के-परिवार अपने सम्प्रदाय के नाम पर आजीविका कमाने लगे। शैवों ने मठों का आश्रय लिया। दूसरे अपने-आपको वैष्णव बताकर मन्दिरों में रहने लगे। उस समय धर्म का नाम लेकर भीख माँगने वालों की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। अनेकों नम्बीजन दासरी बुट्टा (झोला) टाँगे घर-घर भीख माँगने लगे।''[1]

अर्थात् श्री रंगधाम ही सबसे बड़ा मन्दिर है, इस टेक का कोई तमिल गान रहा होगा। माडाभूषि मठम् वेंकटाचार्य ने अपने 'पाशुर परिमल-मुलु' में लिखा है : ''तिरुवरंगम् शब्द तमिल भाषा में श्री रंगम् के लिए प्रयुक्त होता है। तिरुवरंगम्, तिरुमाला भी इसीके रूपांतर हैं। द्रविड़ दिव्य प्रबन्ध के प्रथम हज़ार गद्यों में से यह श्री है। प्रसिद्ध विप्रनारायण ने आन्ध्र में इसका विपुल गायन किया था। एक भी आन्ध्र ऐसा न होगा जो विप्रनारायण के चरित्र अथवा उसके 'वैजयन्ती-विलासम्' से अनभिज्ञ हो। बारह आलवरों में वह भी एक हैं। तिरुमला श्री वैष्णव आलयों में उसके इस गान का सदा गायन हुआ करता है।'' माडाभूषि ने उसी तमिल गान का तेलुगू में अनुवाद किया है। कुछ नमूना इस प्रकार है :

''एक ही बाण से महा जलधि के दर्प को कुचलकर सारे जग के कुतूहल को बढ़ाते हुए युद्ध में रावण का संहार करके भगवान् रामचन्द्र श्री रंगनाथ भगवान् के इस उत्कृष्ट मन्दिर में विराजमान हैं। यदि उस भगवान् का स्मरण न करें तो भला उस करुणा से वंचित रहकर कैसे उद्धार पा सकते हैं।'' बिकिटम, (भिक्षा) जोगु, गोपालम् आदि नामों पर कुछ माँग खाने लगे।[2] जोगु उस भिक्षा को कहते हैं, जो एक्कलि देवी के नाम पर जक्कु जाति माँगा करती है। हम पीछे कह आए हैं कि

१. 'वैजयंती-विलासम्', ३-६२; तिरुवंगम् पेरिय कोविल।
२. 'विप्रनारायण चरित्र', ३-१५।

जक्कु 'यक्षु' का बिगड़ा हुआ स्वरूप है। (एककलि का सम्बन्ध भी यक्षी से जान पड़ता है।) गोपालम् की चर्चा भी 'संध्या-गोपालम्' के शीर्षक से हो चुकी है। (संध्या-गोपालम् की भिक्षा का आरम्भ ऐसा तो नहीं कि दिन-भर गांव की गायें चराने के बाद चरवाहा शाम को हर गाय वाले के घर की फेरी लगाकर भोजन लेता रहा हो ? और इसीने पीछे भिक्षा-वृत्ति का रूप ले लिया हो ?—अनु०)।

श्री रंगम् में 'रामानुज कूटम' थे।[1] ये कूटम आन्ध्र देश के अन्दर थे कि नहीं, कहा नहीं जा सकता।[2] तम्बली के सम्बन्ध में पीछे लिखा जा चुका है। वे शिवालयों के पुजारी होते थे। तम्बली के शब्दार्थ क्या हैं, इस पर पीछे कुछ चर्चा हुई है। उससे अधिक कुछ पता नहीं। वे अब भी मन्दिरों में ब्राह्मण-भोजन के लिए पत्तल ला दिया करते थे। (दक्षिण में खास-खास जाति के लोगों के हाथों में रहकर पत्तलों की भी एक कला-सी हो गई है। उनकी सिलाई मशीन की-सी बारीक और सुन्दर होती है।) तम्बली पत्तलें मुहैया करते थे। तिरुमल देवराय के एक शिला-शासन में उल्लेख है कि तम्बलियों की प्रार्थना पर पत्तल का काम बन्द करके उनको मन्दिर की देख-भाल का काम दिया जाता है।[3]

विष्णु अथवा शिव के मन्दिरों के बनने के बाद मूर्ति की स्थापना के समय शैव भी और वैष्णव भी अपने-अपने ढंग पर पूजा करते तथा 'उत्सव' मनाते थे। (मूर्ति को पालकी में बिठाकर कंधों पर जलूस निकाला जाता है, इसीको उत्सव कहते हैं।) उत्सवों में वैष्णव द्वादश पुंड्रकधारी होकर, (माथे, भुजा, पेट, गले आदि शरीर के बारह स्थलों पर तिलक लगाना) तथा गले में तिरुमणिवडम (कमल के दानों की

---

१. 'विप्रनारायण चरित्र', २, ६।

२. रामानुज कूटम के अर्थ हैं रामानुजाचार्य के अनुयायी वैष्णवों का एक जगह इकट्ठा होना। इस कूटम में सभी वैष्णवों को मुफ्त भोजन मिला करता था। ये आन्ध्र देश में भी थे।

३. Salatore, खंड दो।

माला) पहनकर जाया करते थे। चर्वा तथा (लोटा) तिरुपागुडा (तिलक पेटी) भी हाथ में रखते थे।[1] वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए वैष्णव कवियों ने भी प्रयास किया। 'साम्बोपाख्यान' के रचयिता रामराजु रंगप्पा ने लिखा है : "सिद्धान्त-दर्पण नामक एक गुरु महाराज हस्तिनापुर जाकर भीष्म, द्रोण और विदुर आदि को पंच संस्कारों से संस्कृत करके (मुद्रा-धारण की प्रक्रिया जिसके सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में लिखा जा चुका है) शरणागत धर्म तथा भागवत-वात्सल्य (शरणागत की रक्षा तथा भगवद्-भक्तों के प्रति श्रद्धा) का उपदेश देकर, हरि-कथा-कीर्तन करके, अष्टविधि भक्ति प्रकारों, नवविधि भक्ति युक्तियों, तिरुवाराधन (पूजा) मर्यादाओं इत्यादि परम वैष्णव-सिद्धान्तों को बुद्धिगोचर करते थे।"[2]

(प्रचार ऐसा करते थे मानो वैष्णव शैव के झगड़े महाभारत-काल में भी रहे हों।) वैष्णव मन्दिरों के पुजारी दादा-परदादा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे हैं। भगवान् का सारा भोग वही भोगते हैं। भक्तों का दिया हुआ दिया-बत्ती का तेल भी बहुत-कुछ उन्हींके घरों में जलता है। भक्तों की दक्षिणा आदि चढ़ावों से अच्छी आमदनी होती है। 'विप्रनारायण चरित्र' से मन्दिरों के पुजारियों के जीवन-विधान पर कुछ प्रकाश पड़ता है : "यदि कुछ भूल हो जाय तो क्या हुआ। इतना ही ना कि (मन्दिर का) दिया गुल हो जायगा, बुझ जायगा ? ! नाराज़ क्यों हो, घूँघरी के दो दाने ही तो खा लेंगे ? ! कुछ भोग-सामग्री ही तो ले जायँगे ? ! मन चला तो बड़े का एक टुकड़ा ही तो मुँह में डाल लेंगे ? ! धोखा देंगे तो बस दो-चार पसेरी चावल ही तो उड़ा ले जायँगे ? ! बहुत हुआ तो एक धेली-अधेली, एक फटी धोती या एक सुपारी झंडी, बस और क्या ? !"[3]

लोग लक्ष्मी की पूजा करते थे। यह शरद् ऋतु में होती थी। उस

१. 'साम्बोपाख्यान', ४-१४२।

२. वही, ४-१५२।

३. 'विप्रनारायण चरित्र', ५-१६।

त्यौहार के अवसर पर रसिकजन, वेश्याओं को पंडुगा दंडुगा (त्योहार का दंड) भरते थे। इस दण्ड की तफ़सील भी दी गई है। अपने घर पर विटों के दिये बकरे की मीठी आवाज़ कानों में पड़ती तो वेश्याओं को बड़ी उत्कण्ठा होती। इस प्रकार रुपये, साड़ियाँ, पान-सुपारी, बकरे आदि सभी चीजें वेश्याओं को त्योहार की भेंट के रूप में दी जाती थीं।[1] इस वर्णन से प्रतीत होता है कि यह अवसर दीवाली का ही होता होगा। आजकल सानियाँ दीवाली के दिन सवेरे ही सूरज उगने से पहले ही धनी-मानियों के घर जाकर आरती उतारती हैं और इनाम के रूप में आरती में रुपये छोड़े जाते हैं।

संतान की लालसा एक सामान्य बात है। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'-जैसी शास्त्रोक्तियों के कारण हिन्दू आज भी पुत्र-प्राप्ति के लिए असहनीय यातना झेलकर देव-ब्राह्मण को प्रसन्न करते हैं। उन दिनों तो और भी बुरा हाल था। व्रत-उपवास रखना, यज्ञ-जाप करना, ब्राह्मण-परिवारों को अन्न-दान करना, 'शान्ति रचना,' पयस्सत्र (दूध के भंडार) खोलना, तीर्थ-यात्राएँ करना, देवी-देवताओं के दर्शन करना, दानधर्म करना, देवताओं के स्तोत्रों का पाठ करना, 'पोरलु' दंडवत् लगाना (पैरों पर न चलकर जमीन पर लोटते हुए मन्दिर की परिक्रमा करना), जो भी मूर्ति दिखे उसकी पूजा-मन्नत करना, जो भी दान कोई बतावे वही करना आदि संतान-प्राप्ति के लिए आम बात थी। लोग कुछ भी उठा नहीं रखते थे। संतान के लिए तरसते रहते थे और तबाह होते रहते थे।[2]

('पोरलुदंडम्' का एक और भी भयंकर रूप उत्तर भारत में है। विन्ध्याचल-माई आदि देवियों के दर्शन को जाने वाले कितने ही मन्नतों वाले यात्री बीसियों मील तक अष्टांग-स्पर्श से धरती को नापते जाते हैं। इसमें आगे की चमड़ी तक छिल-छिल जाती है।—अनु०)

वैष्णव-धर्म के प्रवर्त्तक श्री रामानुजाचार्य के समय श्रीपति पंडित

१. 'वैजयंती विलास'।

२. 'मल्हणचरित्र', अ० १ पृ० १३।

के मतानुसार तिरुपति के शैव भगवान् वीरभद्र के वंगलय्या बनाये जाने पर उनका प्रभाव सारे आंध्र में जोरों से फैल गया। सन् १५०० ई० में ही तिरुपति का माहात्म्य सारे दक्षिण देश में व्याप्त हो गया था।

तिरुपति बालाजी के भक्त दक्षिण में लाखों-करोड़ों हैं। उत्तर-भारत में वैष्णव-सम्प्रदाय के हजारों ब्राह्मण, मारवाड़ी आदि भी वहाँ दर्शन के लिए जाते हैं। ऊपर के वाक्य का मतलब यह है कि पहले यह शैव-मन्दिर था और उस मन्दिर में आज जो मूर्ति है वह शैव वीरभद्र की मूर्ति थी। वीर वैष्णवों ने उसे बलात् विष्णु-मन्दिर घोषित कर दिया।

बालाजी भगवान् को वेंकटेश्वर (वेंकट+ईश्वर) कहते हैं। यह वेंकट शब्द न तो संस्कृत का है, और न तेलुगू, कन्नड़ आदि का ही। फिर भी हमारे पंडितों ने उसके विचित्र-विचित्र अर्थ निकाले हैं; वेम= पाप, कट=काटने वाला अर्थात् पापों को काटने वाला भगवान्। असल में 'वेंगल' तमिल शब्द है, जिसका शब्दार्थ है उज्ज्वल पहाड़। मन्दिर पहाड़ पर है, इसीलिए यह नाम पड़ा होगा। लाखों-करोड़ों उसके दर्शन से 'तर जाते हैं'। 'तरने' के लिए भक्तजन क्या-क्या कष्ट भोगते हैं, वह भी सुनिये :

"कुछ भक्तजन उपवास पूर्वक यात्रा करते थे। इससे उनके शरीर कृश हो जाते थे। कुछ मुँह में ताला लगाकर चलते थे, ताकि कहीं धोखे से भी मौन का भंग न हो जाय! मन्नतें पूरी होने पर आने वाले लोगों की भी बड़ी भीड़ होती थी। वे सभी सिर के बाल बढ़ाए होते थे। जान हथेली पर लिये सँभल-सँभलकर चलना होता था। कुछ लोग शारीरिक पीड़ा की परवाह न करके पोरल-प्रणाम [लोट प्रणाम] करते हुए आते थे। कुछ कोस-कोस पर बैठकर प्रार्थना-प्रणाम करते थे, तो कुछ पग-पग पर प्रणाम करते चलते थे। इस प्रकार करोड़ों भक्तजन 'पन्नगसार्वभौमा-चलेन्द्र वेंकटेश भगवान्' को सेवते थे।

रास्ते में भाँति-भाँति के भेस बनाकर भीख माँगने वालों का ताँता

लगा रहता था। यह भीड़-की-भीड़ पापनाशिनी पुष्करिणी आदि तीर्थों में स्नान करके भगवान् वेंकटेश तथा वामन भगवान् के दर्शन करती थी।[1]

सन् १३०० ई० के लगभग के कवि मंचना ने अपने 'केयूर बाहु-चरित्र' में जातरा (यात्रा) तथा रथोत्सवों की चर्चा की है। प्रत्येक प्रधान देवालय पर वर्ष के किसी नियमित दिवस अथवा घड़ी पर रथोत्सव होता था। इस अवसर पर भगवान् की मूर्ति को सुन्दर सजाये हुए ऊँचे से रथ में बिठाकर जलूस निकाला जाता है। सैकड़ों-हज़ारों भक्तजन ज़ोर लगाकर बड़े-बड़े रस्सों से रथ को खींचा करते हैं। रथोत्सव के अवसर पर दूर-दूर से यात्री वहाँ पहुँच जाते हैं। यही यात्रा शब्द तेलुगू में 'जातरा' बन गया है।

इन 'जात्राओं' में कैसे-कैसे लोग होते थे और वे क्या-क्या करते थे, इसका वर्णन महाकवि कदरीपति (सन् १६०० ई०) ने यों दिया है :

"भीड़ में अपने लोगों से बिछुड़कर घबराई हुई स्त्रियों को कुछ दुष्ट-जन घर वालों से मिलाने का बहाना करके अपने साथ विजन जंगलों में ले जाते थे, और उन अबोध अबलाओं को धरती पर पटककर मान-भंग करके छोड़ देते थे। भाग्यवश अपने सास-ससुरों में मिलने पर ये युवतियाँ वैसे ही चुप लगाये रहतीं, जैसे चोरी करते समय चोर बिच्छू के डंक मारने पर भी शान्त रहते हैं। कमर पर गीला लत्ता लपेटकर 'लोट-प्रणाम' मारने वालों पर लोग कपड़ा तानकर छाया करते चलते, अध-आये भक्तों पर पंखे झलते, प्यासे यात्रियों को पानी पिलाते। शरबत या छाछ लाकर पीने के लिए प्रार्थना करने वाले भी होते थे। इन उत्सवों में सभी तरह के लोग रहते थे। तेलुगू में एक शब्द 'उल्ले' है, जिसका अर्थ कोश (शब्द रत्नाकर) में नहीं है। देहात में जब भक्त नहा-धोकर और सिर पर दिये की थाली लेकर मनौती चढ़ाने चलते हैं, तो चारों कोनों पर चार आदमी कपड़ा तानकर उन पर छाया करते हैं। बीच में

१. 'चन्द्रभानु चरित्र', ५-४० से ८५ तक, लेखक कवि तारिगोप्पलु मल्लना, सन् १६०० ई०।

एक आदमी लाठी का सहारा देकर उस कपड़-छाजन को उठाए रहता है, जिससे उसका आकार चलते-फिरते तम्बू-जैसा दिखाई देता है।" (इसी-को रायल सीमा में 'उल्ले' कहते हैं।—लेखक)

संक्रान्ति के त्योहार को रायल सीमा में 'पशुओं की खिचड़ी' कहते हैं। भारत के अधिकतर प्रान्तों में इसे 'खचड़ी' अथवा 'खीचड़ी' का त्योहार कहते हैं। उस समय के आन्ध्र देश में यह त्योहार कितना सर्व-प्रिय था, इसका अनुमान एक पद्य से होता है जिसमें संक्रान्ति के बाजार का वर्णन है :

"कुम्हार कुढ़ रहा था कि चार आवे और क्यों न पका लिये, बनिया बड़बड़ाता था कि सारे रुपयों की हल्दी ही क्यों न खरीद ली, गड़रिये को यह गम था कि दो-चार रेवड़ और क्यों न बढ़ा लिये, किसान कुड़-बुड़ाता था कि सारे खेत में हल्दी ही क्यों न उपजाई! सभी धन्धों और वृत्ति वालों का सारा माल सवेरा होते-होते ही बिक गया था। इससे सभी व्यापारी पछताते रहे थे कि अगर ज्यादा माल लाते तो खूब मुनाफ़ा होता। अर्थात् खिचड़ी के त्योहार पर सभी जाति के लोग खूब खुले हाथों खर्च करते और ठाठ से त्योहार मनाते थे। सचमुच संक्रान्ति सबका त्योहार है। ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक सभी का। मांसाहारी उस दिन बकरे काटकर खाते थे। घर-घर खिचड़ी पकती थी। मिट्टी के नए बरतन खरीदे जाते थे! हल्दी की बात इसलिए आई है कि उस दिन इमली का अचार डाला जाता था। उसमें हल्दी पड़ती है।"

'विनटि पंडुगा'—पंडुगा तो त्योहार को कहते हैं; पर 'विनटि' शब्द कोश में नहीं है। 'विनु' माने बीज। इस त्योहार का मतलब हुआ 'बुआई का त्योहार'। आज भी बुआई के दिन लोग अपने-अपने घर साधारण-सा त्योहार मनाते हैं। जान पड़ता है कि आज से तीन सौ साल पहले बुआई की शुरूआत करने के लिए कोई दिन निश्चित था। उसी दिन सब किसान बुआई शुरू करते थे। ब्राह्मण बुआई-कटाई के समय हर कहीं हाजिर रहते थे! एक पद्य में बुआई के समय ब्राह्मण के

भिक्षार्थ आने पर किसान बिगड़कर कहता है : "अरे बाँभन, यहाँ भी आ गया तू ?" फिर हँसी में कहता है : "तूने अच्छा मुहूरत नहीं बताया था। पैदावार क्या खाक होगी ?" फिर ब्राह्मण के मीठी-मीठी बातें करने पर टोकरा भर नाज देकर विदा किया। (बे-मन से टोकरा भर दिया, तो मन से देने वाले तो बोरियाँ भर-भर देते रहे होंगे !)।[1]

इसी बीच कुछ नये ग्राम-देवता भी पैदा हो गए थे। 'नयनपोलय्या को नमस्कार'[2] नयन पोलय्या नामक कोई वीर पुरुष रहा होगा या उसने कोई अद्भुत कार्य किये होंगे। न तो यह किसी देवता का नाम है, और न इस शब्द का कोई अर्थ ही है। मरने पर लोग उसे भी देवता बनाकर पूजने लगे होंगे। इसी प्रकार एक 'ग्राम-गंगा' देवी थीं। इस देवी की मान्यता बहुत रही। इसके नाम पर खिचड़ियाँ चढ़तीं, बकरे कटते, तान्त्रिक लोग मुरगे काटते।[3] तेनालि रामलिंगम् ने इसका वर्णन यों किया है : "ग्रामाधिकारी ने 'गंगम्मा-जातरा' की। डौंडी पिटवाई कि 'जातरा' कर रहा हूँ। 'जातरा' के दिन गँवार स्त्रियाँ तेल मल-मलकर गरम पानी से नहाईं, नये कपड़े पहने, काजल-सिन्दूर लगाये, चोटी में फूल गूँथे, गले में नीम के हार डाले, और पान चबाती हुई निकल पड़ीं।" लोग इसे 'गंगम्मा' की शक्ति और महाशक्ति के नामों से पूजते थे। रेड्डू लोग गँवारू चाल से शान के साथ महाशक्ति के उस दिव्य भवन की ओर चले, जो पहाड़ी काटकर बनाया गया है।

इस महाशक्ति के उत्सव में विशेष रूप से बकरियों की बलि दी जाती थी। लोग ताड़ी भी खूब चढ़ाते थे। स्त्रियाँ मनौती मानने के नाम पर कैसे-कैसे भयंकर कार्य करती थीं, उसका भी वर्णन मिलता है : "कोई सीढ़ी पर झूलती, कोई अग्नि-कुण्ड में नाचती, कोई केले के पत्तों पर नाचती, कोई अपने शरीर से मांस काटकर शक्ति को चढ़ाती, कोई

१. 'शुक सप्तति', अध्याय २।
२. 'मल्हण चरित्र'।
३. 'शुक सप्तति'।

मुँह में ताला देती, अर्थात् दोनों होंठ मिलाकर उसमें लोहे की एक कील भोंक लेती इत्यादि........।"[1]

ग्राम-देवता की तरह घर की देवियाँ भी निकल पड़ीं। घर में किसी स्त्री की हठात् मृत्यु हो गई तो उसके नाम पर घर या खेत में एक पेड़ के नीचे छोटी-सी वेदी बनाकर उस पर पत्थर, लकड़ी या मिट्टी की देवी 'थाप' कर पूजा जाने लगा। ऐसी पूजा जहाँ न हो वहाँ उसे चालू कराने वालों की कमी न थी। एक रेड्डी की पत्नी मर गई। कुछ दिनों बाद ग्राम-पुरोहित ने कोई स्वप्न देखा। स्वप्न में रेड्डी की पत्नी कहती है कि जाओ रेड्डी से कहो कि वेदी बनाकर मेरी 'थापना' करे![2] एक देवी वंगलम्मे हैं। इस नाम की एक स्त्री अपने पति के साथ सती हो गई थी। नेल्लूर की ओर चंगलम्में चंगलय्ये आदि नाम बहुत होते हैं। देवी-देवताओं की कोई कमी न थी। पुट्टलम्मा, संदिवीरुलु, एक्केलम्मा, पोलुराजु, धर्मराजु, कम्बय्या, देवादुलु, काटिरेड्डु आदि देवी-देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ। देवी-देवताओं से 'मनौती' माँगना और 'सात्का' चढ़ाना भी एक रिवाज था।[3] किन्तु 'सात्का' शब्द कोश में नहीं है। पता नहीं, इसका मूल क्या है। (उर्दू में 'सदके जाना' बलैयाँ लेने या बला उतारने के अर्थ में प्रयुक्त है। 'सदका' ही 'सात्का' हो गया होगा। —अनु०)

'उतारे' का रिवाज भी चल पड़ा था। घर में किसी के बीमार पड़ जाने पर तरह-तरह के अन्न बनाकर बीच घर या देहरी पर रोगी को खड़ा करके 'उतारे' निछावरें उतारते और उस रंग-बिरंगे 'उतारे' वाले अन्न को बाजार में या गाँव के अन्दर जहाँ तीन-चार रास्ते मिलते हों, डाल देते थे।

ये सारी देवियाँ प्रायः शूद्रों की होती हैं। कुछ लोग इनके पुजारी भी बने। वे भी आम तौर पर शूद्र ही होते थे। ब्राह्मण पुजारियों की

१. 'पांडुरंगमाहात्म्यम्', ३-७५ तथा तेनालि रामकृष्ण, सन् १५३० ई०।
२. 'शुक सप्तति', २-४४५।
३. वही।

तरह इन शूद्र पुजारियों या पुजारिनों को भी अन्न, मांस, मदिरा, पैसे आदि खूब मिलने लगे। इन देवियों के आगे 'अभुआने' की प्रथा भी चली। अभुआने का काम अधिकतर स्त्रियों का ही होता है। अभुआने वाली स्त्रियाँ बाल बिखेरकर और कपड़े तक का होश न रखते हुए कूद-फाँद करती हैं और चिल्लाती हैं। चारों ओर लोग जुट जाते हैं। लोग पूछते हैं और वह जवाब में 'भाखती' (बोलती) है। वह तरह-तरह की माँग करती है, और लोग उसकी माँगें पूरी करने का वादा करते हैं। वादे हो जाने पर अभुआना बन्द हो जाता है। (ब्राह्मण शास्त्रों की दुहाई देकर दान-धर्म लेते तो शूद्रों ने स्वयं भगवान् या भगवती को बुलाकर उनके मुँह से अपनी कमाई का रास्ता कर लिया!) ऐसा भी होता था कि अभुआने वाला व्यक्ति स्वयं देवी या देवता बनकर माँगें पेश करने लगता। एक देवी कहती हैं: "**किसान स्त्रियाँ चौराहों पर खिचड़ी के खूब चढ़ावे चढ़ायें तो कुछ प्रसन्न हो सकती हूँ।**"[1] शिव-शक्तियों, तलारों (चौकीदारों), ववनीलों (बाजे वाले) और नाच-गाने वालों को मुफ्त ताड़ी पीने को मिलती थी।[2]

मन्दिरों पर सुबह तूर के तड़के नगाड़े बजाये जाते थे। जिस प्रकार राजमहलों में राजा-रानियों को गा-बजाकर जगाया जाता, उसी प्रकार मन्दिरों में भी। देवी-देवताओं को नगाड़े आदि बजाकर जगाया जाता था। 'शुक सप्तति' में लिखा है कि "**लोग देवनिलय की प्राचन्महामर्दल ध्वनियों से सवेरा होने की सूचना पाते थे।**" इसी प्रकार 'विप्रनारायण चरित्र'[3] में लिखा है—"**रंग स्वामी के मन्दिर पर शंख, दुन्दुभि आदि मंजुल वाद्य बजे......**"

उस समय के राजाओं ने वैष्णवाचार्यों को ग्रामों के कुछ अधिकार भी दे रखे थे। पैम्मासानि तिम्मानायुड्ड नामक एक कम्मराजा का एक

१. 'शुक सप्तति', ३,३८३।
२. वही, ३,११६।
३. वही, ४-९८।

शिला-लेख है, (शालिवाहन शक या सम्वत् १५६६, सन् १६४४ ई० का)। उसमें लिखा है :

"तातार्चार्य के प्रपौत्र तिरुमल कुमार पड्डनसु कुमार तातार्चार्य जी को नुसल्लागोत्र के पेम्मसानि तिरुमलनायन की लिखवाई 'देश-समाचार-पत्रिका'। पहले कृष्णदेवराय-काल से चले आते तिरुमाली के इस 'देश-समाचार' के चालू गाँव 'वर्षाशिन' (सालियाना) को चलाने की आज्ञा 'देश के म्लेच्छाक्रान्त हो जाने के कारण हमें मिली है। इसलिए हम अपने पंच-संस्कार के अवसर पर आपकी सेवा में गोलकोंडा के बादशाह के दिये हुए अपने मनसब (शाहीसालियाना) में मिले गंडिकोट तालूका (तहसील) के चार लाख पचास हजार के इलाके को हरिसेवा, गुरुसेवा, मुद्रा की नजर, मन्दिर की भेंट, बसिवि (अन ब्याँहला) मुद्रा, भूल-चूक, दंडन, खंडन, पकुपाखोडा आदि, देश-समाचारों (प्रथाओं) के साथ अर्पित कर दिया है।"[1]

सन्, १६५२ में गोलकोंडा सुलतान के वजीर मीर-जुमला ने पुर्तगालियों की मदद से गंडिकोट पर धोखाधड़ी से कब्ज़ा कर लिया। उसने मेले नामक पुर्तगाली को हुकुम दिया कि गंडिकोट के मन्दिर से सब मूर्तियाँ ले जाकर उनकी धातु से २० तोपें बनवा लावें। उसने कहा कि दस तोपें ४८ पौंड की, दस २४ पौंड की हों। इतनी तोपों की जरूरत है। ताम्बे की मूर्तियों को गलाया गया। सब मूर्तियाँ पिघल गईं किन्तु 'मूसा' (कढ़ाई) में भगवान् माधव स्वामी की मूर्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। कोशिश करने पर भी वह नहीं गली। तब समझा गया कि यह ब्राह्मणों के मन्त्रों का प्रभाव है। ब्राह्मणों को पकड़कर उनकी ताड़ना की गई, पर कोई नतीजा नहीं निकला। एक भी तोप तैयार नहीं हो सकी। टावर्नियेर नामक व्यक्ति ने अपनी पुस्तक 'ट्रावेल्स इन इंडिया', (भारत की यात्रा) में यह अपनी आँखों-देखी घटना लिखी है।

---

१. 'गांडिकोट का घेरा' नामक पुस्तिका से।

(अभी-अभी जिस पुस्तिका का हवाला दिया गया है, उस पर लेखक का नाम नहीं है। लिखा है कि यह निबन्ध 'समदर्शनी' की 'आंगिरस संचिका' (एक वार्षिकांक) के लिए लिखा गया था। निश्चय ही यह पत्र अंग्रेजों के बाद का होना चाहिए।)

वेश-भूषा

लोगों की वेश-भूषा, तिलक आदि में विभिन्नता पाई जाती थी। चार सौ वर्ष पूर्व आन्ध्र के अन्दर कौन-कौन-सी जातियाँ थीं, और वह कौन-कौन धन्धे, रोजगार आदि करती थीं, इसकी लगभग भरी-पूरी-सी तस्वीर पालवेकटी कदरीपति ने अपनी प्रतिभाशाली शैली में हू-ब-हू खींच रखी है। प्रत्येक जाति के स्त्री-पुरुषों का मूर्तिमान वर्णन देकर मानो उन्हें हमारे सामने ला खड़ा किया है। इस सम्बन्ध में उनका एक-एक पद्य उल्लेखनीय है। किन्तु विस्तार के भय से यहाँ केवल कुछेक पद्य ही उद्धृत किये जा रहे हैं :

"है पृष्ठदेश पर मोर पंख-तरकस,
हाथों में धनु 'सेलस'।
कटि-बाघंबर में खुँसी हुई नन्ही कटार,
झूलता गले में फूलहार।
लिपटी दाहिनी भुजा पर माला गुञ्जा की
घुँघराले बालों पर बाँकी
लत्ते की तलॅमुगीर पट्टी। हैं खड़ी-खड़ी
मूँछें! आँखें हैं बड़ी-बड़ी।
पैरों में चप्पल 'इरुलझा'—"

राजा की शिकारी पोशाक

"रेशमी जाँघिये पर फेंटे से कसी कमर।
है जरीदार मिरजई कसी उसके ऊपर,

जिस पर है लाल किनारी की सुन्दर चादर ।
कानों में कुण्डल पन्ने के ।
माथे कस्तूरी के टीके ।
दाँये कर में कटार, बाँये में पड़ी ढाल ।
औ' गले हार में गुँथे सोहते लाल लाल ।
रंगीन कुल्लई है सिर पर,
लम्बी-सी, जगमग, अति सुन्दर ।"[१]

कोमटी सेट्टि (बनिया महाजन)

"माथे चन्दन, मुँह में पान,
नीलम के कुण्डल हैं कान,
सिर पर पगड़ी, गेरुआ चादर,
रजत करधनी कसी कमर पर,
मचमच करती हुई चप्पलें हैं अलबत्त,
कितनी शोभा से मंडित है यह 'धनदत्त' !"[२]
('धनदत्त' अर्थात् धन
उधार देने वाला महाजन ।)

वृद्धा वेश्या

"साड़ी, जो रानी जी का उपहार है,
अक्कलदेवी के चरणों का हार है,
माथे कुंकुम की छोटी-सी टिकली है,
और गले में मुक्ताओं की हँसली है ।"[३]

---

१. चन्द्रभानु, २-२ ।
२. वही, २-१५ ।
३. 'वैजयंती विलासमु', ३-७१, ७२ ।

सिपाहियों का सरदार

"नाक की नोंक से माथे के सिरे तक
भौंहों के बीच से पतला-सा है तिलक,
कनपटी पर लीरे से बँधा, झोंटा, है
एक पल्ला लटकाये नीला बजरंगी लँगोटा है !"[१]

थाना

थानेदार को दंडनायक कहा जाता था। दंडनायक का ठाठ, दबदबा भी आजकल के थानेदारों से कम नहीं होता था :

"खनकाते लाठियों के छल्लों को,
चमकाते आबदार तलवारें
झनकाते हनुमत्-चित्रित ढालें
नरसिंघी में भरते फुंकारें
चले वेश्याओं के मुहल्ले को
सजे सिपाही, करते कोलाहल।
उन्हें लेके चला दंडनायक है,
बदमाशों के दिल में है हलचल।"[२]

सिपाहियों की लाठियों में लोहे के छल्ले लगे रहते थे। ढालों में तीन-चार पोल होती थीं, जिनमें लोहे की गोलियाँ पड़ी रहती थीं ! जब सिपाही चलते, तो इन गोलियों से ध्वनि निकलती थी। ढाल पर शेर-बबर आदि के चित्र बने होते थे। इस पद्य में ढाल पर हनुमान का चित्र बताया गया है।

वेश्या

मंदिर से निकलकर सहेलियों से कपड़े की आड़ पकड़वाकर जल्दी-जल्दी अपने घर जा पहुँचती और माता के पूछने पर हँस देती।

---

१. 'वैजयन्ती विलासमु', ४-६७।
२. वही, ४-७८।

दासर सानी

"गेरुआ चोली, चोटी लिपटी साड़ी की लीरे-से
मोती की कुलड़ी पहने, हरिनाम भजन करती चलती धीरे से····"[१]

पटवारी

"छोटी पगड़ी और नीरकावी धोती पहने
बही दबाये हुए, बगल में, औ' चमड़े के म्यान में
धरे हुए तलवार, कहीं से पटवारी जी आ पहुँचे,
बैठे रेड्डी से सटकर, ज्यों कहना हो कुछ कान में····"[२]

मादिगा जोगुरालु

चमारों की एक देवी का नाम जोगुलम्मा है। उसके पुजारी भी चमार ही होते हैं। देवी के नाम पर चमार पुजारिनें भीख माँगने निकला करती थीं। उनकी पोशाक का वर्णन यों दिया है :

"गले में देवी के चर्मचरण, लंबा कौड़ीहार और दर्शनमाला,
माथे पर हल्दी का टीका और बाँये हाथ में देवी की हल्दी,
दाहिने में नागफनी की लाठी, लाँगदार चेंगावी साड़ी है,
परशुराम के गाने गाती यह 'जोगुलंबे'–भीख माँगने चल दी।"[३]

मुसलिम सिपाही

मुसलमानों को तुरुक कहते थे। आज भी तेलुगू में तुरका का अर्थ मुसलमान ही होता है। उसकी पोशाक का वर्णन शुक सप्तति-कार ने[४] किया है। किन्तु उसके कई शब्दों के अर्थ शब्द-कोशों में भी नहीं

१. 'विप्रनारायण चरित्र', ३-३।
२. 'शुक सप्तति', २-४१७।
३. ,, , २-२४५।
४. ,, , ४,२७-८ में।

मिले। लेखक ने उस पद्य का अन्वय यों दिया है :

"ऐंठनदार रेशमी मुरैठे-तले कारचोबी की, फरांसीसी टोपी,
सूने[1] माथे पे' अँगोछा, अँगरखा झिलमिल मलमल का, तिस पर चादर
काँख तले से निकलती कंधों पर, जरीदार पाजामा, ढीले-ढाले जूते,
मेंहदी-रँगे नख, जनेऊ-सा चमड़े का पट्टा, पेटी-कटार, रूप धरे भयंकर।
अभय-रूप साईस संग लिये, 'मुस्तैदी'[2] से आ पहुँचा वह गाँव के बाहर,
चौपाल वाले पीपल तले खड़ा होके गरजा, 'बुला, तलार'[3] को बुला,
वे 'धगड़ी के'[4]
गर्जन सुनते ही रेड्डी-तलार, संगियों को संग लिये भाग चला खेतों पर!"

'धगड़ी के' की गाली इसी रूप में आज तक तैलंगाने में सुरक्षित है। एक छोटे से सिपाही, उसके घोड़े-साईस, उसका ठाठ, और उसकी गालियों के मारे जब गाँव के पटेल-पटवारी तक भाग जाया करते थे, तो औरों का फिर क्या पूछना ? सिपाहियों का यह दबदबा उस समय था, जब गोलकोंडा के सुलतानों ने आंध्र-देश को अपने अधिकार में कर लिया था। यह बात सन् १६३०-५० ई० की है।

रेड्डी

"धोती पहने अधफेर, चदरिया काली-धारीदार
खमरौंधी चप्पल, और लकुटिया हाथों की दमदार,
विकट खसखसी बढ़ी दाढ़ी, मूँछें भी खड़ी, घनी, झंखाड़,
उपज चौड़ी छाती पर घने बाल, लगते हैं जंगल झाड़,
नाभि-टीका ठोपा भर, और पिंडलियों का भोंडा आकार,

१. बिना टीके के।
२. तेलुगू पद्य में 'मुस्तैदी' शब्द अपने मूल फारसी अर्थ में ('तैयारी' के लिए) प्रयुक्त हुआ है।
३. तलार : पटेल या ग्रामाधिकारी।
४. गंदी गाली है।

कि जिन पर कहीं और बदशकल नसों का सँपियल नील उभार,
सनी एड़ियाँ चटाते पले हुए कुत्ते से बारंबार
और आगे चलते बैलों की काठी को टक बाँध निहार,
देख रेड्डी पहुँचे चौतरे....................."

रेड्डी की पत्नी को कवि वेंकटनाथ ने 'रेड्डी सानी' कहा है। (जिस प्रकार राजा को 'दोरा' कहते हैं उसी प्रकार रानी को 'दोरा सानी' कहते हैं। वेश्या के नाम के साथ लगने वाला 'सानि' शब्द रेड्डी और राजा की पत्नियों के साथ भी प्रयुक्त हुआ है। —अनु०[1])

पुरोहित

"कंधे पर तीन पीढ़ियों पुरानी उजली ऊनी दोहर और दोमुँहा थैल
मोटी धोती, फटा साफा सिर पर, और गले में जनेऊ मटमैला,
बेलकुप्पी में डाले मंत्राक्षत[2] पसीने से बहा जा रहा है टीका
एक हाथ में पत्रा, औ' उसकी बड़ी उँगली में छल्ला चाँदी का,
'हरे कृष्ण, हरे राम' गाता वह जाता है ब्राह्मण......."

रुकला स्त्री

[रुकला जाति की औरतें देवी-देवताओं के नाम ले-लेकर औरतों को अनजानी और छिपी बातें बताती फिरती हैं] उनकी पोशाक :

---

१. 'सानी' कुछ-कुछ 'बाई' का समानार्थवाची है। 'बाई' भी रंडियों के नाम के साथ लगने वाला शब्द है, पर मराठी-प्रभाव के अंचलों में सामान्य स्त्रियों के साथ रानियाँ भी अहल्याबाई, लक्ष्मीबाई आदि होती हैं। —सं० हिं० सं०।

२. घी-सना हल्दी-कुंकुम-रँगा चावल। पूजा और आशीर्वाद के लिए। बेल के सूखे फल की कुप्पी में रखते थे। सुँघनी के लिए भी यही कुप्पी चलती रही है। —अनु०।

"हाथों पर, माथे पर, हरे-हरे गोदने, माथे भभूती रमाये,
भौंहों के बीच तिलक, रंगीन अँगिया, आँखों में काजल लगाये,
पीठ के ऊपर बच्चा आँचल से बाँधे सिर पर बँसेली पुरानी,
सिर की बँसेली में चंद जड़ी-बूटियाँ लेके चली 'एकलानी' !"[१]

वे कहतीं कि इन जड़ी-बूटियों को हमारे पति पहाड़ों और जंगलों से लाये हैं और इनमें 'राहबंद', 'कमरबंद', 'वशीकरण' आदि की शक्ति है। स्त्री पुरुष को 'सिग' अर्थात् सिंह कहती थी और पुरुष स्त्री को 'सिगी' अर्थात् सिंहनी कहता था। 'सिग' का शब्द 'नरसिंह' से बना है। भील नरसिंह भगवान् को विशेष पूजनीय मानते हैं। कोखंजी, सिगी, सिगड्ड शब्दों का प्रयोग यक्ष-गान में अधिक मिलता है। जान पड़ता है कि यक्ष-गान अति प्राचीन काल से चले आये नृत्य-गान हैं। इन शब्दों को संस्कृत ने भील आदि जंगली जातियों से लेकर अपनाया है।

राजा

"जुल्फ़ें, जुल्फ़ों में ताबीजें, उन पर 'कुल्ला'
पन्ने के कुण्डल, मोती के हार, स्वर्ण के
पट्टे, कटि से उठ कंधों से झूली चादर
पाजामा-अँगरखा रेशमी, हरित वर्ण के,
पैरों में गजदंत पादुकाओं की जोड़ी........"[२]

सिपाही

सिपाही को 'जट्टी' कहते थे। उसकी पोशाक और बनाव-सिंगार यों होता था :

"नख भर पतला टीका, खड़ी मूँछें,
सिर पे' पीछे को छोर-बँधा साफ़ा पड़ा,

---

१. 'शुक सप्तति', १-६८।
२. वही, १-११६, २४६।

उठती कमर से गले तक किनारदार चादर,
और बाईं बाँह में बाँका कड़ा,
जरीदार म्यान में कटार पड़ी, पैरों में
रंगीन खड़ाऊँ का जोड़ा पड़ा,
कानों में चौकट[1] बालियाँ झुलाये
आयुध जीवी सिपाही खड़ा !"[2]

ब्राह्मणी

ब्राह्मणी का अलग वर्णन नहीं मिलता। एक ऐसे ब्राह्मण का वर्णन मिलता है, जो किसी रेड्डी-युवती पर मोहित होकर अपनी स्त्री को भी उसी प्रकार की वेश-भूषा में देखकर प्रसन्न होना चाहता था। वह अपनी ब्राह्मणी से इस प्रकार आग्रह करता है : "बालों में यह कील-गाँठ क्या, चिकनी चोटी क्यों नहीं गूँथ लेती ? हल्दी क्या मलती है, विभूति लगा ले ! और काँछ की साड़ी भी कोई साड़ी है, फुँफदी वाली साड़ी तो पहन। ताड़ के रंगीन पत्तों के कर्णफूल क्या, असली सोने के क्यों नहीं पहनती ?" बेचारी पत्नी भी यह सोचकर कि कहीं पति पागल न हो जाय, वैसा ही करती, पर पतिदेव यह कहकर अपने दिल में व्याकुल होते कि भेस तो जरूर रेड्डिन की है 'हालिक—लिकुच-कुच-वेष', किन्तु वह बात कहाँ ?[3]

ऊपर के वर्णन से ब्राह्मण की रेड्डी-सानी का भी कुछ ब्योरा हमें मिल गया है ! विशेष ब्योरा नीचे के पद्य से मिलता है :

"पोतहार, जोड़े मनकों की नथ,
फुँफदी वाली साड़ी, ऐंठन वाली सिकड़ी,
पाँव की हर उँगली-उँगली बिछिया,

१. जिनमें चार-चार मोती जड़े हों।
२. 'शुक सप्तति' २-२४१।
३. वही, २-४५७।

कँगने में बसु, दाँतों में पत्ती जड़ी,
लहराता पल्लू, कपोलों पर झुकी चोटियाँ,
बाँकी, कोयों के कोनों से,
आगे तक बढ़ी हुई पतली काजल-रेखा,
जोड़ी-जोड़ी बालियाँ खोंसे,
नाभि-टीका और गले में 'नाबु',[1] मले
हल्दी-उबटन, चोली कसमसी,....''[2]

जंगम स्त्री

''बरगद के दूध से बँधी हुई जटाएँ,
इमली के पात-सा विभूति-तिलक
बाँहों पर रुद्राक्षों की माला,
नागफनी-दंड, कटि से कंधे तक
जनेऊ-लपेट उपरना, ताँबे का छल्ला,
साँड छाप और योग की पट्टी''[3]

सुवासिनी स्त्री

''मुख पर, शरीर पर हल्दी की उबटन, आँखों में काजल आँजे
भौंह सटी कुंकुम की टिकुली या तिलक......''

वेश्या-सानी

''पायजामे पर इकहरी साड़ी, औ' ओढ़नी आधी काँधे आधी झूलती''

यह थी उनकी पोशाक। मन्दिरों में भगवान् के स्नान के समय सेवा में वेश्याओं के उपस्थित रहने का नियम था। वे भगवान् के लिए भरा हुआ घड़ा भी ले जाती थीं। इसे तिरुमंजन कहते थे। कोड्डमेत्तु अर्थात् भगवान्

१. तार का एक गहना।
२. 'शुक सप्तति', २-३३२।
३. वही, २-३२।

के लिए पानी का भरा घड़ा ले जाते समय भी सानी की उपस्थिति आवश्यक थी।

"कोडुमेत्तु के लिए वेश्या-कन्या मन्दिर की ओर चली जा रही है!
नाभि-तिलक, सुन्दर वेणी, पीछे को खोंसी साड़ी लहरा रही है!
आँचल का लहराना देखकर भौंचक्का रह जाना पड़ता है!"[1]

मार्टी

"पगिया पर पूजा-फूल वाम भुजा पर साँकल,
लम्बी असि लंबित दक्षिण कर है,
पेटी में लघु कटार, जनेऊ-सी चादरिया,
वीर समर-यात्रा को तत्पर है।"[2]

प्रजा अर्थात् जन-साधारण का जीवन

उस समय का जो साहित्य हमें प्राप्त है, उसमें बहुत-से शब्द ऐसे हैं; जो शब्द-कोशों में नहीं मिलते। जो मिलते भी हैं, उनमें कुछ के अर्थ प्रसंग को देखते हुए ठीक नहीं लगते। साधारणतया जो अर्थ लगाये जा सकते हैं, उनके अनुसार नीचे भिन्न-भिन्न जातियों के घर-बार तथा उनके जीवन का वर्णन दिया जाता है।

ब्राह्मण

लीप-पोतकर रंगोली डाले हुए चबूतरे बड़े-बड़े दरवाजे छप्पर का बरामदा, ढालिया, छोटे रोशनदान, रसोईघर, धावे की छत, निवाड़ के पलंगों वाला शयनागार, जानवरों को बाँधने और चारा खिलाने की जगह, पिछवाड़े में नारियल, नींबू तथा अन्य फलों-फूलों के झाड़, मीठे पानी का कुआ, इन सब चीजों के साथ ब्राह्मणों के घरों में हरे तोरणों

१. 'शुक सप्तति', ३-१७।
२. वही, ३-५२।

के साथ नित नये उत्सव मनाये जाते थे।[1]

ब्राह्मणों में बड़े-बड़े जमींदार भी होते थे। उनके साथ 'ब्राह्मन खेती, बाल वैद्यगी' की कहावत लागू नहीं हो सकती। उनके यहाँ अच्छी खेती भी होती थी। बड़े-बड़े बाग़-बगीचे भी थे और खत्तों में अनाज भरा रहता था। 'शुक सप्तति'[2] में उनका वर्णन यों दिया है :

"साल में वह तीन-तीन फसलें उगाते थे। खत्तों को भर देने लायक बड़े-बड़े खेत, बगीचे, सुपारी के पेड़, भेड़-बकरियों के रेवड़, गन्ने के कोल्हू और ठेके के खेत भी थे। दास-दासी-जन थे। प्यादे-सिपाही थे। उनके घरों की बड़ी-बड़ी चहारदीवारियाँ थीं। घर के अन्दर बड़े-बड़े दालान होते थे। उन पर कोठे और सामने बरामदे भी होते थे। घर के चारों ओर ऊँची-ऊँची चहारदीवारियाँ होती थीं। बरतन ताँबे के होते थे। तुलसी का एक छोटा चबूतरा, देव-पूजा, नित्य अन्न-दान, माथे पर तिलक, ये सब उनके सदाचार में शामिल था।" यह तो खाते-पीते खुशहाल ब्राह्मणों का वर्णन हुआ। अब गरीब ब्राह्मणों की दशा भी सुन लीजिए :

"बाजार में कपास की भीख माँगकर, उसके जनेऊ तैयार करना, बरगद के पात लाकर उसकी पत्तल तैयार करना, घर के अगवाड़े-पिछवाड़े साग-भाजी उगा लेना, बाजारों में दुकानों के सामने गिरी हुई गोल मिर्च आदि बीनकर और इन सबको बेच-बाचकर गुजारा करना।[3] लोभी ब्राह्मणों की सन्तान साधारणतया दुराचारी ही निकलती थी! जोगी-जंगम आदि अन्य भिक्षा-वृत्ति वालों अथवा साधु-संतों को देखकर लोभी ब्राह्मण जल-भुन उठते। पर वही दुराचारी स्त्री-वशीकरण आदि जड़ी-बूटियों आदि की जरूरत पड़ने पर उन्हीं साधुओं, जोगियों-जंगमों आदि को दिल खोलकर देते भी थे। रात को घरों से निकलकर वे······ और व्यभिचारियों के साथ घूमा करते थे। पहरेदार पकड़ लेते तो कुछ

१. 'शुक सप्तति', ३-४७८।

२. वही, २-१४५।

३. वही, ४-१०९।

ले-देकर उनसे पीछा छुड़ाते थे। इस प्रकार गरीब ब्राह्मणों के बच्चे आवारा हो जाते थे। उन दिनों एक प्रथा थी कि रात में निश्चित समय पर ढोल-ढपली बजा दी जाती थी। उसके बाद गाँव की चहारदीवारी का फाटक बन्द कर दिया जाता था। उसके बाद बाहर वाले अन्दर या गाँव के अन्दर वाले बाहर नहीं जा सकते थे। गाँव के अन्दर रात में चौकीदार पहरा देते थे। जो रात के समय घूमता हुआ पकड़ा जाता, सुबह चौपाल में उसकी जाँच होती और सजा दी जाती थी। आवारा घूमने वाले चौकीदारों को कुछ दे-दिलाकर पीछा छुड़ाते थे।"[1]

रेड्डी

रेड्डियों को उस समय की रचनाओं में कुबेर-पुत्रों के नाम से याद किया गया है। उन दिनों राज-दरबार में रेड्डियों की खूब आवा-जाही थी, जिसके कारण समाज में उनका अच्छा मान था! नाज मापने की उनकी थैलियाँ भी चन्दन की बनी होती थीं।[2]

रेड्डियों के घरों के सामने एक चौरस चट्टान बिछी होती थी। चबूतरे पर बरामदा होता था। घर के चारों ओर एक बड़ी चहारदीवारी होती थी, जो साधारणतया पत्थर या मिट्टी की बनी होती थी। यह भी नहीं तो काँटे का घेरा होता और फाटक की दीवार पत्थर की होती। एक बैठक भी होती। एक देवता का चौरा होता और बैठक के लिए मल्लशाला का शब्द आया है। पर 'मल्लशाला' अखाड़े के अर्थ में भी लिया जा सकता है। इनके अलावा मुर्गियों का बाड़ा और उसके साथ खेती के सामान, जुआ, दराँती, रस्सी, बछिये-बछड़े, दुधारू गाय-भैंस और उनके लिए एक अहाता, लकड़ी का तंग फाटक, पिछवाड़े एक बड़ा-सा कुआ अथवा बावली, जिसमें उतरने-चढ़ने के लिए पत्थर की सीढ़ियाँ बनी होती थीं। (दक्षिण में ऐसे कुए ही अधिक पाये जाते हैं। इनसे सिंचाई भी होती

१. 'शुक सप्तति', ४-१०७।

२. वही, २-४०६।

है । केवल पीने के कुए छोटे होते हैं और उनमें सीढ़ी नहीं होती ।) पिछ-वाड़े में घास और कड़वी की बड़ी-बड़ी ढेरियाँ लगी होती थीं । वहीं सन की गड्डियाँ भी धरी रहतीं । एक ओर उपलों का घरौंदा जमाया होता । घर में ओखली और दूध गरम करने का 'तल चूल्हा' होता था (जो फ़र्श पर छोटा-सा गढ़ा-मात्र होता है । उसीमें गोबर के उपले जला दिये जाते हैं और दूध का बरतन चढ़ा दिया जाता है ।) यह 'शुक सप्तति' का वर्णन है । 'हरिश्चन्द्र'[1] में लिखा है कि सभी जगह यात्रियों के ठहरने के लिए मंदिर, चौपाल, पंचायतघर, दुकान और ठंडे चूने से पुती बैठकें होती थीं । बैठक के लिए यहाँ भी जो शब्द 'मल्लशाला' आया है, उसे अखाड़ा क्यों न समझा जाय ? 'शब्दकोश' में तो इसका अर्थ भोजनालय बताया गया है, जो ठीक नहीं जँचता । तेलंगाने में यह शब्द बैठक के लिए भी प्रयुक्त होता है ।

रेड्डियों की स्त्रियाँ ज्वार के खेतों में मचान पर बैठकर खेतों की रखवाली करती थीं, और महुए बीनकर उसकी शराब बनाती थीं । शराब बनाने की सबको स्वतन्त्रता थी । दिन में भोजन के बाद वे चरखा काता करती थीं । उनके आभूषणों में गले में पोतों की माला, कान में सोने की बालियाँ, हाथ में कड़े, पैरों में चाँदी के छल्ले, हाथ में नगदार अँगूठी, सिर के बालों में चाँदी या सोने के पेचदार बिल्ले आदि थे । पह-नावे के सम्बन्ध में लिखा है कि वे 'कूनलम्मा' की साड़ी पहनती थीं । 'कूनलम्मा' क्या है ? 'कूनँ' बच्चे को कहते हैं । सन्तान देने वाली देवी को 'कूनलम्मा' कहा जाता था । जिन स्त्रियों के बच्चे न होते वे 'कून-लम्मा' को लाल किनारे की सफ़ेद साड़ी चढ़ावा चढ़ाती थीं, और उसी-को प्रसाद के रूप में ग्रहण करके पहना करती थीं । 'कूनलम्मा' का प्रचार रायल सीमा के अन्दर अब भी है । 'वैजयन्तीमाला' में भी इसका वर्णन मिलता है । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि तेलंगाने में भी

---

१. ४-५-१९४ ।

इसकी प्रथा मौजूद थी ।[1]

ब्राह्मणों के सिवा अन्य सभी जातियों में चरखा काता जाता था। (ब्राह्मणों ने अपने को जनेऊ बनाने तक ही सीमित रखा।) रेड्डी खेती करते और कपास उगाते थे। इसलिए कताई भी ज्यादा वही करते थे। केवल स्त्रियाँ ही काता करती थीं। पुरुषों की कताई गांधी-युग की उपज है। वे विशेषकर दोपहर के भोजन के बाद चरखे पर बैठतीं और शाम तक काता करती थीं। वे सोलह नम्बर तक का सूत कात लेती थीं।

'शुक सप्तति'[2] में कताई का विस्तृत वर्णन मिलता है। चरखे में मालडोर, तख्ती, तकिया, तकुआ, खूँटो, पायदान, घुमाने की मुठिया आदि सभी पुरजे होते थे। स्त्रियाँ चरखा कातने बैठतीं तो बाईं ओर पूनियों का ढेर लगा रखतीं और दूसरी ओर 'वेपुडु गिजन' चर्बन का दाना। लकड़ी की मचिया पर बैठी स्त्रियाँ कातती जातीं और नामों से नाते जोड़-जोड़कर कुछ गाती भी रहतीं। बूढ़ियाँ बातें करतीं और युवती कन्याएँ गातीं।

"**रुई का काम उठाया**" गाना ऐसा मधुर होता, मानो उनके मुख से मधु-धारा बह रही हो। "**चरणाब्ज को पैर से दाबती हाथ से पद्ममुखियों ने काता !**" पूनी की ढेरी लगाकर, फसल की अर्थात् कड़वी के डंठलों से रुई सँवारतीं। कते सूत की घुण्डियाँ बनाती चलतीं। उस समय उन कापु-स्त्रियों को देखकर आश्चर्यान्वित हो जाना पड़ता था।

मचिया एक छोटी-सी चौकोर चारपाई होती थी, जिसमें निवाड़ अथवा बान बुनी होती है। इसमें पीठ भी लगी होती थी, जिससे कातने वाली की पीठ को सहारा रहे। इस कविता में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ शब्द-कोश में नहीं मिलते।

होटल

होटलों को अधिकतर विधवाएँ चलाया करती थीं। उनमें भी

१. **'वैजयन्ती माला', १-३-१००।**
२. **'शुक सप्तति', २-४२०-४।**

आह्यागियाँ ही अधिक होती थीं। होटलों में जगह-जगह और प्रान्त-प्रान्त के यात्री, कवि, गायक, व्यापारी और नौकर-चाकर ठहरते थे। 'मिनुकु' (पैसा) देकर खाया-पिया करते थे। काकतीय-काल से ही ये होटल प्राय: चोरों तथा व्यभिचारियों के लिए अड्डों का काम देते थे।[1]

कोमटी (बनिया)

कोमटी को 'गौरा' भी कहा जाता था। यह बात तीसरे अध्याय में आ चुकी है। 'शुक सप्तति' में कहीं-कहीं इस शब्द का प्रयोग हुआ है। बनियों में अक्सर पुरुषों के नाम 'गौरय्या' और स्त्रियों के नाम 'गौरम्मा' होते थे। कोमटी स्त्रियाँ कानों में लाल जड़े कर्णफूल और हाथों में चेकट्टु अथवा शीराजी कंगन पहना करती थीं। ये कंगन या तो शीराज से आते रहे होंगे या नमूना शीराजी रहा होगा। साड़ी प्राय: पोप्पली (फूलदार) आँचल की होती थी। व्यापार ही बनियों की विशेष वृत्ति थी। साधारणतया वे धनी होते थे। किन्तु कवियों ने उन्हें प्राय: लोभी कहा है। वेमुलवाडा भीम कवि ने कोमटियों को इस प्रकार गालियाँ सुनाई हैं :

"क्या मिला विधाता को कोमटी बनाने में ?
कुत्सित है बुद्धि, झूठी श्रद्धा, झूठी बातें,
कपट स्तुति इनकी, औ' सदा परधन पर घातें,
क्रय में विक्रय में अंट-शंट बकवासें हैं,
चालें, छल, धोखे, जाल, कपट भी खासे हैं,
कोमटी को एक देके दस लो तो पाप नहीं,
दोष नहीं उसके घर आग भी लगाने में !"

ऐसे भीम कवि पर एक और कवि ने बनिये के साथ पक्षपात करने का आरोप लगाया है और वह कहते हैं :

१. 'शुक सप्तति' १-११६-४६ तथा 'क्रीड़ाभिरामम्' ।

"वाह भीम कवि, कवि सार्वभौम होके भी
कोमटी के साथ तूने किया बड़ा पक्षपात !
यह क्यों कहा कि एक देके दस लिये जायँ ?
एक भी न देके दस लेना, मान मेरी बात !
धर्मशास्त्र का है आदेश यही धर्म, तात !"[१]

कवि मल्हण ने एक बनिये के मुँह से कहलवाया है :

"देव-देवियों को नमस्कार हमारे छूँछे,
पूजा में कभी एक पाई न चढ़ाते हैं
गायक-कवि आके बखान करते हैं तो
देने के डर से चुपके से खिसक जाते हैं,
इधर-उधर की कहके सम्बन्धी टरकाते,
राही-बटोही मुझसे धोखा ही पाते हैं,
दास-दासी जन आते, काम कर जाते,
हम सताते, खटवाते, फूटी कौड़ी न दिखाते हैं !
ब्रह्मराक्षसी हो, डाकिनी हो, शाकिनी हो,
हम हाथ जोड़ लेते, और थाल से न देते हैं,
बम्हन को गाय, साँप-मक्खी को बलि की
बलाय कहीं मेरे सिर आये नहीं, चेते हैं
दाने उड़ जाने के डर कभी न जूठे हाथ
कौए उड़ाते, चाट-चूट लिये लेते हैं
तिस पर भी लोग कहें जीने का मोल नहीं
मूल रहे हम तो ब्याज पर ही जिये लेते हैं।"[२]

परन्तु ऐसी कविताएँ शुद्ध पक्षपात से भरी हुई हैं। अवचि तिप्पय्या के समान दानी बनिये भी कई थे।

ईंधन की बिक्री भी उन दिनों हुआ करती थी। ईंधन के गट्ठर पर

१. 'चाटुपद्यमंजरी', १०१-२।
२. 'मल्हण चरित्र', अ० २, पृ० ३५-६।

सरकारी चुङ्गी लगती थी। चुङ्गी भर देने पर ही कुल्हाड़ी के साथ जंगल में घुसने की अनुमति मिल सकती थी। एक लकड़हारे का वर्णन सुनिये :

"कमर में लंगोटी है, लंगोटी की अंटी में चुङ्गी की कौड़ी है,
कंधे पर पैनी कुल्हाड़ी है और जाल की एक छोटी-सी तोड़ी है,
जाल के उस थैले में रोटी और पानी की तुम्बियाँ हैं लौकी की,
जंगल को लपका बढ़ा वह लकड़हारा, मजबूत चप्पलों की जोड़ी है।"[१]

वेश्या

वेश्याएँ बुध और सनीचर को सिर और सारे शरीर में तेल मलकर सिर-स्नान करती थीं। चिकनाई को हटाने के लिए उड़द के आटे की उबटन मलती थीं! सिर के बालों में नींबू और सीकाकाई का प्रयोग भी करती थीं। फिर बाल साफ़ करके नये या धुले कपड़े पहनतीं और आभूषण आदि सँवारती थीं।[२] गरीब लोग चिकनाई को दूर करने के लिए अम्बली अथवा गटका मलते थे।[३] पानी में आटा घोलकर घरेलू खमीर के साथ गटका पकाया जाता है। (गरीब लोग दोनों जून इसीसे पेट भरते हैं।) वेश्या युवतियाँ पहले मंदिरों में भगवान् के सामने नाच-गाना करने के बाद ही उसे अपना पेशा बनाती थीं :

"डौंडी पिटी नगर में : 'ललिकुन्तल पुष्पगंधी'
प्रथम बार शिव के आगे नाचे-गायेगी !"[४]

वेश्याओं के शयनागार अत्यन्त आकर्षक होते थे :

है निवार का पलँग, सेज फूलों की है,
रेशम के तकिये, सोने की नागफनी,

१. 'शुक सप्तति', ३, २४५।
२. 'वैजयंती विलासमु', ३-५१।
३. 'शुक सप्तति', २-३७८।
४. 'मल्हण चरित्र', पृ० ३१।

कांसे की समई, दीवट, गजदंत की
सुघड़ खड़ाऊँ की जोड़ी मनभावनी,
ऐसी सज्जा होती है रतिधाम की।"[1]

गर्मियों में राहगीरों की यातनाएँ

जो लोग गर्मियों में यात्रा पर निकलते थे, वे यात्रा की कठोरता कम करने के लिए अपने साथ में ये सामान रखते थे—गाँठ में इमली और शक्कर, कंधे पर दही-चावल की गठरी, जिसमें इलायची, गोल-मिर्च, अदरक, सोंठ और नमक पड़े होते थे। सिर पर करंज का पत्ता बाँधे रहते थे। इस पत्ते की तासीर ठंडी होती है, लू नहीं लगती। दाहिने हाथ में पानी की लुटिया, दूसरे में पंखा। दोनों पैरों में मजबूत चप्पलें। (चप्पल के लिए जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे ऐसा लगता है कि जिस प्रकार अँगरखे में बारह बंद होते थे, उसी प्रकार चप्पलों में भी तल्लों से कुछ चाम के डोर निकले रहते थे, जिनको पाँवों में कस लिया जाता था।) इस प्रकार यात्री कड़ी धूप में थक-थककर ऊब-ऊबकर चला करते थे। करंज का पेड़ हर जगह नहीं मिलता। दक्षिण में तडवड का पौधा बहुत होता है। खेतों में काम करने वाले मजदूर धूप में इसकी पत्ती सिर पर बाँध लेते हैं। इससे भी लू नहीं लगती। इस पद्य से कवि का स्वानुभव अथवा लोकानुभव टपकता है। कुछ भले लोग रास्तों में प्याऊ बनवा देते थे, जिनमें पानी के साथ कहीं-कहीं खाने की चीजें भी दी जाती थीं। इन प्याउओं पर पानी पिलाने वाली स्त्रियाँ होती थीं। कवियों ने इन स्त्रियों को 'प्रपालिका' कहकर इनका सुन्दर वर्णन दिया है, और कुछ छेड़-छाड़ भी की है। एक कवि कहता है :

"काम अहेरी ने प्याऊ पर घड़े भर रखे
पास बिखेर दिया प्रपालिकाओं का चारा,

१. 'शुक सप्तति', ४-२२। दे० 'मल्हण चरित्र', पृ० ४६ भी।

जाल बिछाये उनके नैनों की चितवन के
बचता हिरन बटोही भी क्योंकर बेचारा ?"[1]

इसी प्रकार वर्षा-काल के यात्रियों का भी वर्णन मिलता है :

"फँसे कीच में भूल राहें, पुकारा किया—
जानकारी किसी ओर को हो, बता दे
मिली राह तो पैर फिसले कि काली मिली राह माटी,
नजर भी धता दे
गई सामने के झकोरे पड़े जब, विकट दौंगरों के, झुकाना पड़ा सिर;
लिया आसरा पेड़ का, पर बरसने लगा मेंह थमते ही वह आप
हिर-फिर,
न 'गूडा'[2] किसी काम आया, न ही चप्पलें पाँव से हाथ में आ—"[3]

ताबीज़

ताबीज़ों का प्रचार आभूषणों के रूप में हो गया था। गले में ताबीज़ कमर में ताबीज़, कलाई पर ताबीज, बाजू पर ताबीज़, यहाँ तक कि सिर के बालों का झोंटा बाँधकर उसके चारों ओर ताबीज़ों की माला लपेट लिया करते थे।[4]

राजा का शिकार

राजा जब शिकार खेलने चलता तो नौकर-चाकर तरह-तरह की शिकार-सामग्री साथ लिये चलते थे। कुछ सामान ये हैं—जाल, फंदे, तिरछी लकड़ी, शूकरभोंक, परदे, कसदार रस्से, पिंजड़े, पाँव के फंदे,

१. 'चंद्रभानु', १-१६१-२।
२. 'गूडा'=सरपत की छतरी, छान-सी, दो-दो चटाइयाँ जोड़कर बनाते हैं।
३. 'चंद्रभानु', ५-३९।
४. 'शुक सप्तति'।

गले के काँटे, बाँसे, गोरकल, तेरल, मिडिविल, बड्गुल, सींग, पादु, बल्लेताड (ऐंठी हुई रस्सी), छड़ों की टट्टी। हिरन के लिए सींग की फाँसी लगती थी। बाज़ भी साथ रखते थे। चार-पाँच प्रकार के अलग-अलग जाति के शिकारी कुत्ते भी साथ रहते थे। कुत्तों के नाम पुट्टचंडु, चिम्बोतु, तुपाकी, तुटारी, लकोरी आदि थे। शिकारी पोशाक में सारा राज-परिवार चल पड़ता।[1] 'साम्बोपाख्यान' में ऐसे वर्णन मिलते हैं।[2] 'शुक सप्तति' के अन्दर दूसरी कहानी में शिकार का विस्तृत वर्णन है।

घड़ी-घण्टा

घड़ी-घण्टे का प्रचार काफी था। चौपाल पर, राजमहल के फाटक पर घड़ी के हिसाब से घण्टे बजाये जाते थे। 'साम्बोपाख्यान'[3] के अनुसार दोपहर का घण्टा 'महासंकुलाख' के साथ बजा। इससे विदित होता है कि उस समय ये काफ़ी थे।

तेलुगू पर तमिल का प्रभाव

वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ-साथ आंध्र देश में उस सम्प्रदाय की जन्मभूमि तमिलनाड के शब्द भी आ गए। उन शब्दों को धार्मिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। आंध्र के वैष्णवों में भी आज विशेष वस्तुओं के लिए विशेष तमिल नाम ही बोले जाते हैं। जैसे तिरुकट्टे (झाड), तिरुमाले (मन्दिर), तिरुवंजन (स्नान), तिरुवेगुकु (दिया), तिरुपण्यारम् (पुरी), तिरुमणि (तिलकु), सापाटु (भोजन) इत्यादि। यदि ऐसे शब्दों का प्रयोग न करें तो समझा जाता है कि उनका वैष्णवत्व अपवित्र हो गया, वैष्णवत्व आंध्र के लिए तमिल दासता तो नहीं ?[4]

१. 'चंद्रभानु', २-२१,२४।
२. वही, दे० आश्वास २, पद्य ३-२५।
३. वही, २-४८।
४. 'वैजयन्ती माला', २,१०५, १२०, १३१।

'विप्रनारायण चरित्र' तेलुगू भाषा की पुस्तक है। फिर भी उसमें बहुत सारे तमिल शब्द प्रयुक्त हैं। जैसे—तिरुवीसमु, तिरुमावुलु, तिरुपंदेरमु, गंडा वडा, (५,८,१२)। श्री वैष्णवों के लिए गंडवडा, तिरुमणि पेटी, विरुलागरडी (डलिया), काविबेष्टि (धोती), हिरन का चमड़ा ऊर्ध्वपुण्ड्र करंणुम, तुलसीमाला, दविश्रम्, कुशास्तरणम् आदि विशेष साधन हैं। शब्द दविश्र गलत है। असल में यह 'धवित्र' है, जिसके माने हैं हिरन के चमड़े से बना हुआ पंखा।

दासरी सानी की पोशाक में चीनी कहेंगे और उस पर घूँघट से ढकी 'पैलक मुद्रा' का उल्लेख है।[1] 'पैलक मुद्रा' शब्द-कोश के अन्दर नहीं है। किन्तु एक दूसरे कवि ने दासरी सानी का वर्णन इस प्रकार किया है:

"चोटी गूँथ और उसे लीरे से कसकर !"

सम्भवतः यही पैलक मुद्रा है।

पान और पानदान

पान खाने वाले पानदान भी रखते थे। पानदान चाँदी, पीतल या ताँबे के होते थे और उन पर उससे ऊँची धातु से जाली का काम किया होता था! कत्थे को केवड़ा जल के साथ पीसकर गोलियाँ बना ली जाती थीं। कस्तूरी और कपूर भी पान में पड़ते थे।[2]

धनी लोग चमेली के तेल को सिर में मलते और उड़द के आटे से रगड़कर स्नान करते थे।[3]

'मछली-मार'

'मछलीमार' एक दवा होती थी। एक जंगली पेड़, जिसे 'गारा' कहते थे, उसे पीसकर नालों, तालाबों और कुओं में डालने पर सारी

१. 'विप्रनारायण चरित्र', २-८७।

२. 'मल्हण चरित्र', पृ० ४५।

३. 'वैजयंती विलासमु', ४-५६।

मछलियाँ उसके असर से मरकर पानी पर तैरने लगती थीं।[१]

पुरस्कार

पण्डितों, विद्वानों, कवियों, नर्त्तकों, गायकों तथा वेश्याओं की कलाओं से प्रसन्न होकर राजा उन्हें पुरस्कार दिया करते थे। वस्त्र, आभूषण के साथ ११६ या ११११६ 'वरहा', 'माडे' आदि पुरस्कार में दिये जाते थे! एक सौ सोलह की संख्या की शुभता तेलुगू की एक प्राचीन परिपाटी है।[२]

भोजन

पिछले अध्यायों में भोजन के विषय में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। उस समय भी वही भोजन प्रचलित थे। 'साम्बोपाख्यान' में लिखा है कि भोजन के समय साले-बहनोई आपस में व्यंग्य किया करते थे।[१] भोजन के समय पहले घी तथा अन्य मीठे पदार्थों से चावल खाते थे। उसके बाद पतली दाल अथवा 'रसम'-जैसी पतली चीजों के साथ खाते थे। और अन्त में दही-चावल खाते थे। मांसाहारी लोग मांस खाते तथा मांस का शोरबा आदि पीते थे। गेहूँ के आटे, दाल और घी के साथ 'कुडुमुलु' आदि अनेक भक्ष्य पदार्थ बनाये जाते थे।[३]

'शिखरिणी' की प्रशंसा भी आती है। लेकिन शब्द-कोश में इसके अर्थ ग़लत हैं। 'विक्रमोर्वशीय' के तृतीय अंक में लिखा है कि : **"अहमपि यदा शिखरिणी रसालञ्च न लभेत तैतत् आर्दयमानः संकीर्तयन्नाश्वसिभिः"** (मुझे भी जब तक शिखरिणी और मीठे आम न मिलें तब तक मेरा मन नहीं भरता है……)। इस शिखरिणी की व्याख्या रंगनाथ पण्डित ने यों की है :

१. 'वैजयन्ती विलासमु' २-१४०।

२. वही, १-१३२।

३. 'साम्बोपाख्यान', अ० ५-२९६,३०३।

"एला लवंग कर्पूरादि सुरभि द्रव्य मिश्रितम् क्षीरेण सह गलितम्, सिता संगतम्, दधिशिखरिणीत्युच्यते दध्यतिरिक्त पूर्वोक्त द्रव्यमिश्रित: पक्व कदली फलम् तत्सारोऽपि तत्पदवाच्य: !" अर्थात् इलायची, लौंग, कपूर आदि सुगंधित वस्तु दूध या दही में मिलाकर, शक्कर के साथ कपड़छन करके शिखरिणी तैयार की जाती है। दही की जगह पके केले के गूदे के सत को मिलाने से भी शिखरिणी बनती है। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रन्तों में इस शिखरिणी को भिन्न-भिन्न पद्धतियों से बनाते हैं। महाराष्ट्र में दही को कपड़े में बाँधकर लटका देते हैं। पानी सारा निचुड़ जाने के बाद एक बड़े भगौने के मुँह पर कपड़ा बाँधकर उसमें दही को छोड़ देते हैं और शक्कर, इलाइची, लौंग, जायफल, जेंतरी, केसर आदि मिलाकर कपड़े से छानते हैं। यही श्रीखण्ड कहलाता है। रायल सीमा और तेलंगाने में अमरस में उक्त सुगन्धियाँ मिलाकर उसे श्रीकरिणी कहते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में[१] कहा है "रसालस्यदध्न:"। भारद्वाज ने जब रामचन्द्र जी को भोजन करवाया तब उसमें यह भी था। व्याख्याताओं ने कहा कि दही को मिर्च, सोंठ, अदरक, जीरा आदि डालकर छौंक दिया गया था। वह भी शिखरिणी ही तो नहीं थी? अम्बली अथवा गटका नाम पहले कई बार आया है। आटे को पानी में पतला पकाकर गरीब खा लेते हैं, यही अम्बली है। पर 'पांडुरंग माहात्म्य', 'साम्बोपाख्यान' और 'आमुक्त माल्यदा' में भी दावत की सामग्री में 'अम्बल्लु' ('अम्बली' का बहु वचन) का प्रयोग आया है। यह जवार या रागी की अम्बली नहीं, बल्कि खीरे की जाति का कोई लेह्य पदार्थ है, जिसमें इलायची आदि मिलाने की बात भी कही गई है।

खड़ाऊँ भी कई तरह की बनती थीं। वैष्णवाचार्य चंदन की खड़ाऊँ पहनते थे।[२] राजा हाथी-दाँत की खड़ाऊँ पहनते थे।[३]

१. अयोध्या कांड, श्लोक ९१-७।
२. 'विप्रनारायण चरित्र'।
३. 'शुक सप्तति', १३-७०।

ओली अथवा मेहर

'ओली' एक प्रकार का स्त्री-धन है। बनियों में इसकी प्रथा अधिक प्रचलित थी। एक बनिये ने कहा है कि "मैंने अपनी पत्नी को १०० माँड की ओली दी।"[१] शूद्रों में साधारणतया १० माडँ ओली में दिये जाते थे।[२]

मालिश

तेल की मालिश करके जीविका कमाने वालों की एक जाति थी। एक कविता है :

"मालिश करने घर-घर जाकर
खेल-खेल की दौड़ लगाकर
साग-पात चुन लाता,
उतरन के फटे-चिटे कपड़ों को
बेखटके वह सगे सगों को
दाँत निपोर दिखाता,
नित्य किरण से पहले जाकर
नित्य किरण से पीछे आ घर,
रात का रखता नाता·····[३]

क़ालीनें, कनातें

धनी क़ालीनों पर बैठा करते थे,[४] सर्दियों में 'बुनीस' (मुलायम ऊनी चादर) ओढ़ा करते थे।[५] ये शब्द कोश में तो नहीं हैं, किन्तु

१. 'शुक सप्तति', २-६१।
२. वही, ३-१३६।
३. वही, २६२-३।
४. वही, १-२६२।
५. वही, २-२६-६५।

तेलंगाने में अब भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं।

व्यभिचार, चोरी, नीच जाति के साथ खाने-पीने या नाता जोड़ने आदि के अभियोग में लोगों को बिरादरी से निकाल बाहर किया जाता था।[1]

युद्ध रोकने अथवा सुलह करने के लिए हारने वाला पक्ष 'धर्मदारा' धारण करता था, अर्थात् नारसिंघी बजाता था। इस पर दोनों पक्ष युद्ध रोक देते थे। 'क्रीड़ाभिरामम्' की भाँति 'शुक सप्तति' में भी :

"बिरही ने........
धर्मदारा की तरह् की मुर्ग की बाँग सुन,
सवेरा होने की सूचना पाई !"[2]

सज़ाएँ

क़र्जदारों के बारे में पहले कह चुके हैं कि उन्हें धूप में खड़ा कर दिया जाता था। इसे 'पोगड दंड' कहते थे।[3] धूप में खड़े अपराधी के चौगिर्द, जमीन पर लकीर खींच दी जाती और कह दिया जाता कि उससे बाहर न रहे।[4]

चोरों को पकड़-पकड़कर एक बल्ली के साथ खड़ा किया जाता था और उनके हाथ-पैर, उस बल्ली में लगी दो-दो खूँटियों के छेदों में उतार-कर कस दिये जाते थे। और फिर धूप में खड़ा या पड़ा डाल दिया जाता था। इसे 'बोंडाकोय्या' कहते थे।[5]

सुहागिन के मरने पर कहा जाता था कि वह कड़े के साथ स्वर्ग सिधारी।[6] उस कड़े की इतनी क़द्र थी कि पुरुष के दूसरी शादी करने

१. 'शुक सप्तति', २-१३६।
२. वही, ३०३।
३. वही, २-१६।
४. 'वैजयंती विलासमु', २-२४३।
५. शुक सप्तति, ३-२०४।
६. वही, ३-३३७।

पर, नई स्त्री के दाहिने हाथ में एक पतला कड़ा पहना दिया जाता था, जिस पर दो बिंदियाँ बनी होती थीं।

नम्बी जाति के वैष्णव मंदिरों के पुजारी होते थे। वे अपने घरों और मंदिरों में पीले, लाल और उजले कनेर लगाते थे। वे लोग उनके फूल धनी स्त्रियों के घर पहुँचाकर बदले में कुछ पा जाते थे। "ग्राम-नम्बी को लालच देकर फूल मँगा लेना" अथवा "पके बालों में नम्बी के फूल गूँथना" आदि उक्तियाँ इस बात की सूचक हैं कि नम्बी का पेशा फूल पहुँचाना ही था।[1]

संतों-यतियों के जीवन के सम्बन्ध में कहा है :

त्रिकाल-स्नान, इष्ट पूजन, ध्यान-मनन,
पोथी-पठन, भीख का भोजन औ' हर्र का सेवन,
मृगछाला-शयन—यती के लच्छन ![2]

यहाँ पर हर्र खाने की बात आ गई है। आयुर्वेद में हर्र को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। "दसमाताहरीतकी" (यस्य माता गृहे नास्ति, तस्य माता हरीतकी) आदि उक्तियाँ इसकी प्रामाणिकता को घोषित करती हैं। हर्र बड़ी लाभदायक वस्तु है। कहते हैं कि शक्कर की चाशनी से हर्र का मुरब्बा तैयार करके, रोज़ एक हर्र के हिसाब से छः मास तक खाते जायँ तो सिर के पके बाल भी काले पड़ जाते हैं। पर यह भी कहा गया है कि यह पुंस्त्व के लिए हानिकारक होती है। यहाँ पर यति का हर्र-सेवन कदाचित् इसीलिए हो।

ब्राह्मण के घरों में टूँटीदार लोटे होते थे। 'द्वारावतिगलंति'।[3] आजकल ब्राह्मण लोग मिट्टी के बरतन नहीं बरतते। वेद-काल में मिट्टी के बरतन ही अधिक होते थे। 'मृण्मयमृदेवपात्रम्' (देवताओं के बरतन मिट्टी के होते हैं।)। आज तक शुभाशुभ कार्यों में मिट्टी के पात्र ही के बरतने

१. 'शुक सप्तति', २-४३५, ४८७।
२. वही, ३-५४५।
३. 'पांडुरंग माहात्म्यम्'।

की विधि चली आ रही है। तेनालि रामकृष्ण के समय में ब्राह्मण-घरों में रसोई अधिकतर मिट्टी के पात्र में ही बनती थी। किसी ब्राह्मण के घर कोई ब्राह्मण अतिथि पहुँचा। ब्राह्मणी ने बरतन भरकर पकाया और उसके आगे धर दिया। भूखे अतिथि ने सारा भोजन सफाचट कर डाला। तब ब्राह्मणी ने अपने पति के लिए, जो गाँव से बाहर कहीं गया हुआ था, मिट्टी के एक बरतन में जो खाना रख छोड़ा था, उसे भी मिट्टी की एक रकाबी में लाकर उसके आगे परोस दिया था।[1]

निगम शर्मा की गणना आन्ध्रों में की जाती है। उसकी बहन तो पक्की आन्ध्राणी थी। उसकी ससुराल आन्ध्र में थी। इनके पिता कलिंग देश के अन्तर्गत पीठिकापुर के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, किन्तु निगम शर्मा ने व्यभिचारी बनकर अपने पिता की सारी सम्पत्ति बरबाद कर डाली थी :

"दिन-भर के खर्च के लिए वह अपने शरीर पर के सोने-चाँदी के गहने 'बच्चि' नामक स्त्री के घर रेहन रख देता। माता के शरीर से भी रोज थोड़े-थोड़े करके सारे गहने लेकर खरच डाले। पिता के कागज-पत्र भी चुरा-चुराकर बेचता रहा और उनसे साहूकारों से ब्याज पर रुपये ले-लेकर कर्जदार बन गया। खेतों को ठेके पर दे डालता। अपने बेटे निगम शर्मा की यह दशा देखकर पिता व्याकुल हो उठते कि न जाने उसकी क्या दुर्गति होने वाली है!"

उन दिनों ब्राह्मण-घरों में प्रायः पुस्तकालय होते थे। हर्ष ने अपने 'नैषध' में भी इसकी चर्चा की है। **'मूर्खान्ध कूपपतिनादिव पुस्तकानाम्'** (मूर्ख रूपी अँधेरे कुए में पुस्तकों के पड़ जाने के समान........)। निगम शर्मा की बहन अपने पुस्तकालय को अपने पति के द्वारा दूसरों को दिये जाने, जल जाने, खुल जाने, कीड़ों द्वारा खाये जाने या माँग ले जाये जाने आदि उपद्रवों से बचाये रखती थी। ताड़-पत्तों पर लिखे ग्रन्थों के लिए अग्नि, शिथिलता, कीड़े और याचक मुख्य शत्रु हैं। एक दिन निगम

१. 'पाण्डुरंग माहात्म्यम्', ४-१७२।

शर्मा भोजन के लिए बहन के पास गया। बहन ने अपने बच्चों को भाई के हाथ में देते हुए कहा कि कहाँ जाते हो, भानजे को गोद में ले लो, बहनोई के साथ भोजन कर लेना! खाने के बाद जब उसके छोटे-बड़े बच्चे चारों ओर से उसे घेरकर गड़बड़ कर रहे थे, तब वह अपने भाई के पास जा खड़ी हुई और उसके सिर के बालों का शिखा-बन्धन खोलकर स्नेह सीत्कार के साथ जूँओं के अण्डे परख-परखकर निकालने लगी। निकालती जाती और अँगूठों के नाखूनों के बीच दबाकर फोड़ती जाती। फिर अपनी अँगुलियों के नाखूनों के सिरों से कंघा करके उसके बालों को फटकार दिया और गले के मैल को मल-मलकर निकाला। फिर खूब मल-मलकर उसके हाथ धुलाये। इतने में भावज भी आ पहुँची। एक हाथ से पान का बीड़ा थमाते हुए वह दूसरे हाथ से स्वर्ण-रचित पंखा झलती रही। नौकरानी ने पीढ़ा ला रखा और वह उस पर बैठ गई। उस समय वह ऐसी लगती थी, मानो पद्मकर्णिका पर साक्षात् लक्ष्मी जी विराज रही हों। उसकी गोदी का बच्चा दाहिनी ओर जरा तिरछा बैठा माँ के स्तन से दूध पीने लगा। धीरे-धीरे वह कमलनयनी अपने भाई से कहने लगी: "क्यों भैया, जिस वेदाध्ययन का तूने अभी-अभी आरम्भ किया है, उसमें कहीं बाधा न हो, शायद इसी विचार से तेरा इधर आना-जाना बन्द हो गया है! कितने दिन बीत गए, तुझे देखने को आँखें तरसती रहती हैं। कमल के समान, मेरे यह नयन रोते-रोते सूज गए हैं। तुम्हारे बहनोई भी तुम्हारे आगमन की कामना वैसे ही करते रहते हैं, जैसे समुद्रराज चन्द्रमा के आगमन की।"

इस प्रकार निगम शर्मा की बहन अपने भाई के दुराचरण से संतप्त-हृदय होकर कहने लगी:

"भैया! डगमगाकर चलने वाले माता-पिता, चल न पाने वाले छोटे-छोटे बच्चे, यह नई दुलहिन, ये बेज़बान गौएँ, नौकर-चाकर, तुम्हें छोड़कर और कहाँ जायँ? इन सबका भार तुम्हारे सिर है। ठीक उसी प्रकार जैसे महाभारत की सारी कहानी कर्ण (कुन्ती-पुत्र) पर निर्भर है।"

इसी प्रकार उस बहन ने भाई निगम को करुणा-भरे अनेक उपदेश दिये। सारा-का-सारा प्रकरण उस समय के ब्राह्मण-कुटुम्ब का सुन्दर वर्णन है। 'निगम शर्मा उपाख्यान' उत्तम कोटि का रसोपेत ग्रन्थराज है। यह हमारे सामाजिक इतिहास के लिए अत्यन्त उपयोगी है।[1]

साँप के डसने पर ज़हर उतारने के कई उपाय थे। साँप ने शरीर के जिस भाग पर काटा हो, वहाँ छुरे से घाव लगाकर रक्त बहा देते थे। घड़ों में पानी भर-भरकर मन्त्रों का उच्चारण करते जाते थे, इत्यादि इत्यादि।[2]

वेंकटनाथ के इस 'पंचतन्त्र' में अनेक ऐसे विषय हैं जो मूल संस्कृत 'पंचतन्त्र' में नहीं हैं। इन्हीं नये विषयों की कुछ चर्चा यहाँ पर करेंगे। जाड़ों में लोग कैसे निर्वाह करते थे, इसका बहुत अच्छा वर्णन वेंकटनाथ ने किया है। कहते हैं : "जाड़े के आगमन पर पान, सोंठ, अगरधूप (लोबान) कम्बल और मोटी चादरें लोगों को प्रिय हो उठती थीं। कोदों का भात, सूखी फलों की तरकारी, गाय का घी और दही-भात साथ बाँधकर रेड्डी खेत जोतने चले।"[3]

'वैदिकी ब्राह्मणों' अर्थात् पुरोहिताई करने वालों के सम्बन्ध में वेंकटनाथ ने लिखा है कि (वे) "चुन्नटदार धोती बाँधे, धुला हुआ उजला उपरना ओढ़े, माथे पर गोपी-चन्दन लगाये और चोटी में फूल गूँथे (होते थे)।"[4]

गडरिये के जीवन के सम्बन्ध में वेंकटनाथ ने खूब विस्तार लिखा है—"गडरिये के पास भेड़ों का गल्ला, गाय-बैल का बाड़ा, अनाज की खत्तियाँ और घास की टालें हुआ करती थीं। गडरियों के चौधरी 'बोया' कहलाते थे। गडरिया नये तल्ले लगी पुरानी चप्पलें पहने, गटके

१. 'पाण्डुरंग माहात्म्यम्', अ० ३।
२. वेंकटनाथ, 'पंचतन्त्र', ११६-१२०।
३. वही, १-६८६-८।
४. वही, ५-२४४।

का मटका सिर पर लिये, लँगोटी लगाये, कमर में कटार खोंसे, मनकों की करधनी बाँधे, गुलेल और दूध की बहँगी के साथ कंधे पर कम्बल लटकाये, बाँसुरी धरे घर की ओर चला।"[1]

उस समय लिखाई ताड़ के पत्तों अथवा कागज़ पर हुआ करती थी। पुराने ज़माने में कई कागज एक साथ लाँबालाँबी जोड़कर लिखते जाते और गोल लपेटकर रख देते थे, यह लपेटा दस-बीस हाथ तक की लम्बान का भी हो सकता था। (आजकल भी उत्तर भारत में जन्म-पत्री इसी प्रकार लिखते हैं।) कागज़ के अतिरिक्त टाट के टुकड़ों पर भी लिखा जाता था। बनिये अपने हिसाब इन्हीं टाट-पट्टियों पर लिख लिया करते थे। 'पांडुरंग माहात्म्यम्' के टीकाकार ने टाट की पट्टियों का ब्यौरा दिया है। पिछले अध्याय में हम बता आए हैं कि तेलंगाने के महबूबनगर जिले में चालीस-पचास बर्ष पहले तक बनिये मुकब्बे जोड़-कर कोयलों और पत्तों के रस से उसे काला करके उस पर सेलम खरिया की बत्ती से अपना हिसाब-किताब लिखा करते थे। पाँच-सात दफ़्तियों को जाली की सिलाई से इस प्रकार जोड़ दिया जाता था कि वे सब एक ही दफ़्ती के बराबर पुस्तक के रूप में रखे जा सकते थे और तख्ती का काम देते थे। लगभग सन् १९२० ई० तक इस प्रकार की दफ़्ती-बही हैदराबाद राज्य के बनियों के पास रहती थी। बड़े-बूढ़ों से पूछ-ताछ करके जो-कुछ हम मालूम कर सके, उसके अनुसार टाट या दफ़्ती की बही इस प्रकार तैयार की जाती थी—

दो मोटे-मोटे कागज एक कपड़े के दोनों ओर गोंद या लेई से चिपका दिये जाते। दफ़्ती पर कागज़ के चिपकाने की आवश्यकता नहीं थी। पहले उसे कोयले से काला किया जाता, फिर पत्ते, विशेषकर भृंग-राज के पत्ते से रगड़ा जाता। उस रस में कुछ गोंद भी मिला देते थे। भृंगराज के पत्ते न मिलने पर तुरई, धतूरा आदि किसी भी बेल या पौधे की पत्तियाँ रगड़ दी जाती थीं। इस प्रकार कई बार कोयले और

१. वेंकटनाथ, 'पंचतन्त्र', १-५९८।

पत्ते रगड़ा करते थे। इससे उस पर एक काला लेप-सा चढ़ जाता। धूप में उसे खूब सूखा लेने के बाद उस पर सेलम खरिया की मोटी-मोटी बत्तियों से लिखा जाता था। मिटाना हो तो फिर वही कोयला-पत्ता रगड़ा करते थे। अब तो टूटने-फूटने वाली सलेटें चल पड़ी हैं। विद्यार्थी पुराने जमाने में चोबी तख़्तियों पर लिखा करते थे। उन तख़्तियों पर भी कोयले और पत्ते के रस आदि को रगड़कर मला जाता था। आजकल दफ़्तियों की वे वहियाँ या चोबी तख़्तियाँ एकदम ग़ायब हो चुकी हैं। 'पांडुरंग माहात्म्यम्' में इनके तीन-चार नाम दिये हैं। जैसे पोवा, कडितम्, कलितम्, कविले आदि।[1]

इस सदी के पहले भाग में चोबी तख़्ती की लम्बाई चार या पाँच फुट, चौड़ाई एक फुट और मोटाई सवा इंच के लगभग होती थी। धूप एकदम न निकलने पर पत्ती रगड़ने के बाद उस पर फिर कोयला रगड़ देते थे। इससे बिना सूखे भी अक्षर उठ आते थे।

गुट्टियों का खेल औरतों का ही था। आज भी उन्हींका है। पाँच-छः गुट्टियों को हाथ की अंगुलियों पर उल्टे-सीधे झेलकर यह खेल खेला जाता है।[2]

'वैजयंती' में बाज़ी बदकर खेलने के कुछ खेलों की चर्चा है। ऐसे खेल विशेषकर वेश्याओं के घरों पर हुआ करते थे। कुछ लोग मुरग़ी के अंडों को बाजी पर लगाते थे। कुछ मुरग़ों की बाजी लगाते थे। कुछ पैसा ही लगाकर खेला करते थे। कई गन्नों को एक-साथ गट्ठा बाँधकर एक ही बार में सबको तोड़ दिया जाता था। कुछ खाने की चीज़ें रख दी जातीं। नियत स्थान को छूकर आने से पहले दूसरा उसे खा जाता था। खा न सके तो हार मानता था।[3]

गडरिये घूम-घूमकर दूध-दही और घी बेचते थे। 'शुक सप्तति' के

---

१. 'पांडुरंग माहात्म्यम्', ५, ७४, ८०, ८१, ८२।

२. 'साम्बोपाख्यान'।

३. 'वैजयन्ती', ३-६९।

अनुसार कुछ गडरिनें दूध-दही बेचने का बहाना बनाकर अपने प्रेमियों की घात में निकल पड़ती थीं।[1]

खेती तथा व्यापार

राजा ही नहीं, उनके मंत्रीगण तथा उनकी पत्नियाँ भी तालाब अर्थात् बाँध बँधवाती थीं। गुंटूर मंडल में लंकायल पाडु गाँव में गोपीनाथ-समुद्र के नाम से एक तालाब है, जिसे मंत्री रामय्या भास्कर की बहन चिन्नाम्बा ने बँधवाया था और वहाँ एक शिला-शासन (सन् १४६२ ई०) भी स्थापित किया था।[2]

उसी प्रकार १५२७ ई० में कड़पा जिले के सिदपट्टम नामक गाँव में मट्ला अनंत भूपाल ने एक तालाब बनवाकर एक शिला-लेख स्थापित किया था।[3]

श्रीमान् पल्जी रामकृष्ण शर्मा ने कर्नूल जिले के पेदाबेलगल्लु के धर्मन्ना नामक पटवारी के यहाँ से ताम्र-पत्र प्राप्त करके लगभग चालीस वर्ष पूर्व वनस्पति से उसे प्रकाशित किया था। उस ताम्र-पत्र से उस समय खेती की विधियों तथा आयागार और मीरासों की व्यवस्था का ब्यौरा मालूम होता है। उस ताम्र-पत्र के खास-खास विषयों को ज्यों-का-त्यों नीचे दिया जाता है :

"शालिवाहन सम्वत् १४१४ में श्री कृष्ण देवराय के साथ आये हुए मुम्मडी रेड्डी नायक आदि सरदारों को दी गई मीरासों का ब्यौरा—गडरियों के पालेगार बन जाने से दुर्गों की गतिविधि अचल हो गई थी, और घोर उपद्रव मचा रहता था। आप लोगों ने उन पर विजय प्राप्त की है। इसलिए चेरुबेलगल्लु से लेकर चामल गुड़ा, कम्मल पाडु, तिम्मन दोड्डी आदि सोलहों स्थान् आपके हो चुके हैं। अतः इन

१. 'शुक सप्तति', ३-५४०।

२. 'शासन पद्य मंजरी', शासन संख्या ८०, पृष्ठ १०३।

३. वही, शासन सं० २४, पृष्ठ १०६।

स्थानों का शासन सुव्यवस्था के साथ चलाकर श्री विरूपाक्षेश्वर के राज्य को प्रख्यात करें। गाँवों के सिवाने निश्चित करके रायसमवीर-सरसू को भेजकर शिला-लेख स्थापित करने का ब्यौरा''''''बारह बल-वंतों के नाम;

श्लोक—करणम्, मुच्चि, कंसाली, कम्मर, कुम्मर, गणक, शिल्पक, स्वर्ण, मृदयस्कार तक्षका: कसार कश्च, भकार: चंडालश्चितलम् तथा निकृष्टकालिकांचि यथाक्रमम् येते द्वादशजातीनाम् ग्राम भारस्य वाहका: ।''

अर्थ—पटवारी, मोची, सुनार, लुहार, कुम्हार, नापने या गिनने वाला गणक, शिल्पी, बढ़ई, कसेरे, चांडाल, धोबी, तथा कतिकी ये बारह व्यक्ति गाँव के भार का वहन करते हैं।

कर्नूल प्रांत में जंगल अधिक हैं। इस कारण विजय नगर के सम्राटों ने मीरासें दे-देकर और कई-कई वर्षों तक लगान माफ करके किसानों को आकर्षित किया और इस तरह वहाँ पर अनेक नये गाँव बसाये। कर्नूल जिले के अस्वरी गाँव के पटवारी के पास जो ताम्र-पत्र पाया गया था, उसका ब्यौरा इस प्रकार है :

''शालिवाहन सम्वत् १४१२ में सालुवा श्री नरसिंह राय जी ने द्रोणाचल और अश्वपुरी की भूमि के बंजर और जंगलमय हो जाने पर यहाँ पर गाँव बसाने के लिए यह घोषित कर दिया कि यहाँ जो भी चाहें और जहाँ से भी आना चाहें, आकर गाँव बसा सकते हैं। और उन्होंने यह कौल-नामा लिखवाकर भिजवा दिया कि यह हमारी काणियाच्चि मीरास रहेगी और हम गल्ला अदा करते रहेंगे। इस पर मलकासीमा, गोरंटी सीमा, बिलकल्लु, बाणाल, अमरवाल, शातनकोट, ब्यावनकोंडा आदि गाँवों से अठारहों वर्गों की प्रजा तथा बारह बलवंत, पुरोहित, मठपति, जंगम, तम्मडि, गडरिये तथा बुनकर आदि चेरुवेलगल्लू पहुँचे और स्थायी रूप से श्री रायल की सेवा में उपस्थित होकर बस गए। रायल के कहे शब्दों का ब्यौरा : जिस गाँव को जो बसा रहा है, वह

उसी की मीरास है। गाँव बसाने वाली इस नवागत प्रजा को आठों दिशाओं के खेत बताकर, उनकी चौहद्दियाँ तय कर देने का फैसला····

"मीरासदारों की नियुक्ति का ब्यौरा : रेड्डियों का फैसला-पाका-नाटी प्रजा दो भाग, ओंटारी प्रजा एक भाग, परवाटी प्रजा एक भाग, कुल चार भाग····।

"पटवारी···लुहार, धोबी, नाई, कुम्हार, जुलाहे, चौकीदार, देवी-देवताओं की बड़ी देवनी, छोटी देवनी (विचित्र नामों पर ध्यान दें), चमारनागवागा, तिम्मापागा (ये नाम भी ध्यान देने योग्य हैं), बेगार, ये बारह बलवंत हैं।

माफ़ी ज़मीनों का निर्णय : बालविश्वेश्वर अनादि मूर्ति हैं। इसलिए भोग तथा दीया-बत्ती के लिए माफी जमीन चार तूम (मन) और भैरवेश्वर को डेढ़ तूम (अर्थात् इतनी बीज की जमीन···)।

शिवालय के लिंग महादेव को डेढ़ मन, हनुमंतराय (हनुमानजी) को पाँच तूम, पोतराजु को डेढ़ तूम, इति देव स्थानों की माफी समाप्त। रेड्डी की माफी, पटवारी, चौकीदार, लुहार, बढ़ई, धोबी, नाई, कुम्हार, जंगम, तम्मडी, दासरी, मेरगोड (न जाने यह कौन-सी जाति है!) (शायद दरजी हों—अनु०), बुनकर, (हर एक के लिए अमुक-अमुक 'तूम'—परिमाण निश्चित किया गया है)। इस प्रकार पाँच साल तक माफी कौल के बाद प्रत्येक 'तूम' पर पाँच 'बरहा' लगान निश्चित करते हैं।"

रायल-काल के बाद से अब तक केवल बारह कामदार (नेगी या पौनी) रह गए हैं। सन् १६०० ई० से नीचे दिये हुए इन बारह आयगारों (कामदारों) की गिनती की जाती है:—१—पटवारी, २—रेड्डी (मुकद्दम), ३—चौकीदार, ४—धोबी, ५—चमार, ६—नाई, ७—बढ़ई, ८—सुनार, ९—पुरोहित ब्राह्मण, १०—नेरडी, (जहाँ पानीदार तालाब हों), ११—कुम्हार और १२—लुहार। इस गिनती में पीछे कुछ और परिवर्तन हुए। आजकल सुनार और ब्राह्मणों की गिनती आयगारों में

नहीं है। पटवारी, पटेल और चौकीदार अथवा कावलकार के लिए वेतन अथवा स्केल मुक़र्रर है। इसलिए इनकी भी शुमार आयगारों में नहीं रही। अब निश्चित रूप से बचे हुए नेगी लोग ये हैं—धोबी, नाई, बढ़ई, लुहार, पानीदार (जहाँ तालाब हों), चमार और कहीं-कहीं कुम्हार भी। करणम् अर्थात् पटवारी का काम सदा से हिसाब-किताब सीखने का ही रहा है।

एक कविता है :—

"काम पड़े पर खड्गों का बदला लेता है 'गंटम्'[1]
इसी नीति पर चलकर बाज़ी जीता करता 'करणम्' !"[2]

रेड्डी अथवा मुक़द्दम के सम्बन्ध में भी कहा है कि यदि रेड्डी ग्राम का अधिकारी बन जाय तो किसानों की तबाही निश्चित है।

उन दिनों ग्राम-पंचायत के अधिकारी ही लगान-वसूली करते थे। गाँव के चौकीदार ही पुलिस, और पंचायतें ही अदालतें थीं।

किसान ढोर-डंगरों को बाँधने और जोतने के लिए बड़ की जटा (बरोह) काट-काटकर उससे रस्सियाँ बनाते थे।[3]

खेती करने वालों में रेड्डी ही प्रधान थे। साधारण रेड्डी खुद खेतों में मेहनत करके फसलें उगाते थे। वे दोपहर तक खेत में काम करके घर लौटते, उपलों के चूल्हे पर मिट्टी के बड़े घड़े में गरमाया हुआ पानी लेकर स्नान करते और काँसे के तसलों में रागी का दलिया खाने बैठ जाते थे।[4] खेती करने वालों के यहाँ दूध-दही भी खूब होता था। अमावस्या के दिन वे खेतों पर काम नहीं करते थे। यह प्रथा आज भी अनेक प्रान्तों में विद्यमान है।

व्यापार विशेषतया कोमटी अर्थात् बनिये ही चलाया करते थे।

---

१. **'गंटम्'=क़लम। 'करणम्'=पटवारी।**
२. **'शुक सप्तति', २-३३२।**
३. **वही, २-३३५।**
४. **'रुक्मांगद चरित्र', २-४३।**

पहले अरब, ईरान, बर्मा, चीन, मलाया, पेगू, कम्बोडिया, इंडोनेशिया और सिंहल के व्यापारी ही हमारे देश के साथ व्यापार करते थे। कृष्णदेवराय के समय पुर्तगाली भी उतरे और अब फ्रेंच और अंग्रेजों का भी आगमन हो चुका था। उनके साथ हमारे व्यापारियों ने खरीद-बिक्री की। कदरीपति ने अपनी प्रथम कथानिका में ही बताया है कि विचित्र वेश-भूषा और भाषा वाले अंग्रेज और फ्रांसीसियों के ठिकाने समुद्र-तट पर ही हुआ करते थे। किन देशों से क्या-क्या माल यहाँ उतरता था, इसका भी ब्यौरा मिलता है। तेलिटापू से पद्मराग, ईला से नीलम, मक्का से कालीन, शीराज से शीराजी छुरियाँ, जम्मूद्वीप अर्थात् जम्मू से सोने के सीप (कट्टिण का शब्द 'शब्दकोश' में नहीं है, किंतु कट्टिण नाम की सोने के मनकों की माला आज भी पहनी जाती है। यदि मोतियों का हार हो, तो उसे मोतियों की कट्टिण कहते हैं), कश्मीर से केसर, मलाया से चंदन और जावा, सुमात्रा आदि से सुपारी आदि माल गोआ के बंदरगाह पर जहाजों से उतरा करते थे।

इसके अतिरिक्त मोती, हाथी, कस्तूरी, जलादि, कांच के कुप्पों में पनीर और गुलाब जल, पंचधातु से बनी तोपें, चाँदी की डंडी और रेशम के कपड़ों से बने पंखे, तीर-कमान, पत्थर को ढाने वाली छुरी, कटार, संगमरमर के कटोरे, लौंडियाँ अथवा दासियाँ आदि भी बाहर से आया करती थीं।[1] विदेशों से स्त्रियों के लाए जाने की बात दूसरे कवियों ने भी कही है। पारा, जायफल, हींग, लौंग, पंचलवण, गंधक और कुत्ते भी आते थे।[2] व्यापार पर निकलते समय व्यापारी अपने साथ में बेंत के कटोरे, तम्बू तथा अन्य आवश्यक सामग्री लेकर चलते थे। ईल, निलिंद और बंगाल के टापुओं से ये माल उतारते थे।[3] 'शुक सप्तति' में ईल का पाठांतर विलंग भी है। इसी प्रकार दूसरी जगहों पर कुछ

१. 'शुक सप्तति', १-२२२।
२. वहीं, १-१९२।
३. वहीं, १-१७६।

मिलते-जुलते ईला, मुम्मगी, बंगाल, पैंगोवा आदि नाम भी दिये हैं। 'शुक सप्तति' की रचना के दो सौ वर्ष बाद 'हंस विंशति' की रचना हुई है। 'हंस विंशति' के रचयिता ने 'शुक सप्तति' के शब्द, पद, पद्य, भाव, विधान सभी ज्यों-के-त्यों अपनाए हैं। इस प्रकार 'शुक सप्तति' तथा 'हंस विंशति' के समान शब्दावली के दो-एक पद्य का परस्पर मिलान करने पर कुछ निष्कर्ष निकल सकता है। दक्षिणी भाषाओं की वर्णमाला में 'ल' के साथ 'ळ' भी है, जिसका उच्चारण 'ड़' के समान होता है। इसलिए यदि हम इन शब्दों के 'ल' को 'ड़' पढ़ें तो ये शब्द बनते हैं: ईल = ईड, जो वास्तव में ईडन है। ईडन अरब देश में है और अरब से हमारा व्यापार प्राचीन काल से चलता था। इसी प्रकार 'वळदा' वास्तव में हालैण्ड है। हालैण्ड वालों ने हिन्दुस्तान के साथ अंग्रेजों और फ्रांसीसियों से भी पहले अपने व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ लिये थे। वे अधिकतर भारत के बन्दरगाहों से होकर ही इण्डोनेशिया के द्वीपों से व्यापार करते थे। अम्बाइना में अंग्रेजों के मारे जाने से अंग्रेजों की बला हम पर आ उतरी थी। हालैण्ड को हिन्दुस्तानी 'बलन्द' कहते थे। जान पड़ता है, कदरीपति के अनुयायी नारायण कवि को इसकी जानकारी न रही हो। फिर भी इस कवि की रचनाएँ हमारे लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई हैं। इसलिए 'शुक सप्तति' की अशुद्धियों को ध्यान में रखते हुए 'हंस विंशति' का अध्ययन ध्यान पूर्वक किया जाना चाहिए। 'शुक सप्तति' का 'पैंगोवा' वास्तव में आज का पेगू है।

बनियों के अतिरिक्त 'गु'त्ता गोल्ला' जाति वालों ने भी उस समय के व्यापार में थोड़ा-बहुत भाग लिया है।[1] बाहर से आने वाले माल में पटालांशुकम् का नाम है।[2] कोश में इसके पर्याय 'घर की छत,' 'नेत्र-रोग', 'परिवार' आदि हैं। पर ये अर्थ ठीक नहीं। 'अंशुकम्' माने कपड़ा। इसलिए पटालांशुकम् कपड़े का ही कोई प्रकार होना चाहिए।

१. 'शुक सप्तति', १-१७५।
२. वही, ३-७।

'शब्द कल्पद्रुम' में 'पटलम्' माने 'ओढ़ने का कपड़ा' बताया गया है। तेलुगु शब्दकोशों ने उसे घर की छत कहकर समाप्त कर दिया है। शरीर पर ओढ़ने की वस्तुओं को भी 'पटलम्' कह सकते हैं। ऊनी चादर आदि रही होगी। ईरान गुलाब की जन्म-भूमि है। वहीं से गुलाब-जल कुप्पों में भर-भरकर भारत में आता था। हरे और उजले दोनों प्रकार के कपूर पूर्वी द्वीपों से आते थे। 'शुक सप्तति' में कुछ और भी वस्तुओं के नाम दिये हैं, पर उनके अर्थ कहीं नहीं मिलते। इसलिए खेद के साथ छोड़ देने पड़े। उन दिनों बैलगाड़ी के चलने योग्य रास्ते नहीं थे। व्यापार के माल घोड़ों, गधों और बैलों पर लादे जाते थे। टट्टुओं पर सामान लाद-लादकर व्यापारी हाटों-हाट और मेले-मेले घूमा करते थे। 'शुक सप्तति' में एक स्थान पर एक टट्टू यह शिकायत करता है :

"कमर तोड़ने को काफी है लादी का ही भार।
फिर उस पर से हो जाता सौदागर भी असवार॥"[१]

इसी प्रकार बैलों पर भी लादी चलती थी।[२] (बल्कि बैलों पर अधिक व्यापार होता था) एक-एक ताँडे (कारवाँ) में सैकड़ों बैल होते थे, घोड़े इस देश में इतने कहाँ थे ?

लेन-देन उन दिनों सिक्कों में ही होता था, सिक्कों में 'माडँ' को ही अधिक महत्त्व प्राप्त था। ओळी अर्थात् स्त्री-धन के लिए प्रधानतया 'माडँ' का ही उपयोग होता था। 'माडँ' (सोने के सिक्कों) को लोग घड़ों में भर-भरकर ज़मीन में गाड़ देते थे।[३] 'रुका' का प्रचलन भी काफ़ी था।[४] 'रुका' शायद चाँदी का होता था। एक गडरिन 'रुका' का एक 'सिक्का' खोकर यों पछताती है :

---

१. 'शुक सप्तति', ३-४०३।
२. वही, २-२४६।
३. वही, १-४६७।
४. वही, २-२५।

"धर देना पड़ा 'रुक्का' आखिर हठीले उस बम्हन के हाथ में !
चार-चार मटके दही के बिके जो लगा के नगर के अनथक फेरे,
तब कहीं पड़ता 'रुक्का' एक ऐसा है कोई कदाचित् बांट में मेरे,
सूद पर अगर दे देती तो आता पलटके, लिये एक इकन्नी भी साथ में।"[१]

ऊपर के पद्य से प्रतीत होता है कि एक 'रुक्का' के चार मटके दही के मिलते रहे होंगे। इसी प्रकार लिखा है कि एक 'रुक्का' में टोकरी-भर चावल आता था।[२] इस तरह दही के चार मटके टोकरे-भर चावल के बराबर हुए। आज भी लगभग वही अनुपात है। ताड़ी पीने वाली स्त्रियाँ टोलियाँ बनाकर, आँचल के पल्लुओं में कासु, सोने की मनकी और चाँदी के टुकड़े बाँधे बाजार में जाती थीं। 'चिरुवाड' जो कुछ खरीदता वह भी खरीदतीं।[3] खेद है कि 'चिरुवाड' शब्द किसी कोश में नहीं मिलता। 'मितुक', 'टंक' और 'दीनार' का भी प्रचलन था। पैसे जालियों के बटुए में रखा करते थे। बटुआ कमर पर बँधा होता था।[४] 'चिट्टी' सबसे छोटा माप है। एक जगह आया है कि 'चिट्टी'-भर तेल सिर और शरीर पर मलने के लिए पर्याप्त है।[५] अर्थात् आधी छटाँक को चिट्टी कहते रहे होंगे। 'सोला', 'मानिका', 'इरसर', 'तूम', 'खंडी' आदि अनाज के तोल थे। 'मानिका' या 'माना' ढाई सेर का होता था।[६]

'शुक सप्तति' में छुरे, कटार आदि के सिलसिले में कई नाम आये हैं, जैसे 'अडिदमु', 'खंडा', 'कत्ति' (तलवार), 'दुनेदार' (दुधारी तल-

---

१. 'शुक सप्तति', २-५८।
२. वही, २-५६६।
३. वही, ३-११७।
४. वही, १-२१६।
५. वही, २-३८१।
६. वही, २-२६०।

वार), 'बाकु' (कटार), जमु (जम्बिया), दाडी, डावा आदि ।[१]

पंचायत सभाएँ

तमिल देश के अन्दर सन् २०० ई० से पंचायतें बनी हुई थीं। जात-पाँत के झगड़े, समाज-सुधार के कार्य तथा लगान की वसूली पंच ही करते थे। साल में एक बार गाँव-भर के लोग इकट्ठे होकर पंचों का चुनाव करते थे। वही हर प्रकार के फैसले किया करते थे। यही विधान आन्ध्र के अन्दर भी धीरे-धीरे जमने लगा। किन्तु आन्ध्र में चुनाव की प्रथा के प्रचलित होने के प्रमाण नहीं मिलते। चौकीदार अपराधियों को पकड़ लाते थे। रात को वे मशाल लेकर गाँव की गश्त लगाते थे। रात में ढपली बजने के बाद लोग बाहर घूम-फिर नहीं सकते थे। रात में यदि किसी पर सन्देह हो जाय तो उसे रात-भर थाने या चौपाल में काठ पर कस देते थे। (जिसे 'बोंडा कोय्या' कहते थे। इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।) सवेरा होने पर वह चोर है कि साह, इसकी जाँच करने के बाद निर्दोष होने पर उसे छोड़ देते थे। सोने-चाँदी की चोरी होने पर सबसे पहले सुनारों को पकड़कर पूछ-ताछ की जाती थी कि उसके पास कोई चोरी का माल तो नहीं आया। 'वैजयन्ती' में एक पद्य है :

"काँसे, ताँबे, चाँदी, सोने, मोती, मणि को चोर,
ले जाते हैं बिक्री करने सदा सुनारों के ही घर की ओर।"[२]

उन दिनों देश में सबसे धनवान मन्दिरों की मूर्तियाँ होती थीं। चोरी प्रायः मन्दिरों के अन्दर ही हुआ करती थी।

चोर के पकड़े जाने पर चौकीदार गवाही के साथ उसे अपने अधिकारी के पास ले जाता, जो पंचायत की सभा में उनकी सुनवाई करते थे। गाँव के मुखिया, खास-खास व्यक्ति ही पंचायत के सदस्य होते थे।

१. 'शुक सप्तति', २-३६४।
२. वही, ४-७३।

वे साधारणतया वेद-शास्त्रों के विद्वान् ब्राह्मण होते थे। सभाएँ मन्दिरों के सामने अथवा गाँव के बीच में बने हुए चबूतरों पर की जाती थीं। गाँव वाले भी आकर अगल-बगल में बैठ जाते थे। पंचायत की सुनवाई किस प्रकार होती थी, इसे जानने के लिए हम विप्रनारायण की सुनवाई की मिसाल ले सकते हैं—"रंगनाथ के मन्दिर से सोने की कटोरी चोरी चली गई। एक सुनार ने पता दिया कि वह कटोरा एक वेश्या के घर में है। गाँव के चौकीदारों की लाठी, तलवारों से लैस टोली तलाशी के लिए वेश्या के घर पहुँची। सारा घर छान मारने के बाद चन्दन की एक पेटी में कुन्दन की वह कटोरी मिली। कटोरी और वेश्या को लेकर वे अधिकारी के पास आये। तब उस वेश्या की वृद्धा माता ने कहा—'महाराज! मेरी बिटिया के एक प्रेमी ने यह कटोरी हमें दी है। वह इस समय हमारे घर में है।' यह सुनकर अधिकारी ने उसको पकड़ लाने के लिए अपने नौकरों को भेजा। वे वेश्या के घर गये। उन्होंने व्यंग के साथ विप्रनारायण को दण्डवत् किया और व्यंग करते हुए चोरी की बात बताकर उसे जिय्या (अधिकारी) के पास ले आए। जिय्या ने वेश्या से पूछा कि यह कटोरी तुम्हारे पास कैसे आई? वृद्धा वेश्या ने विप्रनारायण की ओर संकेत करते हुए कहा कि यह दासरी साल-भर से मेरी बिटिया देवदेवकी का प्रेमी बनकर हमारे यहाँ रहता है। जब इससे हमें कुछ नहीं मिला तो हमने इसे घर से निकाल दिया। तब एक छोटे-से ब्रह्मचारी के हाथ इसने हमें यह कटोरा भिजवाया है। तब विप्रनारायण ने सभा-वितति से यों कहा—'मेरा कोई शिष्य नहीं है। मैं एकाकी हूँ। यह जो कुछ कहती है एकदम झूठ है।' इस पर वेश्या ने कहा कि 'उस ब्रह्मचारी ने अपना नाम 'रंगा' बताया था। उसकी शक्ल-सूरत भी इसी जैसी थी। हम औरतें हैं। हमें यह मालूम न था कि तमिल देश का यह व्यक्ति हमारे साथ ऐसा करेगा!" दोनों की बातें सुनकर जिय्या ने विद्वानों की धर्म-सभा की बैठक बुलाई। सभा के सभी विद्वान् सदस्यों ने विप्रनारायण की निन्दा की। सभा की

कार्यवाही देखने के लिए गाँव-भर के लोग इकट्ठे थे। वे आपस में तरह-तरह की बातें करने लगे। जिय्या ने वेश्या तथा विप्रनारायण के बयानों को विस्तार से बताकर निर्णय देने के लिए कहा। सभी सदस्यों ने परस्पर वाद-विवाद किया कि वेश्या को कटोरी इसीके द्वारा मिली है। यह सदा मन्दिर में जाता है, इसलिए यही चोर है। इस प्रकार विप्रनारायण पर चोरी का अभियोग लगाकर सब सदस्यों ने एक स्वर से अपना निर्णय जिय्या को सुनाया। तब जिय्या ने पूछा कि इसकी सजा क्या होनी चाहिए? इस पर उन लोगों ने कहा—'जुर्माना करना एक, सिर मुँडवा देना दो, और मन्दिर से निकाल देना तीन; यही तीन इसकी सजाएँ हैं। यद्यपि अपराध तो प्राण-दण्ड के योग्य है, किन्तु ब्राह्मण होने के नाते इसके प्राण न लिये जायेंगे। विज्ञानेश्वर (धर्मशास्त्र) का यही मत है।' तब जिय्या ने कहा—'इसके पास धन तो है नहीं। सिर इसने पहले से ही मुँडवा रखा है। इसलिए कपड़े उतरवाकर सरहद से बाहर कर देना ही इसके लिए उपयुक्त दण्ड होगा।" सभा ने एक स्वर से इसे स्वीकार किया। इस पर श्री रंगनाथ भगवान् ने सभा में प्रत्यक्ष होकर कहा कि विप्रनारायण निर्दोष है। यह देखकर ब्रह्म-सभा आश्चर्य-चकित रह गई। विप्रनारायण के लिए ब्रह्मरथ रचा गया, अर्थात् विप्रनारायण को रथ में बिठाकर सभी ब्राह्मणों ने अपने हाथों से उसे खींचा। 'ब्रह्म-सभा' शब्द से प्रतीत होता है कि उसके सभी सदस्य ब्राह्मण होते थे।"[1]

बाकी बातों को छोड़ भी दें तो विप्रनारायण के इस मामले से तत्कालीन पंचायती विधान तथा उसकी कार्य-पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

एक दूसरे कवि वेकंटनाथ ने अपने ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' में पंचायती विधान का सुन्दर वर्णन किया है। यहाँ पर उसका ब्यौरा संक्षेप में लिख देना जरूरी है—

"एक शहर में दो बनिये थे। एक का नाम था धर्मबुद्धि, और दूसरे

१. 'वैजयन्ती', ४-६२-१२८।

का दुष्टबुद्धि। उनके काम भी नामों के अनुरूप ही थे। एक दिन धर्मबुद्धि को १००० गड़े दीनार मिले। यह बात उसने अपने मित्र दुष्टबुद्धि को बता दी। दुष्टबुद्धि अकेला ही उस जगह पर गया, बलि-भेंट चढ़ाई और उस धन को उठा लाया। कुछ दिनों बाद दुष्टबुद्धि ने धर्मबुद्धि के पास जाकर कहा कि चलो अपने धन को देख लें। दोनों पेड़ के नीचे पहुँचे। धन का पता न पाकर दोनों आपस में तकरार करने लगे। झगड़ा बढ़ा। मामला पंचायत में पहुँचा। छोटे-बड़े इकट्ठे हुए। धर्माधिकारियों ने दोनों की ओर देखकर कहा—'हल्ला न करो। दोनों एक साथ मत बोलो। एक-दूसरे के बीच में मत बोलो। तुम दोनों अपनी-अपनी बात शुरू से आखिर तक अलग-अलग बताओ!' धर्मबुद्धि हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। कहने लगा।—'महाराज, मैं और यह दुष्टबुद्धि दोनों साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। रास्ते में एक जगह मुझे खजाने का घड़ा एक मिला। मित्र समझकर बता दिया। इसने घड़े को एक पेड़ के नीचे गाड़कर निशान लगा दिया। कुछ दिनों के बाद इसने खुद मेरे पास आकर कहा कि चलो देखें कि दफीने का क्या हाल है। पहुँचकर देखा तो दफीना ग़ायब। और अब उलटे मुझे चोर बताकर इसने मुझे पंचायत में घसीटा है।' इतना कहकर धर्मबुद्धि अलग खड़ा हो गया। तब दुष्ट-बुद्धि ने सबको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा—"उस पेड़ की कसम धन को इसीने चुराया है!" यह सुनकर धर्माधिकारियों ने कहा—'इस पर निर्णय देना कठिन है। इसलिए पाँच दिन की मुहलत देकर कहा कि छठे दिन अपना-अपना ब्यौरा (गवाही साखी) पेश करो!' तब दुष्टबुद्धि ने कहा—'इस मामूली-सी बात के लिए इतना बखेड़ा क्यों बढ़ाते हैं? गवाही मैं अभी दिला देता हूँ।' पूछा गया कि तुम्हारा गवाह कौन है? दुष्टबुद्धि ने कहा—'जिस पेड़ के नीचे खजाना गड़ा था, वही पेड़ मेरी गवाही देगा।'

इस पर सभी चकित रह गए और उत्सुकता के साथ दूसरे ही दिन पेशी रख दी। दुष्टबुद्धि ने रात-भर अपने पिता के पास बैठकर उसे

पढ़ाया कि तुम्हीं उस पेड़ की खोह में बैठ जाना और जब पंच लोग वहाँ पहुँच जायँ तब खोह के भीतर से ही मेरे पक्ष में शहादत दे देना ! बूढ़े बाप ने बेटे को समझाया कि अन्याय नहीं करना चाहिए । बेटे के मन में न्याय की बात बिठाने के लिए उसने एक कहानी भी कह सुनाई । दुष्ट-बुद्धि के मन में कहानी की बात नहीं बैठी । उसे अपना झूठा धन्धा ही पसन्द था । बुरे दिन देखने थे । मजबूर होकर बाप मुँह-अन्धेरे ही उस पेड़ के पास गया और खोह में छिपकर बैठ गया । सवेरा होने पर धर्माधिकारी और गाँव के सभी छोटे-बड़े दोनों बनियों को लेकर उस पेड़ के पास इकट्ठे हो गए । तब धर्माधिकारी ने पेड़ से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि बताएँ कि इन दोनों में दोषी कौन है ? बूढ़े ने खोह में से कहा—'धर्मबुद्धि ही छली है ।' पेड़ की यह बात सुनकर सभी चकित रह गए । दुष्टबुद्धि खूब प्रसन्न हुआ और एकत्रित सभी लोगों ने खुश होकर तालियाँ बजा दीं । धर्मबुद्धि ने सोचा—पेड़ क्या, और उसकी गवाही क्या ? जरूर इसमें कोई धोखा है । उसने पेड़ की खोह में घास-फूँस भरकर आग लगवा दी । आग से जलकर बूढ़ा मुरदा बनकर बाहर निकल पड़ा । तब धर्माधिकारियों ने दुष्टबुद्धि को बुरा-भला सुनाया । 'धर्म-अधर्म की बात पर अमानत रखे धन को हड़पने वाले गुलाम बनिये ! विश्वासियों को हाथों-हाथ लेन-देन में लूट लेने वाले विजाती गिरगिट ! बनिये के कुत्ते !' और धर्मबुद्धि को माल दिलाया तथा उस दुष्टबुद्धि को सूली पर चढ़ा दिया ।"[1] यह बड़ी अनमोल कथा है । इससे पंचायती विधान की कार्य-पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

कलाएँ

अक्षर क्या हैं, मानो मोती बिखरे हैं । सुन्दर अक्षरों का लिखना भी एक कला माना जाता था । श्री नाथ ने अपने 'चन्द्रभान चरित्र'[2] में

१. 'पंचतन्त्र', १, ७०१, ६४ ।
२. १-३६ ।

एक राज-मन्त्री के सम्बन्ध में उसकी भिन्न-भिन्न भाषाओं की सुन्दर लेखन-कला की प्रशंसा की है। शिल्पकार काँच की कुप्पियाँ और हाथी-दाँत की डिब्बियाँ तैयार करते थे।[1] बेल के फल पर दशावतार के चित्र उतारकर, उसमें वैष्णव अपनी तिलक-सामग्री रखते थे।[2] नाचने-गाने की कला में वेश्याओं का विशेष स्थान था। वेश्याओं की गायक-मण्डली को 'मेला' कहते थे। आज भी 'बोगम मेलम' अर्थात् वेश्याओं की गायन-मण्डली या नृत्य-मंडली कहा जाता है। वृद्धा वेश्या, गायिकाएँ, सुन्दरी नर्तकियाँ, ढोल-मँजीरे वाला, श्रुतिकार तथा श्रुति को उठाकर गाने को पूरा करने वाला, इन सभी को मिलाकर 'मेला' बनता था। नाटकों में नाचने वाली युवतियों को 'पात्रकंत्ते' कहते थे :

"परदा हटते ही पातरकत्ते हाव-भाव के साथ
खड़ी हुई आकर, श्रोताओं को जोड़े दोनों हाथ"[3]

नृत्य में 'देसी' तथा 'मार्ग', ये दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं। एक नर्तकी वेश्या के नृत्यों का ब्यौरा यों है :

"भोगवरी कट्टडम, कोलाटमु और मुरवु अपरूप,
चिंबिकरणी, बरतु बारडुबेसि तथा बहुल रूप,
बधुरगीत एवं प्रबन्धविलति वरुसा पद्य;
देसी, बंगाली, कोरुति कट्टड, अनवद्य,
बिन्दु कोटिय काडु, परशुराम, वीरभद्र कभी,
कल्याणी, चौकटला, एकनाल आदि सभी,
देसी शुद्धांगों में पटुता से नर्तकी,
पग के कड़ों के साथ नाचती हुई न थकी।
दर्शक जन पुतलों की भाँति, ठगे लगते थे।

१. 'विप्रनारायण चरित्र', ३-२८।
२. वही, २-२८।
३. 'निरंकुशोपाख्यान', २-६।

टक बाँधे, प्रशस्तियाँ करते न थकते थे !"[1]

उक्त पद्य में प्रयुक्त बहुत सारे शब्दों के अर्थ नहीं मालूम होते। कुछ तो मुद्रण की अशुद्धियाँ भी होंगी। बाद के पद्य में जक्किणी का शब्द आया है। इस पद्य का चिक्किणी शब्द जक्किणी के लिए भी आ सकता है। इसी प्रकार नृत्य-कला का ब्यौरा नीचे के पद्य से भी मिलता है :

"चारण, बागड, चर्चरी, बहुलरूप, दण्डलास,
मांडिक, कंदुक कोलाट आदि नृत्य-नाट्य खास,
प्रेरण, कुण्डली-प्रेक्षण, सूलग्नु, पुहुडक, गति,
शुद्ध पद्धति, चित्र पद्धति, घनदेश की पद्धति,
केलाट, अम्बक करण, एकतालिका
आदि गीत, हल्लीपक आदि नृत्य-मालिका,
मुख्य-मुख्य नाट्य-विधियों का प्रदर्शन कर
एक-एक दर्शक का मुग्ध मन लेती हर,
और जग उसकी प्रशंसा में था मुखर।"[2]

ताल-विधियों में जंपे, ध्रुव, आटे ताल आदि का विशेष प्रचार था।[3] गान में हस्ताभिनय के साथ अर्थाभिनय तथा विविध-वीक्षण-विलास-विचित्रता तथा नटन में चरण नूपुर नाद को तालनाद से मिलाते हुए लास्य अथवा नाट्य करते थे। 'वैजयन्ती'[4] और 'शुक सप्तति'[5] में इसके वर्णन मिलते हैं।

यक्ष-गान के सम्बन्ध में कंदुकूर रुद्रय्यॅ-लिखित 'सुग्रीव विजय' के लिए श्री वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री ने उत्तम भूमिका लिखी है। उस भूमिका से कुछ उद्धरण यहाँ पर दिये जाते हैं :

१. 'मल्हणीयमु', ५-९।
२. वही, पृ० ४०।
३. 'वैजयंती०', १-१२३-४।
४. १-१२९।
५. ३-१४।

"द्रविड़ भाषा में जो दृश्य रचनाएँ पहले-पहल प्रसिद्ध हुई थीं, उन्हें 'कुरवंजु' कहा जाता था।[1] गडरिये को कहते हैं, और अंज माने पग, अर्थात् गडरियों का नाच। मंगलाद्रि, सिंहाद्रि आदि पर्वतों पर वहाँ के पहाड़ी लोग मेलों में सामूहिक नृत्य का प्रदर्शन किया करते थे। चेंचु अथवा भील-नाच की गिनती भी 'कुरवंजी' में होने लगी थी। स्त्री पात्र को सिंगी और पुरुष पात्र को सिंग या सिंगड्ढ कहते थे। खेल के थे दो ही पात्र होते थे। एक तीसरा पात्र कोणंगी (लंगूर) होता था, जो विदूषक का काम करता था। संस्कृत का ध्रुवराग शब्द ही कुरवंजी में 'दुरु'–राग बन गया था।"

जक्कू जाति के नृत्य-प्रदर्शन ने नगरों में भी प्रवेश किया। पहाड़ी भीलों की सिंगी और सिंगा की जगह सीता, राम आदि ने ले ली। फिर भी पहाड़ी नाच का प्रभाव इन पर स्पष्ट रहा। एरुकसानि का पत्र पहाड़ी नाच का प्रभाव-मात्र है। यक्ष, गन्धर्व आदि का स्वाँग बनाकर वेश्याएँ विशेषकर मेलों-ठेलों में नृत्य-प्रदर्शन करती थीं। इसी कारण यह नाच बाद में यक्ष-गान कहलाया। कलाकारों की एक जाति का नाम 'जक्कु' था। यह जाति आज तक चली आ रही है। अप्प कवि ने यक्ष-गान के लक्षण कविता-बद्ध किये हैं। उसको दृष्टि में रखते हुए जब हम यक्ष-गान पर विचार करते हैं, तो पता लगता है कि यक्ष-गान के प्रधान गायक से ही कुछ हेर-फेर के साथ एकताल, त्रिपुट आदि का जन्म हुआ। एला, जोला, सुव्वा, धवल, वेन्नेनापद, विराली, तुम्मेदा, गोब्बिकोबेला, द्विपद, त्रिपद, चौपद, षट्पद, मंजर आदि भी यक्ष-गान से ही सम्बन्धित हैं। विजयनगर, तंजावर, मधुरा आदि स्थानों पर यक्ष-गान ने अच्छी उन्नति की। कृष्णा नदी के तटवर्ती ग्राम कूचि-

१. 'कुरवें' शब्द का पुराना अर्थ 'पहाड़' भी है : इससे 'कुरवंजि'= पहाड़ी नाच'। 'कुरवें' (गडरिया) जाति के लोग भी पहले पहाड़ों में ही रहते थे। 'पहाड़ी नाच' अर्थ लेने से उसमें भील-नृत्य की भी गिनती की जा सकती है—अनु०

पूडी में सिद्धेन्द्र नामक एक योगी ने भागवत-पुराण की कथाओं को यक्ष-गान का रूप दिया और अपने गाँव के ब्राह्मणों द्वारा शास्त्रीय रूप में उनके प्रदर्शन का प्रबन्ध किया। तेलुगु में भी यक्ष-गानों का प्रचार इतना बढ़ा कि यक्ष-गायन की लगभग ५०० रचनाएँ मिलती हैं। इनमें 'सुग्रीव-विजयम्' सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसके रचयिता रुद्रकवि हैं। यह कवि सन् १५६८ ई० के लगभग हो गए हैं। 'सुग्रीव विजयम्' में त्रिपुट, अर्ध-चन्द्रिका, द्विपद, जंपे, कुरुच जंपे, आटॅताल, धवल, एला आदि का प्रयोग है। उसके अन्दर तेरागीत, सीस, उत्पलमाला, कंदम आदि तीन-चार प्रकार के पद्य हैं।

इसी अध्याय में पीछे हम कह आए हैं कि 'शुक सप्तति' के अन्दर एरुकलिन को 'कोरवजि' कहा गया है, और वह अपने पति को सिंगड़ कहती है। यक्ष तथा गंधर्व शब्दों का प्रयोग गायन-प्रधान नाटकों के लिए ही किया जाता है। यक्ष-गान तथा गंधर्व-गान बहुत प्रसिद्ध थे। नाटकों में परदे आदि तो संस्कृत तथा अंग्रेजी विधानों के अनुकरण के कारण हाल-हाल में आये हैं। ४०-५० साल पहले यक्ष-गान का ही महत्त्व था। आज भी तेलुगु देश के अन्दर देहात में 'चंचुलक्ष्मी' नाटक, वेङ्कुरि हरिश्चन्द्र नाटक, पारिजात हरण आदि यक्ष-गान दिखाये जाते हैं। साधारणतया यक्ष-गान के रचयिताओं को सौत के रगड़ों-झगड़ों की कहानियाँ अधिक प्रिय होती थीं। यक्ष-गान में परदे नहीं होते थे। गज-भर ऊँचा रंगमंच बनाकर उस पर तख्ते बिछा दिये जाते हैं और उसके ऊपर स्वाँग के साथ नाचते-कूदते हुए अभिनेता दर्शकों को लुभाते रहते हैं। मंच के दोनों ओर दो मशालें जलती रहती हैं। मंच से कुछ दूर या पास ही किसी घर में स्वाँग भरे जाते हैं। स्वाँग के पहुँचते ही मुट्ठी-मुट्ठी-भर बारीक राब डाल देने से मशालों की लवें भड़क उठती हैं तथा उस प्रकाश में स्वाँग खिल जाते हैं। स्वाँग भरने वालों के चेहरों पर अरदाल, नील आदि रंग लेपे जाते हैं। सिर पर किरीट और भुजाओं पर भुजकीर्ति लगाये जाते हैं। तैयारीघर से जब स्वाँग चलता तो आगे-

आगे 'धपड़ा' बजाते हुए उसे रंगमंच पर पहुँचा दिया जाता। धपड़े की आवाज़ से ऊँघने वाले दर्शक चौंककर बैठ जाते थे। मशालों की भभकती लौ के साथ सूत्रधार ज़ोर-ज़ोर से सवाल करता—"हे स्वामी, आप कौन हैं जो इतने ठाठ-बाट से पधारे हैं?" तब स्वाँग उससे भी अधिक ज़ोर से (यदि पुरुष हो तो) बोलता—"क्या तू नहीं जानता मैं अमुक व्यक्ति हूँ, अमुक-अमुक मेरे प्रताप हैं, इत्यादि-इत्यादि!" कहकर आप-ही-अपनी बड़ाई जताता है। बीच-बीच में भाँड समयानुसार छोटा-मोटा व्यंग कसकर सबको हँसा देता है। व्यंग क्या होता है, अधिकतर बकवास ही होती है। नगर-निवासियों को यक्ष-गान भद्दे लगते हैं। गाना भी ज़ोर का और नाच भी ज़ोर का। आसमान फट रहा होता है और मंच के तख्ते मानो घड़ी-घड़ी टूटना चाहते हैं। पर अब ये कम होते जा रहे हैं। इसके पहले कि ये एकदम मिट जायँ, यह उचित है कि 'यक्ष-गान' करवाकर उनकी तसवीरें आदि उतार ली जायँ और ब्यौरे देकर पुस्तकें लिख डाली जायँ। तभी आने वाली पीढ़ियों के लिए इन यक्ष-गानों के स्वरूप के ज्ञान की रक्षा की जा सकती है। अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं में हम प्रायः जावा द्वीप के जातीय नृत्यों के चित्र देखते हैं। उनमें भी स्वाँग भरने वाले के सिर पर किरीट और भुजाओं पर 'भुजकीर्ति' के आभूषण होते हैं। ये गहने हमारे यक्ष-गानों के गहनों से एकदम मिलते-जुलते हैं। जावा में रामायण तथा महाभारत की कथाओं को नाटक-रूप में दिखाया जाता है। यह तो अच्छे अनुसंधान से ही ज्ञात होगा कि हमारे पूर्वजों ने जावा आदि पूर्वी द्वीपों में जाकर अपने यक्ष-गान को वहाँ फैलाया अथवा वहीं से यह यक्ष-कला हमारे देश में आई। आन्ध्र के निवासी एर्कले हमारे ही देश के हैं, किन्तु वह जो भाषा बोलते हैं वह बिगड़ी हुई तमिळ है। निश्चय ही उनके पूर्वज तमिळ देश से आये होंगे। कोरवंजी या तो इन एर्कलों की ही एक शाखा है या जंगली भीलों की। 'शुक सप्तति' में कोरवंजि स्त्री का अपने पति के जंगलों से लाई बदनिकाओं को बेचना इस बात का प्रतीक है कि उनका सम्बन्ध

भीलों से था। अस्तु, यह स्पष्ट है कि यक्ष-गान जंगली जातियों की कला है, जिसमें गायन की अपेक्षा नृत्य ही प्रधान था। इन जंगली जातियों से ही हमारे नागरिकों ने उसे सीखा और उन्नत किया। आन्ध्रों का संस्कृत के सुस्थापित नाटक-विधान को न अपनाकर यक्ष-गान पर ही अधिक जोर देना इस बात का प्रमाण है कि यक्ष-गान के प्रति तेलुगु जाति की आसक्ति अधिक थी।

यक्ष-गान के गीतों पर अप्पकवि ने लक्षण-शास्त्र लिखा है। ब्याह के गीत, लोरियाँ, (जँतसार आदि से तुलनीय) कुटाई-पिसाई के गीत आदि सभी यक्ष-गान के अन्दर आते हैं। अलग-अलग प्रकार के गीतों के अलग-अलग नाम हैं, जैसे श्रीधवल, सुव्वि, सुव्वाले, अर्धचन्द्रिका, रगडा इत्यादि।[1]

> "ललनामणिको कभी-कभी वह गायन हारी
> बड़े प्रेम से सिखलाती थी सुव्वा, शोभन,
> धवल आदि गीतों के गाने की विधि सारी।"[2]

इससे प्रतीत होता है कि उस समय देहाती स्त्रियों को इन गीतों में रुचि थी। 'शोभन' ही पीछे 'शोभना गीत' कहलाये।[3] 'गोब्बिल-गीतों' का भी प्रचार था।'गोब्बिल' गर्भगीत का ही तद्भव रूप हो सकता है। स्त्रियों का गोल-गोल घूमते हुए, बार-बार झुक-झुककर और फिर सीधी हो-होकर तालियाँ बजाते हुए नाचना 'गोब्बिल' है।[4] बच्चों को सुलाने के लिए लोरियाँ गाई जाती थीं।[5] ब्राह्मणियों के गीतों में कोई विशेषता जरूर रही होगी। एक धोबिन अपने पति से कहती है :

---

१. दे० 'अप्पकवीयम्', आश्वास ४।
२. 'शुक सप्तति', १-५२३।
३. वही, ३-३४६।
४. वही, २-४३४।
५. वही, ३-४५०।

"बाम्हनी से सीखा था एक गीत :
पति को कटु वचन जो सुनाती है,
कीट-पतंगों का जनम पाती है,—
इसीलिए तुम्हें गालियाँ देते, रहती थी भयभीत !"[1]

एला-गीतों को स्त्री-पुरुष दोनों ही गाते थे। ये गीत अधिकतर ब्राह्मणेतर जातियों के ही होते हैं।[2] एला के पद-विधान के नमूने के तौर पर 'सुग्रीव-विजयम्' के इन पदों को देखा जा सकता है :

(१) "तुम सूरज के बंस जनमे, मारा दानवी को रन में,
अब क्या सुख से निबाह का जतन न करोगे ?
हे राम, तुम्हारे गुन गायें मुनिराज, जी !

(२) सिल को कामिनी बनाया, शिवजी का धनु तोड़ गिराया,
अब क्या सीता से बियाह का जतन न करोगे ?
हे राम, जय-जय करें राजे-महराज, जी !"

लिपि के सम्बन्ध में भी एक बात। नन्नय-काल की लिपि को पढ़ सकने वाले आजकल कहीं इक्के-दुक्के ही मिलेंगे। काकतीय-काल से लेकर श्रीनाथ के समय तक लिपि के अन्दर परिवर्तन होते ही चले आये। तेलुगु लिपि में द्वित्व का प्रादुर्भाव सन् १५०० ई० के बाद ही हुआ है। 'अप्पकवीयम्' के द्वितीयाश्वास में दशगिन, पिप्पल सूत्र तथा उसके बाद के सूत्रों से व्यंजनाक्षरों के स्पर्श रूप तथा स्वर के स्वरूपों का पाठ है। पर न जाने वह क्या वस्तु है ! पूर्वजों को भी इसका पूरा ज्ञान नहीं था। इसीलिए वाविल्ला वालों ने पुरानी लिपियों का जो प्रकाशन किया है, उसमें भी कहा है कि लिपि में बार-बार परिवर्तन होते जाने के कारण समय-समय और स्थान-स्थान के शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों आदि की लिपियाँ पूरी तरह पढ़ी भी नहीं जातीं। नन्नय से दो वर्ष पूर्व के शिला-लेख भी मिलते हैं। इसलिए सन् २०० ई० से लेकर आज

१. 'शुक सप्तति', ३-१४८।
२. वही, २-१७२।

से एक सौ साल पहले तक अर्थात् मुद्रण-कला के आरम्भ होने तक की सभी लिपियों का शोध-परिशोध करके प्रत्येक अक्षर के परिवर्तनों पर प्रकाश डालते हुए एक विस्तृत ग्रंथ लिखा जाना अत्यन्त आवश्यक है। अप्पकवि के हस्तलिखित पत्र जहाँ कहीं भी मिलें, लेकर उनके सभी भाव और अर्थ समझने की चेष्टा की जानी चाहिए। तेलुगु लिपि का सम्बन्ध निश्चय ही संस्कृत-लिपि[1] से है। किन्तु यह जानने की आवश्यकता है कि तेलुगू अक्षरों ने अपना वर्तमान रूप किस प्रकार पाया। जैसे, तमिल के एक ही अक्षर 'ऱ' से तेलुगु में 'ड', 'ल', 'ऱ' ये तीनों बने हैं। यह कैसे हुआ? ह्रस्व 'ए', 'ओ', 'च' और 'ज' तो प्राकृत में हैं। महाराष्ट्र में भी इनका प्रयोग है। इन सभी विषयों का समग्र रूप से अनुसंधान होना चाहिए। इसके लिए एक पूरा ग्रंथ लिखा जाना आवश्यक होगा।

उस समय के साहित्य में सैंकड़ों शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनके अर्थ या भाव आज हम कुछ भी समझ नहीं पाते। शब्द-कोशों के अन्दर या तो वे शब्द हैं ही नहीं, यदि हैं भी तो 'पक्षी-विशेष', 'जन्तु-विशेष', 'भाव-विशेष'-मात्र देकर पर्याय-सूची समाप्त कर दी गई है। इस सम्बन्ध में भी विशेष परिश्रम की आवश्यकता है। मेरे पास 'शुक सप्तति' से ऐसे शब्दों की लम्बी-चौड़ी सूची बन गई थी। श्री सीतारामाचारी ने उस सूची को अपने पास रखकर कुछ दिन बाद कुछ-एक की व्याख्या कर दी, पर सैंकड़ों शब्दों को उन्होंने भी अछूता ही छोड़ दिया। वाचस्पति तथा 'सूर्यरायांध्र निघंटु' आदि शब्द-कोषों में भी बहुत सारे शब्द नहीं हैं। कुछ हैं भी तो केवल 'क्रीडा-विशेष', 'पक्षी-विशेष' के पर्याय देने के लिए ही। शब्द-कोशों में जो शब्द नहीं हैं उनमें से कुछेक का ब्यौरा हम यहाँ दे रहे हैं: **पसुला गोडा**—शब्दार्थ से ढोरों का बाड़ा होता है, परन्तु तेलुगु में यह शब्द फारसी शब्द फसील का ही रूपांतर है।[2] **पैठाणि**—

१. ब्राह्मी (?)—सं० हिं० सं०।

२. 'शुक सप्तति', १३६।

पैठन शहर की बनी चोली या साड़ी।[1] **बंदाराकु**— चट्टान पर 'बंदार' के पत्ते बिछाकर जंगलों में गडरिये सोया करते थे।[2] 'शब्द रत्नाकर' में इसका अर्थ 'एक पेड़'-मात्र दिया है। वास्तव में यह कोई पेड़ नहीं, बल्कि एक प्रकार की बेल होती है। तेलंगाने में इसे 'बंदाल' कहते हैं। वर्षा-काल में खेतों में खूब हरी-हरी घास फैल जाती है। उसकी पत्ती को हाथों से रगड़ने पर एक प्रकार की सुगन्धि निकलती है। ज्यों-ज्यों रगड़ते जायँ त्यों-त्यों खुशबू बढ़ती जाती है। खेतों में काम करने वाली मजदूरिनें अपनी चोटियों में बंदाल के पत्ते गूँथ लेती हैं। अब भी जिन जगहों पर यह बेल होती है वहाँ गडरिये वर्षा-काल में इनकी पत्ती बिछाकर लेटते हैं।[3] **गुडिमुद्रा**—यह शब्द 'शुक सप्तति'[4] में आया है। गुडि मंदिर को कहते हैं। मंदिर में देवी-देवताओं के नाम छोड़े जाने वाली गाय-बैलों पर छाप लगा दी जाती थी; लोहे आदि की मुद्रा को गरम करके उस पशु को दाग दिया जाता था। यह निशान देखते ही लोग उस पशु को भगवान् की वस्तु समझकर छेड़ते नहीं थे, खेत चरने पर भी मारते नहीं थे।

ईलकत्ति शब्द भी 'शुक सप्तति'[5] में प्रयुक्त हुआ है। शब्द-कोश में यह शब्द ही नहीं है। कृष्णा-गोदावरी के जिलों में, जिसे 'कत्तिपीरा' कहते हैं, उसीको तेलंगाने में 'ईलपीरा' कहते हैं, लकड़ी की एक छोटी-

१. 'शुक सप्तति', १-१२६।
२. वही २-३४२।
३. दूसरा सम्भव अर्थ यह भी है कि यह 'बंदा' हो। 'बंदा' संस्कृत शब्द है। यह एक परगाछा पौधा है। आम, महुए, पीपल, बड़ आदि पुराने पेड़ों पर बरसात में उग आता है। स्वतन्त्र कहीं नहीं उगता। पत्ते चौड़े और फूल ज़रा-सी खुलती पतली तीलियों के गुच्छों की तरह होते हैं, रंग में लाल और पीले।—सं०हिं०सं०।
४. २-५०७।
५. ३-५७।

सी पट्टी में धारदार लोहे की पट्टी लगी होती है। इससे औरतें रसोई में सब्जी-तरकारी कतरती हैं। **गजमुक्तकपित्थ**—हाथी का खाया कईत्थ। आधार कथा—'निरंकुशोपाख्यान'[1] तथा 'सुमति-शतक' में भी इसकी उपमा दी गई है। (कहते हैं कि हाथी जब कईत्थ के फल को चबाता नहीं, सीधे निगल जाता है, और उसके हगने पर पूरा फल ज्यों-का-त्यों गोबर के साथ गिर पड़ता है, किन्तु फोड़कर देखने पर उसका गूदा गायब रहता है! छिलका टूटे बिना ही अन्दर का गूदा कैसे पच सकता है भला?) यह अर्थ ही गलत है। वास्तव में 'गज' एक प्रकार के कीड़े को कहते हैं और यही अर्थ ठीक है।

बोम्मा कट्टुटा अथवा पुतली बाँधना भी हमारे सैकड़ों-हजारों भूले-बिसरे शब्दों में से एक है। कह नहीं सकते कि यह क्या बला है और इसका इतना प्रचार कैसे हुआ! 'आंध्र महाभारत' में तो कवित्रयी ने इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया। जान पड़ता है कि कवि तिक्कना तथा कवि एर्रा प्रगडा के मध्यवर्ती काल में वर्तमान कवि नाचनासोम ने इस 'बोम्मा कट्टु' का प्रयोग पहले-पहल किया है। 'उत्तर हरिवंश'[2] में उनके शब्द हैं : "**पासिक बोम्म कट्टु दुन्!**" अर्थात् 'पुतला बाँधूँगा!' रेड्डी तथा वेलमॅ राज्य-काल में इस प्रथा का प्रचार खूब बढ़ा। आज भी आंध्रों में यह प्रथा कायम है। श्रीनाथ ने स्पष्ट रूप से बताया है कि :

> **"अल्लाड भूपति वीर विम्मु बैठे होते जब भरे हुए दरबार में,**
> **तब वाम-पद-वलय के पीछे भूभुज लटके होते पुतले बनकर सत्कार में**
> **औ' देख-देखकर बड़ा मजा आता हमको……"**[3]

मुसलमानों के हाथों स्वयं अपनी दुर्गति का विचार न करके रेड्डी तथा वेलमॅ राजा आपस में ही खूब लड़ते थे। एक-दूसरे को मारकर

१. ३५।

२. ३-११७।

३. 'काशीखंड पीठिका', पद्य ४५।

उनकी आकृतियों के पीतल के पुतले बनाकर अपने गंडावेंडारम (बड़े कड़े) में लटका लेते थे और उस कड़े को अपने घुटनों पर पहन लिया करते थे। इस प्रकार अपने शत्रुओं का अपमान करके वे अपने मन की भड़ास निकालते थे।

'वेलुगोटि-वंशावली'[1] में इस पुतली रखने अथवा बाँधने-पहनने के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा हुआ है :

"अना पोतना अपने वैरियों का संहार करके उनके पुतले बाँधता था। आबलू को मारकर उसके बच्चों के पुतले बनवा छोड़े थे। फिर दाचना, सिंगय्यें को पकड़कर बता दिया कि पुतला किस प्रकार बाँधा या धारण किया जाता है।

"कुमार वेदगिरि ने अनावेमा रेड्डी के छोटे भाई माचा रेड्डी को मारकर उसका पुतला बाँध लिया था। अनावेमा रेड्डी ने भी वेदगिरि के छोटे भाई को मारकर उसका पुतला बाँध लिया। फिर विमा रेड्डी का संहार करके उसका भी पुतला बाँध लिया और 'सिंहललाट' की पदवी धारण कर ली। श्रीनाथ ने उससे 'नंदिकता पोतुराज' नामक जो कठारि ले ली थी, उसे पुनः प्राप्त किया।"[2] इसी प्रकार—"यत्न पूर्वक बाँध रखो कोमारगिरि रेड्डी पुतली का ध्यान तो नहीं रखा !"[3]

इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण से कुछ दिन पहले एक जगह हमने एक मदारी की भीड़ देखी। एक मदारी रस्सी को मुरगी के खून से लथ-पथ करके उसका छोर अपने घुटने पर बाँधकर, दूसरे छोर को गले से लटका रहा था। घुटने से नीचे रस्सी से पीतल का एक पुतला लटक रहा था। उसने कहा कि यह लोभियों यानी कंजूसों-मक्खीचूसों का पुतला है। अपना जादू-मन्तर जो दूसरों को नहीं बतलाते वे तो पैरों

---

१. लेखक : नेलटूर वेंकटरमणय्यें। प्रकाशक : मद्रास विश्वविद्यालय।
२. 'वंशावली', पृ० १०७।
३. वही, पृ० १०८।

में बाँधकर अपमानित किये जाने योग्य हैं ही। मदारी के शब्दों से हमारा समाधान हुआ! शत्रुओं का अपमान करना हो या एक बार कर चुकने के बाद उसकी याद ताजा बनाये रखनी हो, तो उन शत्रुओं की पुतली बाँधी जाती थी। अस्तु, तेलुगु-देश में इस पुतली-बंधन का खूब प्रचार था। विशेषतया सन् १२०० ई० से यह प्रथा यहाँ चल पड़ी थी।

रणभोज—वैदिक विधान के विपरीत द्रविड़ देवी-देवताओं की पूजा की प्रथा आन्ध्र-देश के अन्दर प्राचीन काल से चली आई है और स्थायी हो चुकी है। ब्राह्मणेतर जातियों में इन शक्तियों के प्रति जैसी श्रद्धा है, वैसी श्रद्धा महादेव शिव अथवा विष्णु भगवान् केशव के प्रति नहीं है। देहातों के गाँव-गाँव में ऐसे छोटे-बड़े देवी-देवता असंख्य हैं। बड़ी देवी की पूजा में हर साल निश्चित तिथियों पर मन्दिरों के सामने भैंसे की बलि दी जाती है। ये मन्दिर घरौंदे के समान छोटे-छोटे ही होते हैं, पर बलि बड़ी-बड़ी चढ़ाई जाती है। मटके-के-मटके चावल पकते हैं, भैंसे कटते हैं, उनके खून से चावल सानते हैं, निश्चित सीमा तक मन्दिर और गाँव के चारों ओर उस रक्तान्न की रेखा डालते जाते जाते हैं। बीच-बीच में बकरे-मुरगे आदि भी कटते जाते हैं। इसे भूत-बलि कहते हैं। भूत-बलि देने वाले उस व्यक्ति को 'भूतपिल्लि-गाडु' कहते हैं। असल में यह शब्द 'भूतबलिगाडु' अर्थात् भूत-बलि देने वाला है। उस 'भूत-पिल्लिगाडु' का भी विचित्र स्वाँग होता है। उसके शरीर के सारे बाल मूँड़ दिये जाते हैं। चोटी या भौंहें कुछ भी नहीं रह जातीं। एकदम नंगा हो जाता है, लँगोटी भी नहीं पहने होता। रक्तान्न का घड़ा सिर पर उठाता है और पोलि (बलि) पोली के नारे लगाता हुआ ढोल-ढपली के साथ गाँव के चारों ओर उस रक्तान्न की भूत-बलि छोड़ता आता है। प्राचीन काल में जब लोग लड़ाई के लिए कूच करते थे, तब सम्भव है डाकिनी-शाकिनी आदि महा शक्तियों को बलि चढ़ाते रहे हों और युद्ध में जीतने पर चावल पकाकर शत्रुओं का मांस और रक्त सानकर पोलि अथवा बलि चढ़ा देते रहे हों! 'वेलगोटि वंशावलि' नामक पुस्तक में

लिखा है कि वेकर्म-नरेशों ने ऐसा किया था।—"कोंडामल्ल राजु आदि राजाओं के प्राण हर के, एक सौ एक राजाओं के सिर काटकर, इक्यावन राजाओं को पत्थर की दंग (चक्की) तले पीसकर तैंतीस राजाओं को देवी की पूजा के लिए पकड़ लाकर उनकी आरणक्षारिण चढ़ाकर, दिगम्बरी, काली, महाकाली, शाकिनी, डाकिनी, बायला, कापिनी, भूत, प्रेत, पिशाचों का स्मरण करके 'हे रणदेव, महारण-राजा हे रणशूर महा-रणवीर' कहते हुए भतोंला, भैरव, वीरभद्र, रणपोतुराज, कलह कंटकी आदि देवताओं की जय-जयकार मनाते, कलह अधि देवता की आराधना करके, ध्यान-पूजा के साथ महाकाली के सामने वीर प्रतापी नरेशों की नरबलि चढ़ाकर, रणभोग चढ़ाकर उनके रक्त से अपने पितरों का तर्पण करके (पानी देकर) कृतार्थ हुए!"

दिगम्बरी देवी की आराधना करने वालों के लिए स्वयं दिगम्बर रहना भी शायद जरूरी था। आर्यों के दक्षिणा पथ में प्रवेश करने से पहले दंडकारण्य के निवासी एकदम नंगे ही जंगलों में घूमा करते थे। यह दिगम्बर-प्रथा भी उसीकी यादगार थी।

जिस प्रकार 'भूतपिल्लिगाड्डु' और 'भूतबलिगाड्डु' एक ही हैं उसी प्रकार 'महारणराजु' तथा 'रणपोतुराजु' भी एक ही हो सकते हैं। 'पोतु' माने भैंसा। अर्थात् पोतुराज को भैंसे पसन्द थे, इसीलिए भैंसे की बलि दी जाती थी। वेलमॅ राजाओं के काल में जोर पकड़ गई यह प्रथा आज तक हमारे पेद्देवरा (बड़ा देवता) की पूजा के रूप में जमी हुई है। शूद्रों को शिव अथवा केशव की अपेक्षा इन शूद्र देवी-देवताओं के प्रति कहीं अधिक अगाध श्रद्धा है। 'विष्णुमाया' नामक ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि शिवजी तथा मोहिनी के संयोग से 'शास्त्र' का जन्म हुआ और वही शास्त्र हमारा 'पोतुराज' है। 'शास्त्र' देवता की पूजा आज भी मलयाल-देश (केरल) में होती है। मलयाली तथा तमिल 'शास्तन' अथवा 'चात्तन' के नाम से 'सेडम्' देवता की पूजा करते हैं।

साम्प्रदायिक स्थिति

उन दिनों वैष्णवों और शैवों में साम्प्रदायिक विषमता और भी बढ़ गई थी। अद्वैत सम्प्रदाय के विशेषाभिमानी अप्पय्यें दीक्षित ने सारे भारतवर्ष का भ्रमण करके १०४ ग्रन्थों की रचना की और शैव मत का विस्तृत प्रचार किया। ठीक उन्हीं दिनों वैष्णवाचार्य तातान्चारी ने विजयनगर के सम्राटों को वैष्णव धर्म की दीक्षा देकर सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर विन्ध्य पर्वत तक अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया और शैवों को बलात् वैष्णव बनाया। अप्पय्यें दीक्षित ने फिर उन्हें शैव बनाया। पर वे फिर से वैष्णव बना लिये गए। ताताचारी का बलात्कार इतना बढ़ा था कि आन्ध्र देश में एक कहावत ही बन गई थी कि कहीं भी भागो ताताचारी की मुद्रा से छुटकारा नहीं पा सकते। इसी प्रकार मरिकंटि मुद्रा भी मशहूर थी और आज भी तेलंगाना में मरिकंटी वालों की संख्या काफी बड़ी है।

उक्त अप्पयें जन्म से तमिल थे। इसलिए उन्हें 'अप्पै' भी कहते हैं। किन्तु तेलुगु नरेशों का आश्रय पा जाने के कारण उन्होंने तेलुगु भी सीख ली थी। उन्होंने स्वयं कहा है :

"आन्ध्रत्वमांध्र भाषा च नाल्पस्य तपसः फलम् !"

महालिंग शास्त्री ने अपना निर्णय दिया है कि अप्पय्यें दीक्षित का जीवन-काल सन् १५२० से १५९३ तक रहा है। अप्पय्यें ने अपनी वृद्धावस्था में अपनी जन्म-भूमि 'अडैय पालिम्' में श्री कालकंठेश्वर महा-देव का मन्दिर बनाकर १५८२ ई० में उसकी पूजा की थी। सुविख्यात विद्वान् रंगराज मरिव उनके पिता थे। अप्पय्यें ने वेलूर के नायक नरेश बोम्मानायक के यहाँ अपना आसन जमाया था। उन्होंने भूले-बिसरे 'श्री कंठभाष्यँ' का पुनरुद्धार किया और उस पर 'शिवार्कमणि-दीपिका' के नाम से एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी। उन्होंने अपने ५०० शिष्यों को विधिपूर्वक शिक्षा-दीक्षा देकर शैव-सम्प्रदाय के प्रचार के लिए सारे देश में फैला दिया था। बोम्मानायक ने टंकों और दीनारों से अप्पय्यें

दीक्षित का कनकाभिषेक करवाया था।

यहाँ पर एक तीसरे सम्प्रदाय की चर्चा हो जानी चाहिए। 'विजयांध्र भिक्षु' ने माध्व सम्प्रदाय का प्रचार किया। यदि अप्पय्यं का कनकाभिषेक हुआ था तो विजयान्ध्र भिक्षु का 'रत्नाभिषेक' हुआ। अर्थात् उन्हें रत्नों से नहलाया गया था :

"विद्वद्वरोऽस्माद्विजयी प्रयोगी विद्यागुरुद्यास्वतुल प्रभावः।
रत्नाभिषेकम् किल रामराजात् प्राप्याग्रलक्षीनृकृत्वाग्रहारान् ॥"

विजयान्ध्र ने अपना प्रचार बढ़ाकर अप्पय्यं के साथ कटार-से-कटार भिड़ाई थी, पर उसे आखिर हारकर भागते ही बना। ताताचारी ने भी अप्पय्यं पर वार-पर-वार कराये, पर शास्त्रार्थ में उससे पार न पा सके। कहते हैं कि ताताचारी ने अप्पय्यं दीक्षित को मरवाने की भी चेष्टा की थी, किन्तु ताताचारी के मन्त्र-तन्त्रों की परवाह न करके अप्पय्यं दीक्षित राजा वेंकटपति राय के शासन-काल में भी सात साल तक जीवित रहे और ७३ वर्ष की वृद्धावस्था में अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

एक चौथे असाधारण व्यक्ति की चर्चा भी यहीं पर हो जाय। 'रत्नखेट दीक्षित' राजा जीजी नायक के गुरु भी थे और मन्त्री भी। वह महान् विद्वान् थे। उनकी असाधारण योग्यता के सम्बन्ध में लिखा है :

"विपश्चितामपश्चिमे, विवाद केलि निश्चले
सपत्न जित्यमत्नमेव, रत्नखेट दीक्षिते
बृहस्पति क्व जल्पति, क्व सर्पति प्रसर्पराट्
असन्मुखश्च षण्मुखश्च, तुर्मुखश्च बुर्मुखः !"

उस समय के एक और दिग्गज पंडित थे गोविन्द दीक्षित। सन् १५९७ में इन्होंने तंजावर में रघुनाथ राय को राजगद्दी पर बिठाया था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विजयनगर-नरेश रामराजुराय ने ताताचारी को और उसके बाद उसके बेटे को अपने दरबार में आश्रय देकर वैष्णव धर्म के प्रचार में खूब सहायता दी। ताताचारी के घोर प्रचार तथा क्रूर नीति के कारण रामराजु को शैवों का विद्वेष सहना पड़ा।

इस प्रकार शैव, वैष्णव तथा माध्व सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए हिंसात्मक नीति को भी अपनाकर अपने-अपने शिष्य नरेशों को एक-दूसरे से भिड़ाकर हिन्दू राज्य को दुर्बल करने के और अन्त में उसके विनाश के कारण बने। विजयनगर साम्राज्य के पतन और उसके बाद की अराजकता और देश की दीन-हीन अवस्था के लिए मन्त्र-तन्त्र के ये आचार्य कितनी बड़ी हद तक जिम्मेदार हैं, इसका विस्तृत ब्यौरा देने के लिए एक अलग ही ग्रंथ की आवश्यकता होगी।

उस समय के प्रचलित अनेक शब्द हमारे शब्द-कोशों में नहीं मिलते। इसका एक कारण है। भाषा में ग्रान्थिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के शब्द रहते ही हैं। बोल-चाल के शब्दों को अशिष्ट समझकर शब्द-कोश में न देने का परिणाम यह हुआ कि आज उनको बोलने और बताने वाला कोई नहीं रहा। इस प्रकार साहित्यकारों का बोल-चाल की भाषा की अवहेलना करना स्वयं साहित्य के लिए घातक है।

इस अध्याय के आधार

१. शुक सप्तति—रचयिता श्री कदिरीपति। 'शुक सप्तति' उत्तम कोटि की रचना है। सामाजिक इतिहास के लिए इसका प्रथम स्थान है। इसके दो संस्करण छप चुके हैं, किन्तु उनमें त्रुटियों की भरमार है। वाविल्ला के संस्करण में कुछ पद्य रह गए हैं। वे लेखक के पास हैं। इस ग्रन्थ के एक सौ से अधिक शब्द शब्द-कोशों के अन्दर नहीं हैं। इसके अन्दर आठ कथाएँ ऐसी हैं जो प्रेम-शृंगार आदि से अछूती हैं। शृंगार से नाक-भौं चढ़ाने वाले सज्जन इन आठ कथाओं को तो अलग से प्रकाशित कर ही सकते हैं। बदनाम तो यह ग्रन्थ है, किन्तु वास्तव में सुप्रसिद्ध शिष्ट प्रबन्ध-काव्य कहलाने वाले शृंगार 'नैषध', 'हरविलास', 'वैजयन्तीविलास', 'विल्हणीयम्', 'कुमारसम्भव' आदि ग्रन्थों में जिन भोगादियों का विपुल वर्णन है, वह इसमें नहीं है। इस ग्रन्थ को एक अच्छी भूमिका के साथ, ग़लतियों को सुधारकर कठिन तथा अप्रचलित शब्दों के

अर्थ के साथ सुन्दर रूप में प्रकाशित कर ही देना चाहिए ।

२. **वैजयन्ती माला**—रचयिता सारंगतिम्मयें । इसी कथानक को 'विप्रनारायण चरित्र' के नाम से चेदलवाड़ा मल्लन्ता ने भी लिखा है । कविता इसकी वैजयन्ती विलास से प्रौढ़ है । किन्तु हमारे सामाजिक इतिहास के लिए वैजयन्ती ही अधिक उपयोगी है ।

३. **पांडुरंग माहात्म्यम्** (अथवा पांडुरंग विजयम्)—रचयिता तेनालि रामलिंगम् । सुप्रसिद्ध हास्य कवि तेनालि रामलिंगम् से इनका कोई सम्बन्ध नहीं । इस पुस्तक का 'निगमशर्मोपाख्यान' विशेष रूप से हमारे इतिहास के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

४. **मल्हण चरित्र**	रचयिता	पेदनाटी एर्रनार्य
५. **साम्बोपाख्यान**	,,	रामराजु रंगप्पा
६. **विप्रनारायणचरित्र**	,,	चदलवाडुमल्लना
७. **चन्द्रभानुचरित्र**	,,	तरिगोप्यलु मल्लना
८. **निरंकुशोपाख्यान**	,,	संकुसाल रुद्रकवि
९. **अप्पकवीयमु**	,,	काकतूर अप्पकवि
१०. **गंडिकोटमुट्टदि**		

११. **पंचतन्त्र**—रचयिता वेंकटनाथ । इन्होंने अपने सभी वर्णन प्रजाजीवन से लिये हैं । अपनी हास्य-प्रियता, उभय-भाषा-वैदुष्य तथा उत्तम कविता को अपने लोकानुभव के साथ ओत-प्रोत करके प्रकाशित करना वेंकटनाथ का ही काम है । वीरेशलिंगम् पंतुलु ने इस ग्रन्थ पर लक्षण वैरुध्य का लांछन लगाया है, पर यह ठीक नहीं । कवि ने लक्षणों की अपेक्षा भावों को अधिक प्रधानता दी है । कविता उत्तम कोटि की है, और सामाजिक इतिहास के लिए बड़े काम की है ।

१२. **वेलंगोरि वंशावलि** ।

: ६ :

सन् १६०० से १७५७ तक

विजयनगर के पतन के साथ सन् १६३० ई० में आन्ध्र जाति का पतन परिपूर्ण हुआ। हिन्दुओं के पतन तथा मुसलमानों की उन्नति के कारणों पर पिछले अध्यायों में संदर्भानुसार जगह-जगह चर्चा की गई है। विंसेण्ट स्मिथ ने अपने 'ऑक्सफोर्ड इण्डियन हिस्ट्री' में इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है।

मलिक काफूर ने उत्तर में दिल्ली से जो झंडा उठाया तो उसे बिना झुकाये जीत-पर-जीत पाते हुए दक्षिण में सीधे मदुरा तक पहुँच गया। इससे आश्चर्यजनक तो सिपहसालार खिलजी का सन् ११९७ में २०० घुड़सवारों को लेकर बिहार पर कब्ज़ा करना है। उससे भी आश्चर्य की बात है ११९९ में उसका केवल १२ घुड़सवारों के साथ बंगाल के नदिया शहर पर टूट पड़ना और राजा का पिछली खिड़की से भाग निकलना! उन दिनों बंगाल और बिहार की प्रजा अधिकांश बौद्ध थी। अहिंसा धर्म से ही उसकी यह दुर्गति हुई थी। यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दुस्तान के इतिहास में हिन्दुओं तथा बौद्धों का पतन अत्यन्त ही लज्जापूर्ण घटना है। उत्तर में खिलजी सुलतानों ने और दक्षिण में बह-मनी सुलतानों ने हिन्दुओं को मक्खियों की तरह मसल दिया था। फिरोजशाह बहमनी का नियम था कि बीस हजार हिन्दुओं की हत्या करने पर तीन दिन तक जशन मनाया जाय। एक बार तो उसने पाँच

लाख हिन्दुओं को मौत के घाट उतारने के बाद रोज़ा खोला था। हिन्दू जान बचाने के लिए लाखों की तादाद में मुसलमान बने। कारण क्या है ? विंसेण्ट स्मिथ से सुनिये :

"युद्ध-तंत्र में मुसलमान हिन्दुओं से निश्चय ही कहीं अधिक निपुण थे। जब तक मुसलमान भोग-विलास में नहीं फँसे, तब तक उनसे लोहा लेना हिन्दुओं के बस का रोग न था। बरफानी पहाड़ों से उतरे हुए ये मुसलमान गर्म मैदानों के हिन्दुओं से अधिक बलवान थे। उनके मांसाहार में शाकाहारी हिन्दुओं को हजम करने की शक्ति थी। उनमें जात-पाँत नहीं थी, छुआछूत या खान-पान के भेद-भाव नहीं थे। उनको यही शिक्षा मिली थी कि काफिरों को मार डालने से जन्नत मिलेगी या जंग में मारे जाने पर शहीद बनकर सीधे स्वर्ग में स्थान मिलेगा। वे पराये देश से आये थे। वे जानते थे कि हारने पर उनकी बरबादी निश्चित है। इसलिए उनका नारा था—जीत या मौत। उन्होंने अपने क्रूर कृत्यों से हिन्दुओं को दबा दिया। मन्दिरों-शहरों और बस्तियों में सोना-चाँदी, हीरे और जवाहरात भरे थे। इसलिए वे जानते थे कि उनकी बहादुरी बेकार नहीं जायगी। बस युद्ध में जान की बाजी लगा देते थे। हिन्दुओं की युद्ध-नीति पौराणिक युग की थी। वे प्राचीन नीति-नियमों पर ही भरोसा किये बैठे थे। उन्होंने नये युग की स्थितियों के अनुरूप अपने को बदला नहीं था। हिन्दू-सेना में भिन्न-भिन्न जात-पाँतों और उनके अनेक सरदारों की न तो एक जाति थी और न ही वे किसी एक के नेतृत्व में युद्ध ही करते थे। विदेशी सेना की एक जाति थी और उनका एक ही सरदार था। हिन्दुओं को भयभीत करके तितर-बितर करने के गुण उन्हें खूब याद थे। खासकर मुसलिम घुड़सवार जब बेधड़क हिन्दुओं के बीच घुस पड़ते तो हिन्दू अपनी सुध-बुध खो बैठते थे। प्राचीन पद्धति के अनुसार हिन्दू हाथियों पर अधिक विश्वास रखते थे। यह उनकी भूल थी। घोड़ों के झपाटों के सामने हाथी की धीमी चाल चल नहीं सकती थी। हिन्दुओं ने अपने पास घुड़सवार सेना नहीं रखी और रखी भी तो

उसे तरक्की नहीं दी।"

इस इतिहासकार का कथन अक्षरश: सत्य है।

विजयनगर के महाराजागरा शुरू-शुरू में मुसलमानों से मोरचा न ले सके। द्वितीय देवराय ने (सन् १४२१ से ४८ तक) मुसलिम घुड़सवारों और उनके तीरंदाज़ों के महत्त्व को पहचानकर अपनी सेना में भी मुसलमानों की भरती की। उनको खुश रखने के लिए मसजिदें बनवाई और उन्हें मुँह माँगा दिया। पर सब बेकार! अन्त में देवराय को बहमनी सुलतानों से सुलह करते ही बनी। उन्हें सालाना कर देना स्वीकार करना पड़ा।

तालीकोट की लड़ाई सन् १५६५ में हुई। उसके साथ ही आंध्र की राजनीति कमजोर पड़ गई। विजयनगर छोड़कर उन्होंने कुछ दिनों तक पेनुगोंडा में गद्दी सँभाली। उसे भी छोड़कर जब चन्द्रगिरी पहुँचे तब तो आंध्र जाति का राजनैतिक महत्त्व मटियामेट हो चुका था। सन् १६०० ई० तक मुसलमानों की हुकूमत अकेले गोलकोंडा में ही थी। गोलकोंडा के मुसलमानों ने एक तो खुद शिया होने के कारण और दूसरे बगल में ही विजयनगर के बलवान राज्य के मौजूद होने के कारण हिन्दुओं पर अत्याचार नहीं किये। लेकिन तालीकोट की लड़ाई के बाद दक्षिण में मुसलमानों का बोल-बाला हो गया। अब तक काकतीय विजय तथा वेलमॅ रेड्डी राजाओं के अपनी-अपनी सीमाओं के अन्दर सतर्क रहने के कारण मुसलमान आंध्र पर आधिपत्य जमा नहीं पाये थे। इसलिए मुसलमानों का जो कड़वा अनुभव उत्तर हिन्दुस्तान के हिन्दुओं को था, वह दक्षिण वालों को नहीं था। अचानक सन् १६०० ई० में और उसके बाद लगातार १५० वर्षों तक मुसलमानों की चढ़ाइयों का सिलसिला बढ़ता रहा और कर्नूल, कडपा और गुण्टूर में नवाबी राज्य क़ायम हो गए। उत्तर सरकार का जिला भी उनके अधीन हो गया। इस प्रकार एक ओर मुसलमान आततायियों ने और दूसरी ओर पिंडारों और लुटेरों ने प्रजा को तरह-तरह की तकलीफें देकर लूट-मार मचाई! मन्दिर तोड़

दिये गए। महिलाओं का मान भंग किया गया। उन घोर यातनाओं का चित्रण हम कविताओं, पुस्तकों और कहावतों के रूप में आज भी देख सकते हैं। जब विशाखापट्टम की सीमा में मुसलमानों का प्रवेश हुआ तो प्रजा की दुर्गति देखकर वहाँ के कवि गोगुलपाटि कूर्मनाथ ने सिंहाद्रि के नरसिंह भगवान् को ही गालियाँ सुना दीं और 'सिंहाद्रि नरसिंह शतक' के नाम से एक आक्रोशभरी पुस्तक लिखी। वह १७००-१७५० ई० के लगभग हुए थे। मुसलमानी फौजें पोटनूर, भीमसिंगी, जामी, चोड वरम् आदि इलाकों में घुसीं और मन्दिरों को लूट-पाटकर फिर उन्हें तोड़-फोड़ डाला तथा मनमानी करती हुई गुजर गईं।

कवि कहता है :

"न सोमयाजी महाराज की पूजा का नलदार कलश
कलश रहा अब, उसमें तुर्कों की लगती हुक्के की कश !
यज्ञों के मंडप मंडप अब कहाँ रहे ?
उनमें तो मात्र तुर्क तमाखू पान !
थूकदान बन गए हवन के पात्र !
चन्दन चूल्हे का ईंधन !
अरिसंहारी नृसिंह भगवान् !
कैसे सहता है तू यवनों से विप्र—
पराभव का अपमान ?"

खाते-खाते मीठी पूड़ी भी कड़वी हो जाती है !"

फिर कवि भगवान् पर बिगड़कर उसे मुसलमान बन जाने की सलाह देता है। कविता में भगवान् को जो कपड़े पहनाये हैं उससे उस समय के मुसलमानों की पोशाक का पता चलता है :

"त्याग जटा, जुल्फें सँवार ले, बाँध पगड़िया तुर्रादार
माथे का टीका पुँछवा ले, कुण्डल अपने फेंक उतार
चोंगा-पाजामा कस ले, पेटी कस, उसमें खोंस कटार,
पत्नी नाचारम्भा के बीबी नांचारी नाम पुकार,

सीख तुरुक भाषा नृसिंह ! देवाधिदेव तू है बेकार ।
दम ही नहीं अगर तुझमें, तो तुरुकों का ही बाना धार
नीचों की बंदगी-सलामी तेरी, सहन शक्ति के पार ।"

आगे कहता है :

"खल बटोहियों को घर-धरकर सबकी नाकें काटते हैं,
तू टुक-टुक देखा करता, ये धूर्त लूटते-पाटते हैं !
हाय गुहारें मची हुई हैं सभी ओर, तू बहरा है !
तुर्क हमारी स्त्रियाँ बाँध लें, तू पत्थर का पहरा है !
गाँवों के चूल्हे ठंडे हैं, खेती-बाड़ी उजड़ी है ।
घर की अगवाड़ी-पिछवाड़ी झाड़ी-झाड़ी उखड़ी है !
एक लँगोटी छोड़ सभी कुछ लूट ले गए तुर्क हाय !"

एक जगह कहा है कि मुसलमानों ने अन्त में जब सिंहाद्रि नृसिंह भगवान् के मन्दिर पर भी धावा बोल दिया, तब कवि कहता है कि भगवान् ने बर्रों की फौज भेज दी और मुसलमान भाग खड़े हुए । कवि आगे कहता है कि जब तुझे रोष आ ही गया है तो इन मुसलमानों का रूप ही मिटा डाल और आंध्र संस्कृति की रक्षा कर !

कांचीवरम् के निवासी कवि वेंकटाध्वरी सन् १६००-५० के लगभग के हैं । उनके लिखे संस्कृत ग्रन्थ 'विश्वगुणादर्शन' में भी मुसलमानों के अत्याचारों का वर्णन है । कुछेक अंश यहाँ दिये जाते हैं :

"हाय, इस आन्ध्र देश के अन्दर सदा सर्वदा महामानी, मुसलमान ही घूमते-फिरते दिखाई पड़ते हैं ।

'यहाँ पर घुड़सवार मुसलमान मन्दिरों में घुसकर उन्हें धूल में मिला रहे हैं और धर्म का विनाश करके, भुवन-भीकर रूप धारण किये विचरते हैं ।

"एक भी मुसलमान गुस्से में आकर तलवार घुमाते हुए मैदान में कूद पड़े, तो आन्ध्र सैनिक चाहे एक हजार भी क्यों न हों, उन्हें भागते

ही बनती है !

"हाँ उन्हें ताड़ी खूब पीने दो, पराई स्त्रियों का हरण करने दो, घूम-घूमकर देश का नाश करने दो, घरों को लूटने दो, शहर के बड़े-बड़े फाटकों को तिनके के समान तोड़ फेंकने दो ! यह सब वे भले ही कर लें, किन्तु इन्द्रपुरी के किवाड़ वे कभी नहीं तोड़ सकेंगे । (अर्थात् नरक में जायँगे ।)"

सम्भवत: १७५० के लगभग भद्राचल के आस-पास के एक और कवि ने 'भद्रगिरि शतक' में गोगुल पाटी कूर्मनाथ के समान भद्राचल के रामचन्द्र भगवान् को कोसा है । इस कवि यल्ला पेरा के सभी पद्यों का उल्लेख करने से ग्रन्थ भारी हो जायगा । इसलिए केवल उन्हीं पद्यों का यहाँ उल्लेख-मात्र किया गया है, जिनमें कवि ने मुसलिम सरदारों, सेनानियों, स्थानीय अधिकारियों आदि के द्वारा की गई धूर्त्तताओं का वर्णन दिया है :

'क्षुद्र अच्छिद्रकर्णों[1] के अनधीन हो विप्र तुर्कों से कन्नी कटाते रहे !
कभी खाँ-साहबों की न ताजीम की, अनसुनी की अजानें !
सजा ले रहे :
मन्दिरों में घुसे तुर्क, कल्याण-मँड़वे तथा वाहनागार मरघट बने;
आन्ध्र में आन्ध्र भाषा, न संस्कृत रही, यहाँ अपसत्य-भाषों के
जमघट बने
सत्र, प्याऊ, हवनघर सभी बर्बरों की असह बर्बरीयत के
छप्पर हुए,
भागते भाल भी तुर्क धर चाट लें, पुण्ड्र-छापे-तिलक
रफ़ूचक्कर हुए !"

यहाँ पर कवि ने 'धमा' का उल्लेख किया है । यह स्थान हैदराबाद राज्य में निर्मल के निकट है । सम्भवत: यह कवि निर्मल के ही आस-पास के निवासी रहे होंगे ।

१. अनछिदे कानों वाले मुसलमान ।

तिरुपति बाला जी आन्ध्र देश का एक तीसरा कोना है; वहाँ पर भी शान्ति न थी। वेंकटाचल-निवासी की टेक के साथ एक 'शत्रु-संहार' शतक मिलता है। इसमें भी सूदखोर भगवान् वेंकटेश्वर की खूब निन्दा की गई है।

इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सारे आन्ध्र देश के अन्दर अराजकता का तांडव नृत्य चल रहा था। जनता की यातनाओं का अनुमान-मात्र किया जा सकता है।

आन्ध्र देश पर एक ओर जब उत्तर की ओर से विपत्तियाँ-पर-विपत्तियाँ उतर रही थीं, तब दूसरी ओर दक्षिण दिशा से एक दूसरी बला टूट रही थी। इसका आगमन सात समुद्र पार से हुआ। वह थी क्रिस्तानों की क्रूरताएँ। तंजावर में जब आन्ध्र का शासन चल रहा था तभी पुर्तगालियों ने कालीकट पर कब्जा करके न केवल तलवार की धार पर बल्कि बन्दूक की मार पर भी उस सारे समुद्र-तट पर ईसाई धर्म का प्रचार किया। तंजावर के राजा चव्वप्पा ने ही सबसे पहले पुर्तगालियों को अपने राज्य के अन्दर आश्रय दिया था। धीरे-धीरे उनका अत्याचार पैर फैलाता गया।

इतने में हालैण्ड निवासी डच भी भारत में आये। डचों ने तंजावर-निवासियों को पकड़-पकड़कर उन्हें विदेशों में दास के रूप में बेच डाला। तंजावर पर मुसलमानों के अत्याचार भी कम नहीं थे। उन्होंने हिन्दुओं की हत्या करके उनके घर-बार आदि लूट लिये थे। यह सब-कुछ तंजावर के रंगीले राजा विजयराघव (१६३३-७४) के शासन-काल में हुआ। इस खब्ती राजा ने युद्ध-भूमि में ब्राह्मणों के हाथ तुलसी-जल भेजा था। इस मूढ़ विश्वास के साथ कि तुलसी-जल-प्रोक्षण से मरे पड़े मुसलमान जलकर राख हो जायँगे। परन्तु वह आप ही अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ समूल नष्ट हो गया।

ऐसे भीरु समय में अकेले राचावारू ने ही आन्ध्र जाति का मान बचाया। वे सब-के-सब हाथों में नंगी तलवारें लेकर मैदान में लड़ते हुए

वीर गति को प्राप्त हुए।[1]

ऐसी दुस्थिति में अर्थात् मुसलमानों और ईसाइयों के बाढ़ के समय, प्रजा की रक्षा करने वाले राजा महाराज नहीं थे। वे तो साधु-सन्त तथा वेदान्ती महापुरुष थे, जो गीतों और पद्यों से लोगों में नवीन उत्साह भरते हुए तथा समाज का सुधार करते हुए देश-भर में भ्रमण करते फिरते थे। इन संत पुरुषों में वेमनायोगी तथा पोतलूर वीर ब्रह्मम् मुख्य हैं।

पोतलूर वीर ब्रह्मम् जाति के सुनार थे। वह सत्रहवीं शती के मध्य के लगभग हुए। वे कर्नूल जिले के पोतलूर गाँव के निवासी थे। छुटपन में बनगाने पल्ले में वेंकट रेड्डी के घर ढोर चराया करते थे। उन्होंने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया, जात-पाँत के झमेले को धता बताई और इसी प्रकार के अन्य उपदेश दिये। वह गृहस्थ थे। उनके बाल-बच्चे भी थे। अनेक शिष्य थे। उनमें एक धुनिया सिद्दय्या मुख्य था।

वेमन्न वेदान्ती थे। ऐसे वेदान्ती, जो संसार को भी अच्छी तरह समझते थे। वह अत्यन्त ही महान् समाज-सुधारक हुए। सबको बुरा-भला कहते हुए, पर साथ ही हँसाते हुए सीधी राह बता देते थे। वेमन्ना के समय शैव तथा वैष्णव अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रचार जोरों से चलाते रहे थे। वेमन्ना दोनों की त्रुटियों को खोलकर रख देते थे।

शैवों के सम्बन्ध में वेमना कहते हैं कि :

"लिंगायत में ढोंगी जनमे, बकी परस्पर गाली,
पड़ा तुर्क से पाला, पल में धूल-धूल उड़वा ली!"
"मुसलमान मजहब भी कितना सस्ता है सुलतान
खिला-खिला पशु-मांस सभी के बदल लिये ईमान!"

वैष्णवों के सम्बन्ध में कहता है :

"मद्य-मांस सेवेंगे, नाते रिश्ते नहीं विचारेंगे।
ये माटी के माधो तो माटी की राह सिधारेंगे।"
"बने-ठने ये रंगनाथ के मन्दिर में तो जाते हैं।

१. 'तंजावर आन्ध्रनायक चरित्र'।

अगर खिल रहे मुख से ताड़ी की सुगंध फैलाते हैं !"

मेरी राय में ऊपर के ये चारों प वेमन्ना के नहीं हो सकते। एक-दूसरे के साथ गाली-गलौज करने के लिए वेमन्ना के नाम से कविता जोड़ने की चाल-सी की गई जान पड़ती है। वेमन्ना के जीवन-काल के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि वह सत्रहवीं या अठारवीं शती के थे।

उस समय की तेलुगु जाति के सम्बन्ध में वेंकटाध्वरी ने 'विश्वगुण-दर्शन' में लिखा है :

"आन्ध्र देश के प्रत्येक गाँव में शूद्र ही ग्रामाधिकारी हैं और ब्राह्मण उनके चाकर बनकर, उसके बगल में बैठे लिखने का अथवा पटवारीगिरी का काम करते हैं। ऊपर भूमि के बीच गढ़ई के समान एकाध वेद-पाठी ब्राह्मण कहीं हो भी तो वह बर्तन माँजने का ही काम करता है।" इस वाक्य से प्रतीत होता है कि उस समय गाँवों में रेड्डी कम्मा जाति का ही बोल-बाला था। वही गाँव के पटेल या मुकद्दम होते थे। गाँव के पटवारी होते हुए भी नियोगी ब्राह्मणों का इतना जोर न था। पूजा-पाठ करके जीवन व्यतीत करने वाले पुरोहित ब्राह्मणों की और भी दुर्दशा थी। अधिकतर ब्राह्मण दूसरों के घर रसोई पकाया करते थे।

उन्होंने यह भी लिखा है कि आन्ध्र देश के ब्राह्मण यज्ञ-हवन आदि नहीं करते, वेदाध्ययन नहीं करते, फिर भी इस देश में भगवान् के प्रति भक्ति तथा ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा खूब पाई जाती है। यहाँ के ब्राह्मण गोदावरी नदी में स्नान करके वहीं रेत का महादेव बनाकर बेल-पत्र तथा तिलाक्षत से शिवजी की पूजा करते हैं। उन्होंने ऐसा भी लिखा है कि **"गोदावरी के तटवर्ती ब्राह्मण शिवजी की पूजा तथा वेदाध्ययन के साथ पावन जीवन व्यतीत करते हैं।"** कृष्णा-गोदावरी के मध्य भाग के ब्राह्मण यज्ञ-हवन आदि करके पवित्र जीवन बिताते हैं।

वेंकटाध्वरी के समय मद्रास में अंग्रेज जम चुके थे। लिखा है कि **"अंग्रेजों ने व्यापार की अच्छी उन्नति की है, और अपने अधीन मद्रास**

में न्यायालय की स्थापना की है।"

'तिरुवलिक्केनि' आजकल मद्रास शहर का एक मुहल्ला है। वहाँ पर पार्थसारथी का एक बहुत बड़ा मन्दिर है। उसके सम्बन्ध में वेंकटाध्वरी ने लिखा है कि : " 'तिरुवलिक्केनि' प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। उसीको कैरविणी अर्थात् कुईं वाली झील भी कहा है। (सम्भव है तब उस तालाब में कमल कुईं खिलती रही हो, आजकल तो गंदा पानी, काई और कीड़े भरे हैं।)

अंग्रेजों के बारे में उसने कहा है :

"हूणाः करुणाहीनाः तृणवत् ब्राह्मणगणम् न गणयन्ति,
तेषाम् दोषाः पारे वाचाम् ये नाचरन्ति शौचमपि।"

यानी अंग्रेजों के दिलों में दया का नाम नहीं है। ब्राह्मणों को तो वे तिनके के समान भी नहीं गिनते। उनकी बुराइयाँ वाणी के परे हैं। वे तो टट्टी के बाद जल-शौच भी नहीं करते। (आज भी गोरे सूखा शौच ही करते हैं, धोते नहीं। कुछ हिन्दुस्तानी भी उनकी नकल करते हैं।) आगे भी उसने कहा है :

"शौचत्यागिषु हूण कदिषु धनम् शिष्टे च क्लिष्टताम्।"

ऐसी गन्दी जाति को भगवान् ने लक्ष्मी दी !

वैसे, अंग्रेजों की प्रशंसा भी बहुत की है। कहते हैं :

"ये हूण (अंग्रेज) पराये धन के लिए ललचाते नहीं, झूठ नहीं बोलते, चित्र-विचित्र वस्तुएँ तैयार करके बिक्री करते हैं। अपराध की जाँच करके दोषी को दण्ड देते हैं।"

परन्तु यदि वेंकटाद्रि आज कहीं जीवित होते तो वे अपने साम्राज्य की स्थिरता के लिए सब-कुछ कर गुज़रने वाले अंग्रेजों के लिए ऐसे शब्द कभी नहीं लिख सकते।

आडिदमु सूर कवि सन् १७५० से पहले का है। उस समय अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और मुसलमानों ने देश के अन्दर जो अन्धाधुन्ध मचा रखी थी उसके सम्बन्ध में सूर कवि ने लिखा है कि वे कच्चा मांस और ताड़ी

पीते थे। चिलम पीते और गुड़गुड़ी का गरम पानी पीते थे। गौ को मार गिराकर उसकी बोटी उड़ाते और मद पीकर अन्धे हो जाते थे। बटमारी करना और जेब काटना इन चांडालों की वृत्ति थी। ऐसे कहीं और हो सकते हैं।

उस समय आन्ध्र में कोई केन्द्रीय शक्ति न थी। सारा देश छोटे-छोटे सरदारों में बँटा हुआ था। वे भी बाहरी राजाओं के अधीन थे। अंग्रेज फ्रांसीसी और मुसलमान राजगद्दी के लिए छीना-झपटी करते थे। इससे देश-भर में अराजकता फैल रही थी। दिन-दहाड़े चोरी-डाके होते थे। सन् १६०० के आस-पास अमरावती के छोटे-से राज्य में वासि रेड्डी वेंकटाद्रि नायडु का शासन चल रहा था। वह अपने दान-धर्म तथा वीरता के लिए बहुत प्रसिद्ध था। "हाँक लाओ" वाली कहावत उसीके कार्य-कलापों से चल पड़ी थी। उन दिनों बटमारों का बड़ा ज़ोर था। जान लेकर माल लूट लेते थे। इससे देश में आतंक मचा हुआ था। बड़ी मेहनत और दौड़-धूप करके वेंकटाद्रि ने एक सौ डाकुओं को पकड़ मँगवाया, उन्हें सिलसिले से खड़ा करवाया और सबकी गरदन उड़ा देने का हुक्म दिया! यह देखकर चोरों ने कहा कि कतार के दूसरे छोर से गरदन उड़ाना शुरू करें। वे समझते थे कि जब कुछ मारे जा चुकेंगे तो राजा के दिल में दया उत्पन्न होगी और बाकी सारे बच जायँगे। किन्तु राजा ने एक न सुनी और सबके सिर उड़ा दिये। इस प्रकार वेंकटाद्रि ने प्रजा को चोर-डाकुओं से छुटकारा दिलाया।[1]

उस समय के लोगों की वेश-भूषा के सम्बन्ध में हमें विशेष कुछ ज्ञात नहीं। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि आज के जीवित बड़े-बूढ़ों के और आज से तीन सौ वर्ष पूर्व के लोगों की पोशाक में विशेष अन्तर न था। अब तो सिर पर क्राप (अंग्रेजी बाल), शरीर पर कोट और पैरों में बूट देश के कोने-कोने में दिखाई देते हैं। तब ये चीज़ें नहीं थीं। पुरुष साधारणतया सिर पर साफ़े बाँधते, साफ़े गोल

१. 'चाटु पद्य मंजरी' के आधार पर।

भी थे और बाँके भी। कुरता-कमीज न थी। लोग छः बन्दों वाला 'बारहबन्दी' अँगरखा पहना करते थे। बन्द चाहे कम हों, पर वह बारह बन्द कहलाता था। बाद में चार ही बन्द लगते रहे। फिर भी उसका नाम 'बारहबन्दी' ही रहा। साधारण लोग इसे नहीं पहनते थे। वे केवल एक मोटी-सी चादर ओढ़ लेते थे। कानों में बालियाँ सभी के होती थीं। धनियों के कान के ऊपरी भाग में एक छोटी बाली होती थी, जिसमें मोती या हीरे लगे रहते थे। बहुतेरे बाजू पर सोने या चाँदी के कड़े पहना करते थे। वेमना का एक पद्य है :

"जिसके सिर पर पाग, बदन पर चादर, कान में कुण्डल हो,
अँगुलियों में अँगूठियाँ हों, और पेट भी तोंदल हो,
सभी सगे नाती उसके बन जाते हैं मुँह के बल हों,"

एक खाते-पीते व्यक्ति की साधारणतया यही पोशाक होती थी। अपना काम बनाने के लिए ऐसे व्यक्ति के पास सभी लोग कोई-न-कोई बहाना लेकर पहुँच जाते थे। कहावत है, **"क्या करोड़पती के घर कौड़ी नहीं चलती ?"** गोया कौड़ी सबसे छोटा सिक्का था और उसका अच्छा चलन था। (ताँबे का पैसा चलने के बाद तक कौड़ी का रिवाज था। कोई पचास साल की बात है, एक पैसा देकर दुकान से कौड़ियों के हिसाब कई चीजें खरीद लाते थे।)

वेमना का एक और पद्य है : जिसका भावार्थ है :

"कौड़ी-कौड़ी धन जोड़ो क्यों लालच के व्यवहार कर ?
धरती में गाड़ो, पीछे पछताओ ठौर बिसार कर ?"

उन दिनों भी घरों में सन्दूक-बक्से और बाहर बैंक आदि नहीं थे। लोहे के घड़ों में सोना-चाँदी भरकर गाड़ देते थे। दैनिक व्यय के पैसों को भी पिछवाड़े जाकर मिट्टी के नीचे दबा रखना और फिर आवश्यकता पर ले लेना, साधारण प्रथा-सी थी। कभी-कभी रखते एक जगह और ढूँढ़ते दूसरी जगह थे और परेशान हो जाते थे कि कोई उठा तो नहीं ले गया। दूसरे सचमुच उठा भी ले जाते थे।

स्त्रियों का पुरुषों को और पुरुषों का स्त्रियों को वश में करने के लिए वशीकरण की औषधियाँ खिलाने का रिवाज तब भी था। विशेषकर स्त्रियाँ अपने पुरुषों को वश में रखने के लिए उल्टी-सीधी वस्तुएँ खिला देतीं और बेचारा उसे खाकर जो सो जाता तो उठने का नाम भी न लेता। बेचारी रोती-पीटती रह जातीं। इस आशय का वेमना का एक पद्य है। किन्तु शैली से प्रतीत होता है कि यह वेमना की कविता नहीं है। एक और पद्य है :

"घी के बिना बना भोजन तो, जानो जैसे घास है !
भाजी संग न हो, तो कुछ भी हो कुत्ते का ग्रास है !"

अर्थात् लोग साधारणतया भोजन में घी तथा सब्जी का प्रयोग करते थे।

लोगों को सगुन पर विश्वास अधिक था। उसके सम्बन्ध में भी पद्य मिलते हैं। लिखा किसी ने हो, वेमना के नाम की छाप लगा दी। जैसे वेमना के नाम से एक पद्य यह है :

"कहे वेमना, रास्ता काटे खरहा, बाँभन, नंबी, नाग,
या आगे हों तो जानो निश्चय अनर्थ, निश्चय दुर्भाग !
लेकिन अगर कहीं संयोग मिलें गरुड़ा के दर्शन के,
तो समझो निश्चय कि मनोरथ पूरे होंगे सब मन के !"

ऐसे अन्ध-विश्वास आज भी पाये जाते हैं। किन्तु जिस वेमना ने अन्ध-विश्वासों का खण्डन किया हो, वह ऐसे पद्य कभी भी नहीं लिख सकता था।

मोती की माँग की बात एक पद्य में कही गई है कि **'बिधवा मोती की माँग सँवारे क्यों ?'** (उत्तर भारत में माँग में सिंदूर लगाते हैं।) उक्त पद्यांश से जान पड़ता है कि दक्षिण देश में उन दिनों युवतियाँ माँग में मोतियों की लड़ी पहनती थीं।

बसिविन के बारे में वेमना ने बार-बार कहा है 'बसव' वृषभ से बना है। बसव भगवान् शिव के साँड को कहते हैं। जैसे साँड छोड़े जाते हैं, उसी प्रकार घर की बेटी को बसविन बनाकर घरों में रखने

की धार्मिक प्रथा थी। साँड व राँड दोनों का समाज में आदर था। यह प्रथा शैवों में थी। जवान लड़कियाँ रुद्राक्ष की माला गले में डालकर और माथे पर विभूति पोतकर मन्दिरों में बैठती थीं और बाहर घूमा-फिरा करती थीं। यह ताताचार्य से पहले की बात है। वैष्णवों ने इस प्रथा में कुछ परिवर्तन किया। वैष्णव गुरु अपनी शिष्याओं को तिरुमणि (तिलक) और तुलसी-माला पहनाकर दासरी बना डालते थे।[1]

वेमना ने चित्रकारी की उपमाएँ दी हैं। इससे सिद्ध होता है कि उस समय इस कला की महिमा थी। इंगलीरु (सिंदूर) आदि से रंग तैयार किये जाते थे और उसीसे चित्र रँगे जाते थे।

वैद्यक में आयुर्वेद की ही पद्धति चलती थी। पर देशी वैद्यक का ही प्रचार अधिक था। जैसे किसी को कुत्ता काट ले तो सिर मुँडवाते, जगह-जगह चमड़े पर नश्तर लगाकर उन स्थानों में नींबू का रस भर देते थे। आज भी कहीं-कहीं ऐसा किया जाता है। वेमना के नाम से वैद्यक पर भी कुछ पद्य हैं। एक पद्य में लौह-भस्म की महिमा खूब गाई गई है :

"लौह-भस्म-सेवन शरीर में फुरती लाता,
लौह-भस्म-सेवन क्षय तक को दूर भगाता,
लौह-भस्म-सेवन से बढ़कर काया-कल्प न होगा,
नित सेवे तो लोहे से बल अल्प न होगा !"

शैली के विचार से ये पद्य वेमना के नहीं जान पड़ते।

अब पशु-चिकित्सा की बात सुनिये। देहात में आज भी बलि के द्वारा ही इलाज होता है। पशु-चिकित्सालय तो अब खुल रहे हैं। वेमना का एक पद्य है :

"पशु को जो हो जाये दोम्मा-रोग,
बकरे की बलि दो, बतलाते लोग,

---

१. अनन्तकृष्ण शर्मा-कृत 'वेमना'।

कहे वेमना, बकरा तो खुद खाना होता !
देवी का तो नाम बहाना होता !"

वेमना के समय में काँच की कुप्पियाँ प्रचलित थीं। उन कुप्पियों में दिया जलाते थे। श्रीनाथ ने भी अपने 'भीमेश्वर पुराण' में काँच की कुप्पी की बात कही है कि उसमें कस्तूरी-जल भरकर रखा जाता था।

यह तो पता नहीं कि 'चन्द्रशेखर शतक' का रचयिता कौन है, पर भाषा से इतना तो प्रकट है कि वह किसी ब्राह्मण की लिखी हुई पुस्तक है, और वह ब्राह्मण नेल्लूर प्रान्त का निवासी रहा होगा। ब्राह्मणेतर जातियों के रीति-रिवाज की उसने हँसी उड़ाई है। पुस्तक के रचना-काल का भी ठीक अन्दाजा नहीं लग पाता। अनुमान होता है कि यह कवि सत्रहवीं-अठारहवीं शती में रहे होंगे।

अपने देश में तम्बाकू की प्रथा डालकर देशवासियों को तबाह करने वाले पुर्तगाली ही थे। तम्बाकू का श्रीगणेश भारत में सन् १६००-५० के लगभग हुआ है। इस 'चन्द्रशेखर शतक' में उसकी चर्चा है। इसलिए उस कवि का जीवन-काल १६०० और १७५० के बीच में होना चाहिए। चन्द्रशेखर का एक पद्य है :

"तलब लगी, ले चिलम-तमाखू बड़े सकारे
अगिया लाने जा पहुँचे बँभना के द्वारे,
बड़ी चिरौरी की, कर जोरे, दाँत निपोरे
लेकिन भभका बँभन, न जाने काहे को रे !
बोला, (घर में तीन-तीन अगियाँ[1] थीं जो-पर)
'भाग-भाग पापी, कोई अगियन दियाँ पर !'
बड़ा बवेला किया, बहुत सारी दी गारी,
बोला, कलयुग है, सारे पापी, अविचारी !
बोला, अगियाँ ये देने की नहीं, कहा मेरे को मूरख.

१. त्रेताग्नि।

बिगड़ा—आलम[1] ! चुपके पलट पड़ा मुँह की खा ।"

पद्य की भाषा एकदम देहाती है ।

हमारे लड़कपन तक इस देश में गाँवों और शहरों में भागवत, रामायण आदि पुराणों की कथाएँ कराना और लोगों का श्रद्धा से सुनना एक परिपाटी-सी रही है । यह प्रथा सत्रहवीं-अठारहवीं शती में भी अवश्य थी । ग्रामाधिकारी तथा धनी लोग गाँव वालों के लिए मनोरंजन आदि का प्रबन्ध करवा देते थे । पद्धति यह थी कि गाँव में कोई विद्वान् या नट आ जावे तो सारा खर्च धनी लोग उठाते थे, पर आनन्द सब लोग उठाते थे । दोम्मरी (नट) खेल मानो उन दिनों का सरकस था । (दोम्मरी एक जाति ही है, जो सरकस के-से करतब दिखाती गाँव-गाँव फिरती है । अनु०) । 'चन्द्रशेखर-शतक' के रचयिता ने तो यहाँ तक कहा है कि ब्राह्मणों की विद्याएँ भी दोम्मरी के करतबों के सामने तुच्छ हैं ।

उत्तर भारत में 'आल्हा' का जो स्थान है वही स्थान आन्ध्र में 'बुर्रकथा' या 'तानतन्दाना' को प्राप्त है । आज भी गाँव के लोग 'बुर्रकथा' को बड़ी श्रद्धा से सुनते हैं । चन्द्रशेखर ने अपने एक पद्य में चन्द बुर्रकथाओं के नाम गिनाकर कहा है कि ये तो सुन लीं अब न जाने फिर सुनने का ऐसा सौभाग्य कब मिले !

"लिम्म राजु की कथा, बीर-गाथा लोरी के गीत सुने,
नायकुराळ की कथा सुनी, नन्दी के वचन पुनीत सुने,
पांडु चरित सुनके तो मन की पीर उठी है जाग रे !
ना जाने इस मूरख के फिर कब बहुरें ये भाग्य रे ?"

भागोत नाटक—(यह नौटंकी की तरह का होता है विवरण पहले आ चुका है ।) चन्द्रशेखर लिखता है :

"रात मैंने स्वाँग देखे. जाग के !
सौंह गुरु की बड़े सुन्दर स्वाँग थे !
भागवत की सत्यभामा का विलाप क्या कहूँ कहने न देते बोल आप !

१. दुरात्मा ।

राधिका सचमुच बड़ी है पापिनी !
रुक्मिणी की सौं..........!
चन्द्रशेखर क्या मुनासिब था यही ?"

इस प्रकार के नाटक करने वाले अधिकतर दासरी जाति के होते थे। जिस प्रकार दोम्मरी की वृत्ति नट के करतब दिखाना है, उसी प्रकार दासरी की नाटक दिखाना है।

जातरा (मेला)— आज की तरह उन दिनों भी देव-स्थानों पर 'जातरा' या मेला लगता था। भगवान् की सवारी निकलती थी। चारों ओर के लोग इकट्ठे होते थे।

कवि चन्द्रशेखर कहता है :

"मैंने अनेक तीर्थ देखे, पर अवनगोंडा, जातरा का मुकाबला कोई भी नहीं कर सकता। वहाँ ढोल, नगाड़े, नारसिंगी आदि तो बजते ही हैं। कवि ने रंकुराट्नम (झूलों) की भी चर्चा की है। ये वही झूले हैं जो आज भी मेलों में एक बड़े खम्भे के चारों ओर हवा में गोल-गोल घूमते हैं। सीढ़ी की चर्चा पीछे आ चुकी है।"

पाठशाला और पढ़ाई—उन दिनों गुरु जी रेत बिछाकर उस पर अँगुली से वर्णमाला के अक्षर, गिनती और पहाड़े लिखवाया करते थे। इस तरह की पाठशाला के नमूने आज भी कहीं-कहीं देहात के अन्दर दिखाई दे जाते हैं। तीस-चालीस साल पहले तो ऐसी पाठशालाएँ ही अधिक थीं। कवि कहता है :

"मेरे पिताजी ने बचपन में मुझे रामायण, भागवत और महाभारत आदि खूब पढ़ाये। नीचे की पढ़ाई, अर्थात् ज़मीन पर रेत बिछाकर सीखने की चीजें पहले ही सिखा ली थीं। किन्तु ब्राह्मण डींगें मारते हैं कि मेरी पढ़ाई तो कुछ नहीं, असल पढ़ाई तो उनकी होती है। वे ओछे हैं, मूर्ख हैं।"

पाठशाला की पढ़ाई सूरज उगने से पहले अँधेरे से ही शुरू होती थी। गुरु जी के पास एक छड़ी या कोड़ा होता था। जो विद्यार्थी पाठ-

शाला में सबसे पहले पहुँचता उसकी हथेली पर वे 'श्री' लिख दिया करते थे। दूसरे को 'तारा' कहकर कोड़े से छू लेते थे। दोनों ही चीज कोड़े के सिरे से की जाती थीं। उसके बाद एक, दो, तीन............जैसे-जैसे बच्चे आगे-पीछे पाठशाला में पहुँचते, वैसे-वैसे उनके अंक बढ़ते जाते और घर लौटते समय कोड़े की उतनी ही चोटें उनकी हथेली पर पड़तीं। 'विजय विलास' में चेमकूर वेकंट कवि ने एक युवती के नखों की चमक का वर्णन करते हुए तारों की चमक को दूसरा ही दरजा दिया है।

'श्री' लेने के लिए बच्चे अपने बाप को बाध्य करते कि वह रात अछते ही गुरुजी के घर छोड़ आवें। वहाँ पहुँचकर 'श्री'-बच्चा गुरुजी के कम्बल में घुसकर फिर सो जाता (और घण्टे-भर के 'भूपाल' यानी गीत-प्रार्थना में औचक पहुँचकर और बच्चों के श्री-तारा क्रम को उलट-पुलट कर डालता---अनु०)।

छाता उस समय भी धूप और वर्षा में लोग छतरियाँ लगाया करते थे, पर बहुत कम। छतरियाँ आजकल की-सी नहीं थीं। आजकल केरल के देहाती बाँस के डण्डे में बाँस की ही तीलियाँ लगाकर उसे ताड़ के पत्तों से गोल छा लेते हैं और उससे छतरी का काम लेते हैं। इसे 'कोडे' कहते हैं। कोडे ही तेलुगू में गोडुगु (छाता) हुआ। इसका मतलब यह नहीं कि हमारे पूर्वज कपड़े की छतरी बनाना जानते ही न थे। भगवान् की सवारी के समय अथवा राजाओं के सिरों पर दो गज के डण्डे में रंग-विरंगे कपड़ों के छाते चलते थे। इस सम्बन्ध में भास्कर कवि, जो १७०० ई० के लगभग हुए हैं, लिखते हैं : **"जिस प्रकार प्रत्येक पेड़ की प्रत्येक डाल छाते की डण्डी नहीं बन सकती, कहीं-कहीं एकाध डाल ही ऐसी मिलती है, उसी प्रकार जाति में एकाध व्यक्ति ही धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं। ऐसे सज्जनों की संख्या अधिक नहीं हो सकती।"**

चाम के पुतले---मनोरंजन के कामों में चाम के पुतलों का खेल भी एक है। विविध प्रकार के गीतों के साथ चाम के पुतलों को नचाने का रिवाज़ आन्ध्र देश के अन्दर आदिकाल से था। प्राचीन कवि पालकुरिकी

सोमनाथ ने अपने 'पंडिताराध्य चरित्र' में लिखा है :

" 'भ्रमर', 'जाल' या 'बयनम्' आदि की 'पंचांग पेरणि'
ललित गति, रमणीक विधि से नाचने वाले नटन-मणि
तथा प्रथम पुरातन उत्तम चरित्रों को यथायथ
अनु-चरित अभिनीत करने में कुशल अभिनय-अप्रतिरथ........"

आगे कवि कहता है:

"दक्ष शैलूषिणी दोम्मरी जाति की
प्रांशु वंशाग्रचूड़ा-स्थिता नाचती,
नाचती हो यथा देवता-कन्यका !
रज्जु पर, यक्षिणी नाचती हो यथा !
वस्त्र की ओट अभिनीत करते कथा
राम के काव्य भारत-कथा आदि की
सूत्रनट, यन्त्रवत् पुतलियाँ नाचतीं !
यक्ष-गन्धर्व-विद्याधरी भूमिका
में उतरते कुशल नाव्यपुट नटप्रवर !"

'भास्कर-शतक' के रचयिता कवि कौन हैं, कुछ पता नहीं चलता। किन्तु उनके समय में भी चाम के पुतलों के नाच हुआ करते थे। अपनी कविता के सम्बन्ध में भास्कर कवि कहते हैं :

"यह तेरी कृपा है कि मान्य हुई मेरी कविता अति तुच्छ प्रभो !
पट-ओट चतुर नट के कर में नाचते सूत्र के गुच्छ, प्रभो !
वरना चमड़े के पुतले की कब हो सकती है यह मजाल—
भावुक-मन-मोहन नृत्य करे, कि हिला भी सके सिर-पुच्छ, प्रभो !"

'भास्कर शतक' के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि इसे दो कवियों ने मिलकर रचा है। इस पद्य में 'मेरी' शब्द का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि इसका रचयिता कोई एक ही व्यक्ति था, एकाधिक नहीं।

विप्र विनोद—आन्ध्र देश के अन्दर विशिष्ट मनोरंजन की एक और

भी सामग्री देखने में आती है ! वह है 'विप्र विनोद'। इसके करने वाले ब्राह्मणों की ही एक जाति-विशेष के लोग थे, जो किसी क्षुद्र देवता की उपासना करके या मन्त्र-तन्त्रादि क्रियाओं से मदारी के-से उच्चकोटि के करतब दिखाया करते थे। आज भी इस तमाशे के करने वाले ब्राह्मण ही पाये जाते हैं। गोलकोंडा के अन्तिम सुलतानों के समय गुण्टुपल्ली मुत्तुराजु नामक एक मन्त्री हो गए हैं। उनके सम्बन्ध में एक कविता है :

"गुण्टुपल्लि-श्रीमंत मन्त्री-शिखामणि जी
भोजन को उठते सज्जनकोटि-पूजन उपरांत !
उनकी 'बंति'[1] बैठ भोजन पाना ही भोजन है,
नहीं तो समस्त शूकर-दास-'बंति'-पर्यायांत !
'बंतियाँ' वे 'बंतियाँ' नहीं हैं, बल्कि 'बंतियाँ' हैं,
'बंति', 'बंति'-जोड़ी, विप्र-'बंति', 'बंति'-चोरिकांत !"

सन् १७०० ई० के बाद आन्ध्र में भी भूमि की व्यवस्था महाराष्ट्र-पद्धति पर होने लगी थी। कवि कहता है :

"यशस्वी मन्त्री श्री नरसिंहराय की कोठी का व्यय तो केवल परिमेय
उसी सांवत्सर-व्यय से जो कि वर्ष भर में करता है एक देश पांडेय।"

देशमुख, देशपांडे आदि की यह पद्धति महाराष्ट्रों की है।

पेम्मयसिंग राजु को लोग प्रौढ़ देवराय का समकालीन बताते हैं। यह ठीक ही होगा, क्योंकि उसके समय तक आन्ध्र में मिर्च का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। मिर्च जो आज दक्षिण में इतनी अधिक खाई जाती

१. हिन्दी के 'सारंग' शब्द की तरह तेलुगु का 'बंति' शब्द अनेकार्थ-वाची है। इस पद्य में प्रयुक्त 'बंति' शब्द के प्रथम, द्वितीय आदि प्रयोगों के क्रमिक शब्दार्थ ये हैं : (१) पंगत। (२) टोली, पाँत। (३)-(४) पंगत। (५) गेंद। (६) काँटेदार लाठी या नोक-बरछी। (७) हल के बैलों की जोड़ी। (८) विप्र विनोद (बाजी-गरी)। (९) चोरी (के उद्देश्य से ही रखी गई यानी चोरों) की करोली।

है, पहले-पहल सं० १६०० ई० में अमरीका से आई और तीन सौ साल के अन्दर आन्ध्र में उसका इतना अधिक प्रचार हो गया कि मिर्च अब आन्ध्र की खास पैदावारों में से मानी जाती है और खास भोजन-सामग्री भी। और कहीं इतनी मिर्च नहीं होती। पहले यहाँ के लोग गोल मिर्च ही खाया करते थे, जो कि विदेशों से आती थी। "**गोल मिर्च से रहित निपट फीकी तरकारी और परख-रहित दानी से मिली सम्पदा-सरी**" (दोनों समान हैं)। मिर्च का रिवाज हमारे देश में सन् १६०० ई० के बाद ही चला।

तेलुगु-देश का कुछ हिस्सा समुद्र-तट पर है। इस कारण प्राचीन काल से ही यहाँ समुद्री व्यापार होता आ रहा है। किन्तु हमारे समीक्षित समय में देश के अन्दर अराजकता का दौर-दौरा था। व्यापार की रक्षा करने वाला कोई नहीं था। गोलकोंडा का पतन हो चुका था। कडपा-कर्नूल में अफ़ग़ानी नवाब हुकूमत करते रहे थे। दक्षिण में अरकाट के नवाब की सल्तनत थी। उत्तर सरकारों में अंग्रेज और फ्रांसीसी ने जहाँ-जहाँ व्यापार किया, वहाँ तब भी और अब भी हम हिन्दुस्तानियों के लिए कोई जगह नहीं है।

अंग्रेजों ने सन् १६११ ई० में मछली बन्दर (मसूलीपटम्) में अपना एक कारखाना खोला। उस समय मसूली की मलमल बहुत प्रसिद्ध थी। 'मलमल' का पर्यायवाची अंग्रेजी 'मसलिन' शब्द इसी मसूलीपटम् से बना है। गोलकोंडा सल्तनत के अक्कन्ना मादन्ना मन्त्रियों के आश्रय में जाकर अंग्रेजों ने उन्हें तरह-तरह के नजराने दिये और बदले में अपने लिए मद्रास प्रान्त में व्यापार करने की अनुमति ली। गोलकोंडा के पतन पर उन्होंने औरंगजेब से कौल-पट्टे की पद्धति पर मद्रास, विजगा-पटम, मसूली, मोटुपल्ली तथा अन्य स्थानों में व्यापार करने के इजारे की मंजूरी ले ली।

तेलुगु प्रान्त भारत-भर में हीरों की खान के नाम से मशहूर था। गोलकोंडा के हीरों का नाम योरप-भर में गूँज उठा था। किन्तु वास्तव

में गोलकोंडा के इर्द-गिर्द हीरे की कहीं कोई खान नहीं थी। टावर्नियेर नामक पाश्चात्य यात्री ने लिखा है कि : **"गोलकोंडा से दक्षिण की ओर पाँच दिन का रास्ता चल चुकने के बाद कृष्णा नदी के तट पर 'रावल-कोंडा' नामक एक स्थान मिलता है। वहीं पर हीरों की खानें थीं।"** वह लिखता है कि उस समय यहाँ पर ६०,००० मजदूर काम करते थे। सन् १५६५ ई० में कृष्णा-तट पर ही एक और स्थान कोल्लूर में हीरों का पता लगा। कोहनूर यहीं से निकला था। एक ही शताब्दी के अन्दर कोल्लूर की हीरे की खान संसार-भर में प्रसिद्ध भी हुई और फिर बंद भी हो गई। हीरों के कारण कोल्लूर का वैभव इतना बढ़-चढ़ गया था कि कोल्लूर के खंडहरों पर एक गाथा ही चल पड़ी थी। 'कोल्लूर की जगमग' एक कहावत ही बन गई थी। कथा यों है—

कोल्लूर में एक देवता का प्रादुर्भाव हुआ। उस देवता की विशेषता यह थी कि यदि कोई व्यक्ति अपने पेशाब में अनाज भिगोकर उस देवता की मूर्ति पर चढ़ाये, तो सारे दाने हीरों में बदल जाते थे। सभी लोगों ने यही क्रिया दुहरानी शुरू की और बड़ी-बड़ी कोठियाँ खड़ी कर लीं। शहर में एक ग़रीब ब्राह्मण भी रहता था। उसकी ब्राह्मणी यह रट लगाये रहती थी कि तू भी हीरे बना ले और सुख से जीवन बिताया कर! पर ब्राह्मण तनिक भी न मानता। वह कहता कि चाहे कुछ हो जाय, मैं तो ऐसा निकृष्ट कार्य कदापि न करूँगा। एक दिन आधी रात के समय एक वृद्ध ब्राह्मण ने बाहर से आकर उसका किवाड़ खटखटाया। गरीब ब्राह्मण ने किवाड़ खोल दिया। बूढ़ा उसे अपने साथ शहर के बाहर ले गया और अँधेरी रातों में जगमगाते कोल्लूर शहर को दिखाकर खुद गायब हो गया। यह थी कोल्लूर की जगमग। बिन कहे ही कथा बता रही है कि यह केवल कोल्लूर के हीरों की कहानी है। ब्राह्मण-ब्राह्मणी की नहीं।

हैदराबाद और मसूलीपटम् की सड़क पर बन्दरगाह से पचास मील पर 'परिटाला' नाम का एक स्थान है। परिटाला में और पास ही

उप्पलपल्ली में भी कभी हीरों की खानें थीं। हैदराबाद से तीस मील की दूरी पर 'नरकोंडा' नामक स्थान पर ही 'निजामूहीरा' प्राप्त हुआ था। वह तोल में ३७५ केरट था, और दाम उसका दो लाख बीस हजार पौंड था। इनके अतिरिक्त कर्नूल जिले के रामल्लाकोट में भी हीरे की खानें थीं। 'रव्वा' (नग) हीरे को ही कहते हैं। यह रामल्लाकोट पहले रव्वलाकोट अर्थात् हीरों का दुर्ग कहलाता था। रायल सीमा के अन्दर एक गाँव वज्रकरूर है। यहाँ भी हीरे निकलते थे। वज्रकरूर के लोग आज भी वर्षा होने के बाद जहाँ-जहाँ से पानी की धारा बही हो, वहाँ-वहाँ हीरों की खोज करते हैं और कुछ पा भी जाते हैं। गुत्ती के निकट मुनिमडुगु में भी हीरे की खानें थीं। परन्तु आजकल कहीं भी हीरों की खुदाई नहीं होती। 'वेणुगोपाल-शतक' में एक पद्य आया है। उसमें उर्दू शब्दों का बाहुल्य है। इससे प्रतीत होता है कि आन्ध्र देश में उस समय मुसलिम हुकूमत भली भाँति जम चुकी थी। पद्य यों है :

"राजा यदि मंदमति हुआ तो उसका दीवान
राय देगा : अर्थियों को देना मत कोई दान !
मुन्शी कहेगा एक, बख्शी कहेगा आन !
तथा करेगा मजूमदार तीजी बतरान !
सिर डुला सिरिश्तेदार करेगा सिफ़ारिश एक,
कर जोड़ के वकील देगा दलीलों की टेक
आप-हड़प देशपाँडे दाँव से कहेगा कुछ
कान में मुसद्दी मन्त्र फूँकता रहेगा कुछ........"

'वेणुगोपाल शतक' के एक पद्य में कुछ क्षत्रियों का, विशेषकर उनकी पोशाक का वर्णन है। सम्भव है यह वर्णन राचवारी राजाओं का हो :

"बड़ी-बड़ी चुटिया पर पाग, पग-पादुकाएँ,
उजली धुली चादर औ धोती लाँगदार,

तुंदिल लंबोदर, खचिया भर जनेऊ,
म्यान कारचोबी, कर में करवाल, कटि में कटार,
ढाल जड़ाऊ, मूँछें खड़ी बाँसपत्ती,
टीका बारीक, दाढ़ी पर टपकती पान-पीक-लार,
नाम क्षत्री राजा, पर जा-जा समर में बार,
सीने जो न ले तो भाड़ों झोंकों ऐसे सरदार !"

अब कारिन्दों की पोशाक का वर्णन सुनिये :

"बाँकी पाग, बाँकी पनही, आँके-बाँके धरी कलम कान, कर में
गुड़ीमुड़ी पड़ी रूमाल,
एँड़ी टोती धोती, लगभग फ़ारसी मुहरें, मूँछें मछली-सी बल
खाती, बड़ा बस्ता डाल,
कलमदान लिये ऐंठे बैठे राजा के पास, करते सिफ़ारिश गले
दरबारियों की दाल,
रोड़े अटकाते कवियों और पंडितों की राह, पिंडोदकभोजी,
भूपति के तलवाचाटू-लाल !"

उस समय भी एक की कमाई को दूसरे किस प्रकार हड़प जाते थे, इसका वर्णन आडिदम् सूर कवि ने अपने 'राम लिंगेश शतक' में दिया है :

"देवल की आय अर्चक जंगम की संपदा है,
कमाई किसान की है 'पंबा'—पानीदार की,
बल्लिजों की कमाई तो दासरियों की बपौती है,
गडरियों की आय 'पिच्चकुण्ट्ला'-भिखार की,
लाभ सौदागरों का रंडियों की हुंडी है,
घूर्जर की कमाई पर नजर चोर की, लबार की,
सभी की कमाई किसी और से सगाई करे,
कोई नहीं रखे पूछ कवि बेपुछार की !
वैश्य हाँ अवश्य शादियों में खूब खरचते थे,

उसके लिए राजाओं ने चादरें पसार दीं...."

इसी सूर कवि ने प्राचीन परम्पराएँ मिटते देखकर अपने मनस्ताप भड़काये हैं।

कवि ने कहा है :

"अग्रहार मिट गये, मिटी माटी में बाकी माटी,
बंद पंडितों की आवक औ' भक्तों की परिपाटी,
वर्षाशन न रहे, बंधक पड़ते हैं हाथी-घोड़े,
धर्मस्थल वीरान, कवीश्वर भाग्य-भरोसे छोड़े,—
कठिन-हृदय होता न नृपति तो ये सब होते थोड़े ?"

सन् १६०० से आन्ध्र का राजनीतिक पतन आरम्भ हुआ। हाँ तंजावर में रघुनाथ राय के राज्य-काल में (सन् १६१४ से १६३३ ई० तक) आन्ध्र जाति की कुछ प्रतिष्ठा अवश्य बनी रही। रघुनाथ राय के समय मुसलमानों के आक्रमण अथवा अत्याचार नहीं चल सके ! उसने मुसलमानों को हराकर आन्ध्र संस्कृति को कुछ दिन तक गिरने से बचा लिया। उसके शासन-काल में तेलुगु यक्ष-गानों की अच्छी उन्नति हुई। नाटक, नृत्य और संगीत-कलाएँ समुन्नत हुईं। आन्ध्र-देश के अन्यान्य अंचल अपनी पूर्वार्जित सभ्यता तथा संस्कृति से वंचित हो गए, किन्तु तंजावर ने पुराने दुर्गों की रक्षा ही नहीं की, बल्कि नये-नये दुर्ग भी बनाये। स्वयं रघुनाथ राय ने एक सुन्दर दुर्ग, राज-भवन तथा सुन्दर कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण करवाया। संगीत-कला का वह अद्भुत ज्ञाता था। उसने स्वयं एक वीणा तैयार की थी, जो 'रघुनाथ मेला' के नाम से प्रसिद्ध थी। दक्षिणी भाषाओं में 'मेला' संगीत-मंडली को कहते हैं। आन्ध्र-सरस्वती ने तंजावर के मोती महल में नृत्य किया था। इस प्रकार वहाँ कविता, संगीत, नृत्य, शिल्प इत्यादि ललित कलाओं की यथेष्ट उन्नति हुई, परन्तु रघुनाथ के मरने के बाद उसके बेटे के राज्य-काल में तंजावर की स्वतंत्रता भी मटियामेट हो गई।

इन डेढ सौ वर्षों के भीतर तेलुगू जाति पर मुसलमानों की गहरी

छाया पड़ी। उसका असर साहित्य पर भी पड़ा। कविता में फारसी शब्द भरने लगे। 'वेणुगोपाल शतक' का ऊपर उद्धृत पद्य इसका प्रमाण है।

इस प्रकार सन् १७०० तक पहुँचते-पहुँचते तेलुगू जाति का सम्पूर्ण पतन हो गया। उसके बाद रह गए केवल फुटकर छोटे-छोटे सरदार। उनका रुतबा जिस हद तक रहा, उसी हद तक हमारी कलाओं की मर्यादा भी रही!

यह है सन् १६०० से १७५७ की हमारी सामाजिक स्थिति का स्थूल रूप।

इस अध्याय के आधार

१—**वेमना पद्य**—वेमना के नाम से बहुत सारे क्षेपक पद्य हैं। मालूम होता है कि अपने से अनबन रखने वालों की दूषणा करने के उद्देश्य से बहुतों ने वेमना की छाप (भरिणता) अपनाकर—'कहे वेमना' या 'सुन वेमा' की टेक लगाकर कहकर पद्य रच-रच लिये। रसवादों को कविताबद्ध करके या 'विश्वताभिराम वेमा' कहकर भी बहुत लोगों ने तुकबन्दियाँ कर डालीं। झूठ-मूठ बात बनाकर गाली-गलौज करने वाले कवियों ने अपना नाम तक देने का भी साहस नहीं किया और बेचारे वेमना को बदनाम किया। मेरे विचार से वेमना ने सभी पद्य 'आट विल्डी' में लिखे हैं। यति स्थान का पूरा ध्यान रखकर सुन्दर कविता लिखी है। उन सभी पद्यों की छानबीन करके पुनः प्रकाशित करना चाहिए।

२—**वेंकटाध्वरि**—मूल 'विश्वगुणादर्शनम्' संस्कृत में है। तेलुगू अनुवाद उतना अच्छा नहीं है।

३—**गोगुलपाटि कूर्मनाथ**—'सिंहाद्रिनार्थसिंह शतक'।

४—**भल्लापेर कवि**—'भद्रादि शतक' (तीसरे और चौथे नम्बर के) ये दोनों शतक मुसलमानों के अत्याचारों के वर्णन से भरे पड़े हैं।

५—**चन्द्रशेखर शतक**—कवि ने अपना नाम कहीं नहीं दिया है।

पुस्तक हास्य-रस से भरी हुई है। नेल्लूर प्रांत के ग्रामीण शब्दों के अर्थ सबके लिए अगम्य हैं। ऐसे शब्दों की टीका के साथ पुस्तक पुन: प्रकाशित की जानी चाहिए।

६—आडितम सूर कवि—'रामलिंगेश्वर शतक'।

७—वेणुगोपाल शतक।

८—भास्कर शतक।

प्रस्तुत समीक्षा में अन्तर्भुक्त काल के लिए हमें केवल शतकों पर निर्भर करना पड़ा। अर्थात् इस युग में अच्छे कवियों का सृजन भी नहीं हो सका। हमारे इतने शीघ्र पतन का यह भी एक कारण है।

: ७ :

सन् १७५७ से १८५७ तक

औरंगजेब की मृत्यु सन् १७०७ ई० में हुई थी, और सिराजुद्दौला की १७५७ में। इन पचास वर्षों के भीतर मुगल-साम्राज्य धीरे-धीरे गिरता गया। इस बीच भारत में मराठा-शक्ति ही बढ़ी-चढ़ी थी। सन् ११९९ में मुसलमानों ने केवल १८ सवारों को लेकर बंगाल को जीता था। संसार में इससे बढ़कर विचित्र घटना दूसरी कोई नहीं है। साढ़े पाँच सौ साल के बाद वही मुसलमान पलासी की लड़ाई में मुँह के बल गिरे। अंग्रेज़ों की यह जीत सन् ११९९ ई० की मुसलमानों की जीत के समान ही एकदम सस्ती पड़ी थी। इतनी सरलता से हिन्दुओं को परास्त करने वाले मुसलमानों की ऐसी दुर्गति क्यों हुई? हिन्दुओं ने चार-पाँच साल के अनुभव के बाद भी इससे शिक्षा नहीं ली। मराठों ने सह्याद्रि पर्वतों की घाटियों में घुड़सवारों को लेकर कठोरता से, कूटनीति से, चतुराई से और चालबाजी से मुसलमानों को तुर्क-ब-तुर्क जवाब दिया था। किन्तु भारत को जीतकर बाबर के हवाले किया था राजपूतों ने ही। मतलब यह कि उनमें स्वाभिमान तथा देशाभिमान का अभाव था। मुसलमान भी भोग-विलास में मग्न रहने लगे। कमजोर पड़ गए। तभी अंग्रेज़ आये। मुसलमान जब हिन्दुस्तान आये थे, तब वे अपने समुन्नत युद्ध-तन्त्र तथा अपने नवीन धर्म के लिए घोर आसक्ति-जैसे गुणों को और इन गुणों के सहगामी जुल्म, धोखा आदि दुर्गुणों को भी अपने साथ

लिये हुए आए थे। ये गुणावगुण उनमें पलासी की लड़ाई तक बराबर बने रहे। पर अंग्रेज़ उनके भी गुरु बनकर आये। अंग्रेज़ यह सोचकर भारत आये थे कि यहाँ पर पेड़ों पर दीनार लगते हैं, झाड़-झूड़कर सोने की चिड़िया उड़ा ले जायँगे। यूरोप में उच्चकोटि की तोपें-बन्दूकें बन चुकी थीं। वे इन नये अस्त्रों से सुसज्जित होकर भारत-भूमि पर उतरे थे। हिन्दू-मुसलमानों ने सन् १४०० से ही तोपों से काम लेना शुरू कर दिया था, किन्तु वे घटिया दरजे की तोपें थीं। बन्दूकों को भी यहाँ वालों ने अभी-अभी हाथ लगाया था। किन्तु तेलुगु-साहित्य में बन्दूक का उल्लेख 'शुक-सप्तति' के समय से ही चला आ रहा है। कदिरीपति के कामदेव भगवान् ने प्राचीन तीर-कमान फेंककर नये प्रकार की "तम्मि रुम्मी फिरंगी" को अपना लिया था। एक रेड्डी बहू के वर्णन में कवि ने कहा है :

"तम्मी-रुम्मी-फिरंगी दोरा तुरंगी विलास" अर्थात् तोप के समान चाल चली।[1]

यह 'रुम्मी' तोप रूम की बनी हुई बन्दूक या तोप नहीं थी? उस समय खेत-तोप का शब्द बन्दूक के लिए प्रसिद्ध तो नहीं था? अस्तु। अंग्रेज़ों के अस्त्र-शस्त्र बढ़िया थे। हिन्दुस्तानी सेना में कवायद-परेड में शिक्षित सिपाही नहीं थे। अंग्रेज़ों की सेना में सैनिकों को युद्धोपयोगी वरदी पहनाकर उनको अच्छी शिक्षा दी जाती थी। अंग्रेज़ों ने संख्या को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि अच्छी सैनिक-शिक्षा को। संसार का इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है, जिनमें लाखों की बेढंगी फौज को अच्छी तरह शिक्षित कुछेक हज़ार सिपाहियों ने ही बढ़िया शस्त्रों के प्रयोग से सहज परास्त कर दिया है। अंग्रेज़ अपने साथ एक और शस्त्र भी ले आए थे : 'धोखा'! यही उनका असली हथियार था। जिस चतुराई से अँग्रेज़ों ने हमारे ही बीच से देश-द्रोहियों को तैयार किया, वह चतुराई मुसलमानों में नहीं थी। देश के अन्दर अनगिनत छोटे-बड़े

१. 'शुक सप्तति', कथा १५।

राज्यों का होना, हिन्दुओं और मुसलमानों का परस्पर वैमनस्य, मुग़ल साम्राज्य का पतन, ये सारी बातें अँग्रेज़ों के लिए अनुकूल ही पड़ती थीं। इस देश में एक राजा को दूसरे से भिड़ाकर और फिर किसी एक का साथ देकर अँग्रेज़ हमारे इलाके-पर-इलाके हड़पने लगे। मीर जाफ़र के देश-द्रोह और अपनी चालबाज़ी से उन्होंने बंगाल को हथिया लिया। इन विशेषताओं को समझकर यदि हम इतिहास पढ़ें तो देश की राजकीय परिवर्तनों की कहानी सहज ही समझ में आ जायगी। मुसलमानों ने जुल्म-ज़बरदस्ती करके, तलवार के जोर पर भारत में अपने मजहब का प्रचार किया, तो अँग्रेज़ों ने उपाय के साथ प्रेम से लाखों हिन्दुओं को ईसाई बना लिया। सन् १६५२ ई० में ही दक्षिण के मलाबार में सेंट थामस नामक पादरी ने ईसाई-धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। उस समय के बने हुए सीरियन क्रिस्तान आज भी मलाबार में पाये जाते हैं। इस प्रकार ईसवी शती के आरम्भ से ही हमें ईसाई धर्म की बू-बास लग चुकी थी पर; बहुत कम। बाद में जब पुर्तगाली उतरे तब उन्होंने भी मुसलमानों के समान ही भारत के पश्चिमी तट पर मलाबार और तमिल प्रान्त में बन्दूकें दिखा-दिखाकर ईसाई बनाये। फ्रांसीसियों ने भी यही किया। अबेऽवाय नामक फ्रान्सीसी पादरी तो हिन्दुओं की तरह धोती पहनकर तमिल परयों में घूमता और उन्हें ईसाई बनाता फिरता था। उसने हिन्दू धर्म की दूषणा करते हुए एक बड़ी पोथी ही लिख डाली। मानना पड़ेगा कि नाना जाति-सम्प्रदायों से भरा हुआ; छुआछूत की बीमारी से ग्रसा हुआ, तमिल देश तो ऐसी पोथी का अधिकारी था ही। ये बीमारियाँ वैसे तो आज पूरे भारत-भर में ही फैली हैं, पर दक्षिण में और विशेषकर तमिल देश में उनका रूप अत्यन्त ही भयंकर था; और है। पर हम हैं कि ठोकरें-पर-ठोकरें खाकर भी न नई (अच्छी) बात सीखते हैं, और न पुरानी (बुरी बात) छोड़ते हैं। ईसाई पादरियों को देखिये, जो ५००० मील से जहाजों पर सात समुद्र पार करके छः-छः मास तक सफर करके, पराये देश में बसकर, पराई भाषाएँ

सीखकर, शहरी, देहाती और जंगली बोलियों तक का अभ्यास करके, यहाँ के मैले-कुचैले लोगों को गले लगाकर, उनके लिए स्कूल-अस्पताल आदि खोलकर अपने धर्म का प्रचार करते हैं। यह दृश्य हम आज इतने वर्षों से देखते आ रहे हैं, पर क्या हम भारतीयों को उनका दशांश या शतांश भी करने की प्रेरणा होती है? अस्तु! पलासी की जीत के बाद ईसाई धर्म के प्रचार में अधिकाधिक बढ़ावा मिलता गया।

आर्थिक स्थिति

पलासी की लड़ाई के बाद देश बड़ी तेजी से अंग्रेजों के अधीन होने लगा। सन् ११५० से १७०७ तक के ६०० वर्ष की लम्बी अवधि में सब-कुछ करते हुए भी मुसलमान सारे भारत को अपने अधीन नहीं कर पाए थे, किन्तु अँग्रेजों ने सौ साल के ही भीतर भारत में अपना आधिपत्य जमा लिया। अपने शासन के इस दौर में अँग्रेजों को हम भारतीयों की सुविधाओं का विचार तनिक भी नहीं था। अपने देश के तैयार माल के लिए भारत को अपना बाजार बनाने के उद्देश्य से उन्होंने यहाँ के उद्योग-धन्धों का सत्यानाश कर दिया। लोग यहाँ के मरेंगे कि जियेंगे, इसकी जरा भी परवाह न करके उन्होंने अधिकाधिक कर वसूल किये। आज से सौ साल पहले डिगबी नामक एक अँग्रेज ने स्वयं लिखा था कि उनके राज में हिन्दुस्तान में अकाल बहुत पड़े। मुसलमानों ने भी हिन्दुओं को लूटा था, पर लूट का माल इस देश के भीतर ही रहा, बाहर नहीं गया। किन्तु अँग्रेजों ने व्यापार के रूप में, करों के रूप में, सरकारी नौकरियों के रूप में और अन्त में प्रत्यक्ष लूट के द्वारा जो कुछ भी बटोरा वह सारा-का-सारा सात समुद्र पार भेज दिया। हमारी यह सम्पदा सदा के लिए इंगलिस्तान चली गई और यही हमारे आर्थिक पतन का कारण हुआ।

सन् १८०० से पहले ही आन्ध्र देश के रायल सीमा के चारों जिले कडपा, कर्नूल और अनन्तपुर तथा गुंटूर के साथ-साथ उत्तर सरकार का

इलाक़ा भी अंग्रेजों के क़ब्ज़े में आ चुका था। सन् १८५७ ई० में तो सारा भारत ही अंग्रेजों के क़ब्ज़े में आ गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तब तक आन्ध्र का सारा इलाक़ा भी उनकी छत्रछाया के नीचे आ चुका था। उत्तर सरकार कहलाने वाले विशाखापट्टन पूर्व एवं पश्चिम गोदावरी और कृष्णा जिलों में जमीन के मालिक बड़े-बड़े जमींदार थे। ये जमींदार वही पुराने सरदार थे, जो मुगलों को कर-मात्र देकर अपने-अपने इलाक़ों के अन्दर राजाओं के समान राज करते थे। राजा साहब पेछापुर मुग़लों को तीन लाख सत्तर हज़ार रुपया वार्षिक कर देते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उससे पाँच लाख साठ हज़ार वसूल किया। इसी प्रकार दूसरे जमींदारों पर भी कर बढ़ा दिये गए। उत्तर सरकार में ३१ जमींदारियाँ थीं। उत्तर सरकार के ज़िलों के पुराने नाम थे—चिकाकोल अथवा श्रीकाकुलम्, राजमंदरी, एल्लूर, कोंडापल्ली। उन्हें १७६५ में अंग्रेजों ने मुगलों से ले लिया था। कम्पनी ने उत्तर सरकार की जाँच-पड़ताल के लिए एक कमेटी नियुक्त की। कमेटी ने सन् १७८८ ई० में अपनी रिपोर्ट दी। उस रिपोर्ट से कुछ बातों की तफ़सील मिली। मालूम हुआ कि उन जमींदारों में से कुछेक उड़िया राजाओं की संतान थे। उन जमींदारों के निजी सीरात भी थे, जिन्हें हवेली कहा जाता था। हर गाँव में बारह आयगार होते थे। रेड्डी (पटेल), करणम् (पटवारी), चौकीदार, तोटी, नेरडी (पानीदार), पुरोहित, अध्यापक, जोशी, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, धोबी, नाई, वैद्य और वेश्या। इन सबकी गिनती आयगारों में थी। हर खेत की पैदावार से इन्हें निश्चित भाग मिला करता था। इस प्राचीन पद्धति को कम्पनी ने ख़तम कर दिया। उत्तर सरकार तथा बंगाल में कम्पनी ने दवामी बन्दोबस्त की व्यवस्था की। सीरात जमींदारों को दिये तो सही, लेकिन उनके लिए भी नीलाम बोल-बोलकर पहले बड़ी-बड़ी रक़में वसूल कर लीं।

मद्रास के अहाते में उत्तर सरकार को छोड़कर अन्य जिलों के अन्दर रैयतवारी पद्धति चालू की गई। इसका श्रेय विशेषतया थॉमस मनरो

की है। उस जमाने के अंग्रेजों में वह सबसे अच्छा आदमी माना जाता था। मनरो ने मद्रास के इलाके में २४ साल तक काम किया था। अन्तिम वर्षों में उसने रायल सीमा के लिए बड़ा परिश्रम किया। अन्त में कर्नूल जिले के अन्तर्गत पत्तिकोंडा में हैज़े से उसका देहान्त हो गया। रायल सीमा की प्रजा उससे बड़ा स्नेह रखती थी। कई हिन्दुओं ने तो अपने बच्चों के नाम 'मनरोअप्पा' रखे और इस प्रकार उसकी याद को ताजा रखा। आज भी पट्टेदारी पद्धति वास्तव में मनरो की पद्धति ही है। पहले जमीनें ठेके पर दी जाती थीं। गाँव-के-गाँव नीलाम बोलकर ठेके पर दे दिये जाते थे। काश्तकारों का सरकार से सीधा सम्पर्क नहीं था। ठेकेदार उनसे मनमानी रक़में लगान में वसूल करते थे। मनरो के कारण काश्तकारों का सरकार से सीधा सम्बन्ध हो गया और वे अपनी जमीन के मालिक आप हो गए। अब वे अपने खेत को चाहे जिसके भी हाथ बेच या खरीद सकते थे। अब वे अपना सालाना लगान सीधे सरकार को देने लगे। मनरो ने करों में भी काफी कमी कर दी थी।

तेलुगु इलाक़े की इस रैयतवारी पद्धति के सम्बन्ध में उस समय के साहित्य में हमें अधिक जानकारी मिल नहीं पाई। रमेशचन्द्र दत्त ने इसे रैयतवारी पद्धति कहा है :

"नेल्लूर के कलक्टर ने कोवूर की रैयतवारी पद्धति की जाँच कराई। सन् १८१८ ई० में जमीनों की पैमाइश की गई। सिंचाई वाले खेतों पर २०) खंडी की दर से लगान बिठाली गई। इस हिसाब से बन्दोबस्त किया गया कि जमीनों की उपज से कुल ३४३७४ रु० की रक़म आई। निराई वग़ैरह पर सदा की तरह सवा छः रु० सैकड़ा के हिसाब से किसानों को कटौती दी गई। इस हिसाब से कुल २२३४ रु० का खर्च काटकर बाकी ३२१३९ रु० का बँटवारा सरकार और किसानों के बीच करना था। हर २० में से ९ हिस्से अर्थात् सैकड़े ४५ रु० किसान को और ग्यारह हिस्से यानी सैकड़े ५५ रु० सरकार को दिये गए। इस

प्रकार कोवूर में सिंचाई वाली जमीनों से किसानों को १४४६२ और सरकार को १७६६७ रुपये मिले। इसी प्रकार सूखी (बिना सिंचाई वाली) जमीनों पर २८ रु० के हिसाब से बाजार-भाव लगाने पर सरकार को ७६८ रु० की आय हुई। कुल मिलाकर कोवूर ग्राम से सरकार को १५०० रु० की आमदनी हुई।" अर्थात् पैदावार में से आधी सरकार ने ले ली।

गाँव के बारहों कामदारों को कितना हिस्सा दिया गया, इसके सम्बन्ध में तेलुगु साहित्य में कोई मसाला नहीं मिलता। किन्तु बुकानन नामक एक व्यक्ति ने सन् १२०० ई० के बँगलूर के एक गाँव की तफसील दी है। हम उसीको यहाँ दे देते हैं। इसी दर से हम तेलुगु-देश का भी अनुमान लगा सकते हैं :

गाँव की कुल पैदावार	२४०० सेर
कामदारों या आयगारों का हिस्सा	—
पुरोहित	५ सेर
दानधर्म	५ "
जोशी	१ "
ब्राह्मण	१ "
नाई	२ "
कुम्हार	२ "
लुहार	२ "
धोबी	२ "
सरपि (नाज नापने वाला)	४ "
वीडल	७ "
रेड्डीपटेल	८ "
पटवारी	१० "
चौकीदार	१० "
देशमुख	४५ "

देसाई	४५ सेर
नेरड (पानीदार)	२० "
	कुल खर्च १६९ सेर

ऊपर के ब्योरे से स्पष्ट है कि पैदावार में से सवा पाँच सैकड़ा हिसाब आयगारों के हिस्सों में निकल जाता था। १० हिस्से ठेकेदार ले लेता। बाकी को सरकार और किसानों के बीच बराबर-बराबर बाँट दिया जाता था। रमेश दत्त की पुस्तक में तेलुगु-देश का ब्योरा तो नहीं है, किन्तु मैसूर, मलाबार और तमिल देश का ब्योरा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

सन् १८१३ ई० में इंगलिस्तान की पार्लमेंट की तरफ से हिन्दुस्तान में जाँच कमेटी बैठी। उसमें मनरो ने बयान दिया था कि : "भारत में खेत पर काम करने वाले मजदूरों को माहवार २ से ३ रु० तक मजदूरी मिलती है। प्रत्येक मजदूर को खाने-पीने पर सालाना खर्चा नौ से साढ़े तेरह रु० तक का खर्च पड़ता है। लोग मोटे कम्बल ओढ़कर गुजारा करते हैं। विलायती कम्बल खरीदने की शक्ति उनमें नहीं है। हिन्दुस्तानी अच्छे दस्तकार होते हैं, अच्छी समझ-बूझ रखते हैं। अच्छे अंग्रेजी उद्योगों का भी वह अनुसरण कर सकते हैं।" यह पूछे जाने पर कि क्या भारत की स्त्रियाँ दासियों की-सी नहीं होतीं ? मनरो ने जवाब दिया : "हमारे घरों में जितनी स्वतन्त्रता स्त्रियों को दी जाती है, वह भारतीय स्त्रियों को भी प्राप्त है।" जब उससे यह समाधान पूछा गया कि हमारे व्यापार से तो हिन्दू (भारतीय जनता की) सभ्यता निश्चय ही उन्नत हो सकती है। तब मनरो ने मार्के का जवाब दिया : "हिन्दू सभ्यता से आपका मतलब क्या है ? विज्ञान में, राजनीति में, तथा विद्या में वह हमसे कम जरूर हैं, किन्तु यदि सभ्यता के लक्षण उत्तम किसानी, अनुपम निर्माण-कला, जीवन की सुख-सामग्री के जुटाने, गाँव-गाँव में पाठशाला चलाने, दान-धर्म तथा अतिथि-सत्कार, नारी के आदर आदि को माना जाय, तब तो भारत वाले यूरोप वालों से किसी

भी माने में पीछे नहीं हैं। अगर हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान के बीच सभ्यता का ही सौदा होवे, इंगलिस्तान हिन्दुस्तानी सभ्यता की आयात से लाभान्वित ही होगा।" मनरो ने अपने एक ऊनी दुशाले को दिखाते हुए कहा कि : "यह सात साल पुराना हो चुका है, पर आज भी नया लगता है। यह हिन्दुस्तान का बना है। आज यदि कोई मुझे इंगलिस्तान का नया दुशाला ला दे और उसके बदले में यह पुराना दुशाला माँगे तो मैं हरगिज नहीं दूँगा।"

स्ट्रासी नामक व्यक्ति ने उसी जाँच कमेटी के सामने बयान दिया था : "हम लोगों ने हिन्दुस्तानी उद्योगों को तबाह किया है। अब भारतवर्ष का जीवनाधार केवल भूमि ही है। आज (सन् १८१३ ई०) हिन्दुस्तानी रेशम यहाँ पर हमारे यहाँ की कीमतों से ६०% कम दामों पर बिकता है। किन्तु हमारी सरकार उस पर ७० या ८० प्रतिशत कर लगाकर अथवा उसकी बिक्री की मनाही करके हिन्दुस्तान को घोर हानि पहुँचा रही है। यदि ऐसा न किया जाता तो हमारे कल-कारखानों में ताले पड़ जाते।"

मनरो ने कहा था : "मद्रास के अहाते में कम्पनी वालों ने जुलाहों को बुलाकर मजबूर किया कि वे सस्ते दामों पर कपड़ा तैयार कर दें। बुनाई में देरी हो जाने पर कम्पनी के नौकर जुलाहों पर पहरा बिठा देते थे और एक आना रोज के हिसाब से उनसे जुर्माना वसूल करते थे। फिर उन्हें बेंत लगवाते थे।"[1]

१७५७ में पलासी की लड़ाई में अँग्रेजों की जीत हो चुकने के बाद भी हमारे व्यापारी हिन्दुस्तानी माल को हिन्दुस्तानी जहाजों पर लाद कर इंग्लैण्ड ले जाते थे। जब हमारे जहाज लंदन की टेम्स नदी पर पहुँचे तो अँग्रेज उन्हें देखकर ऐसे घबरा उठे मानो नदी में आग लग गई हो। उन्होंने कहा : "ये हिन्दुस्तानी हैं। हमारे गुलाम हैं। क्या हमारे दास ही हमारे देश में आकर व्यापार में हमसे होड़ लगायँगे ?" बस

१. अध्याय १४।

उनका इतना सोचना भर था कि देखते-ही-देखते हमारा व्यापार भी और हमारे जहाज भी गधे के सींग की तरह छूमंतर हो गए। अब रही केवल जमीन। उसमें भी आधी से अधिक उपज तो कम्पनी ही हड़प कर जाती थी।

सन् १७६४ से ६६ ई० तक अँग्रेजी माल का व्यापार लगभग बाईस लाख तीस हजार रुपये के मोल तक हो जाता था। सन् १७८० में तीस लाख पचास हजार का हुआ। सन् १७८१ में इंगलैंड में वाष्प-यंत्र का प्रादुर्भाव हुआ। उस साल पचासी लाख पचास हजार का माल भारत में उतरा। सन् १७९० तक उनका व्यापार एक करोड़ बीस लाख तक बढ़ गया। सन् १८०० ई० में उसका चौगुना हो गया। सन् १८०९ में दस करोड़ चौरासी लाख का माल यहाँ भेजा गया। १७९३ में पार्लमेण्ट में रिपोर्ट पेश हुई थी, जिसमें बताया गया था कि आज हिन्दुस्तान में हर-एक दुकान के अन्दर इंगलिस्तान की मलमल ही बिकती है। और वह बिकती है देशी माल के चौथाई दाम पर।[1]

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति अँग्रेजों का भारत में आना, हमारे उद्योग-धंधों का पतन आदि सभी इसी शती की घटनाएँ हैं। यह ऐसी मार थी कि जिससे हम सँभल नहीं पाये। अंग्रेजों ने हमें कभी सँभलने ही नहीं दिया। समीक्षित-काल में भारत के लिए पुराने मुग़ल-साम्राज्य की अपेक्षा नया अंग्रेजी राज्य ही अधिक भयंकर था।

आचार-विचार

सन् १७५७ के बाद से भारत में अंग्रेजी राज्य जमने लगा। देश के अन्दर बड़े-बड़े परिवर्तन होने लगे। मुसलमानों का प्रभाव घटने लगा। देश पर और देश-वासियों के आचार-विचारों पर अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ने लगा।

कूचिमंत्रि तिम्मा कवि सन् १७५७ के बाद हुए हैं। 'कुक्कुटेश्वर शतक'

१. रशब्रुक विलियम तृतीय कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया', पृष्ठ १३२-३१।

में उनकी कुढ़न इस प्रकार प्रकट हुई है :

"निगमागम और पुराणों की पंडिताई कौड़ी-मोल नहीं,
उपहासजनक विद्याओं की कौड़ी ही चलती सभी कहीं।
नानाविध गद्य-पद्य-रचनाएँ सब-की-सब बेकार हुईं,
कि कथाएँ अहीर-गडरियों की अब जनकंठों के हार हुईं।
देशी भाषाओं को पूछे अब कौन ? फारसी चलती है,
आचार-विचार न वैष्णव-शैव, कि ढोंग पर जाति मचलती है।"

एक शतक 'गुव्वल चन्ना' के नाम से है। कुछ का कहना है कि यह कवि कोई गडरिया था। सम्भवतः यह कवि सोलहवीं अथवा सत्रहवीं शताब्दी के संधि-काल का है। वाविल्ला मद्रास के प्रकाशन में यही मत प्रकट किया गया है।

इस शतक के एक पद्य पर यह अनुमान लगाया गया है कि इसका लेखक गडरिया था। दूसरे पद्य पर यह अंदाजा है कि वह ब्राह्मण नहीं था और रायल सीमा का निवासी नहीं था। एक और पद्य में वकील के लिए 'प्लीडर' और गिरवी के लिए 'तनखा' शब्द का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि यह गुव्वल-चन्ना उत्तर प्रदेश का निवासी था, और सन् १८००-५० ई० का था।

उपरोक्त पद्यों के भाव इस प्रकार हैं :

"जिसके माता-पिता गुजारा करते होंगे,
कहीं गडरिये या बनिये के घर पर।
वही मैं कि मंदिर तक को हूँ देख न पाता,
ऐसा हुआ वकील कि रहता नसें फुलाकर।"

स्पष्ट है कि कवि गडरिया नहीं है। अपने-आपको इस तरह नहीं लिख सकता। इसी प्रकार नीचे के पद्यों से प्रतीत होता है कि वह ब्राह्मण भी नहीं है।

"लहसन का छौंक गोंगूरे का खट्टा-सा साग सराहे कौन भला ?
गोंगूरे का मजा तभी है, तेल मिलाकर खूब उसे दे खूब गला।"

ब्राह्मण गोंगूरे (अम्बाडे) की भाजी नहीं खाते, और अगर खायें भी तो प्रकट नहीं करते। इसी प्रकार रायल सीमा में अम्बाड़े को 'गोंगूरा' नहीं, बल्कि 'पुंटिकूरा' कहते हैं। अतः कवि न तो ब्राह्मण है और न ही वह रायल सीमा का निवासी हो सकता है।

एक जगह पर "शिकार के बहाने" वाक्यांश के प्रयोग से स्पष्ट है कि वह उत्तर सरकार का निवासी है। उत्तर सरकारों की तेलुगु में 'शिकार' सैर को कहते हैं।

"अपने को प्लीडर कहते हैं, भद्दे रूप बनाकर,
स्वैर विचरते असह्-जनों के संग लिये बस्ती भर।"
"धन जुड़ते ही सूद उघाना,
फिर खेतों में मूल लगाना,
फिर मेहरी के गहने-कपड़े,
यही सिखाता नया जमाना।"

उसके इन पद्यों से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में आन्ध्र जाति की स्थिति क्या थी। पोशाक के सम्बन्ध में एक पद्य में वह कहते हैं कि :

"अंगी हुए, अँगरखे आये, चादर और दुशाले आये।
पर कंबल फिर भी कंबल है, कैसे कोई उसे भुलाये ?"

एक और पद्य में वह नीच प्रकृति वाले मनुष्य की निंदा करते हैं। कहते हैं कि :

"लाख सिखाओ, नीच मगर काहे को माने भला ?
गोबर की गुड़िया पर कैसे उभरे ऊँची कला ?"

अर्थात् गोबर की गुड़ियाँ बना करती थीं। विलायती गुड़ियाँ अभी देश में नहीं उतरी थीं। पगड़ी, अँगरखा, एँड़ी सहलाती धोती, चादर आदि के जाते रहने पर भी कवि इसी तरह अपना खेद प्रकट करता है।

'गुव्वला चन्ना' उस संधि-काल का कवि है, जब आन्ध्र-देश में मुसलमानी प्रभाव के बढ़ने से पहले अँग्रेजों का आगमन हो चुका था।

सन् १६००-१७५० के बीच जो तम्बाकू भारत आया था, अब उसका प्रचार और भी बढ़ चुका था। कविगण उसकी प्रशंसा में पद्य लिखने लगे थे। एक कवि कहता है :

"दाँत की पीर है मत्त करी, अलबत्त है अंकुश घोर, तमाखू !
कुष्ठ का रोग है वृत्र, गरी-पद-वाहन-वज्र कठोर, तमाखू !

पीने के साथ लोग तम्बाकू खाने भी लगे थे। (सुँघनी शायद अभी नहीं चली थी।)

'भाषीय दंडकम्' के रचयिता श्री गंडलूरि नरसिंह शास्त्री सन् १८०० के लगभग कर्नूल प्रान्त में रहते थे। उनके उक्त 'भाषीय स्तोत्रों' से उस समय के लोगों के आचार-विचारों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

किसी काम पर निकलते समय सगुन आदि का जो विचार पहले था, वह अब तक चला आ रहा था। कवि कहता है कि :

कोई कहीं जाय, किधे जाय हमारी सेवा,
सेवा कर जाता तो स्वर्ग सुख पाता है !

उनका विश्वास था कि नम्बी वैष्णव के सामने पड़ने पर काम बिगड़ता है।

तम्बाकू का चुट्टा (ताजी बड़ी बीड़ी) बनाकर पीते ही नहीं थे, बल्कि तीलियों समेत तम्बाकू की पत्ती मुँह में दबाकर स्त्री-पुरुष खेतों में काम किया करते थे। कर्नूल प्रान्त में यह रिवाज अब भी है। कवि कहता है :

" 'अब अहीर का आता होगा स्वाँग !'
'तीली सुरती लायँ कहीं से माँग !'
'सुरती की क्या पड़ी, नाच के आगे,
नाच छोड़कर तंबाकू को भागे ?'—
रटन 'बालकिन्नेश ! बालकिन्नेश !'[1]
रटते हुए दासरी होते पेश !"

१. "स्वाँग ! स्वाँग !!" (यानी, 'स्वाँग आ रहा है।')

कुछ पद्यों की एक-दो पंक्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनमें बच्चे आपस में एक-दूसरे से कहते हैं कि 'देखो मुझे अमुक पद्य आता है, तो तुम अमुक तो सुनाओ !' बड़े-बूढ़े अपने बच्चों को तरह-तरह के पद्य सिखाते थे, और वे आपस में पद्य सुनाने की होड़ें बदा करते थे।

देहातों में थोड़ी-बहुत वैद्यक जानने वाले कठवैद्य झूठ-मूठ की भस्म, चूर्ण, तेल, अवलेह आदि बनाकर रोगियों से पैसा ऐंठते थे। ऐसा करने वाले आज भी हैं।

'हंस विंशति' के रचयिता अय्यल राजु नारायणामात्य सन् १८००-५० के लगभग हो गए हैं, उनकी पुस्तक क्या है, मानो उस समय के लोगों के आचार-विचारों की कोई खान है। वह कर्नूल प्रांत के निवासी थे। उन्होंने अपनी पुस्तक में कंदनूल गद्वाल, पाल बेकरी, रामल्ला कोट, खम्बम, नेल्लूर, मार्कापुर, विनुकोंडा इत्यादि तेलुगू प्रान्तों के नाम गिनाये हैं। आन्ध्र देश उस समय छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा हुआ था। उन भू-भागों को नाडु कहा जाता था। कवि कहता है कि :

"हमने अपनी यात्रा में देखे वेलनाडु, औ' वेंगिनाडु औ' पुलुगु नाडु
औ' पाकनाडु पोलप्पिनाडु, कलमुकिनाडु
रेनाड, आदि अंचल देखे !
अंचलांगना के दल देखे !

मद्रास को उन्होंने व्यापार की अच्छी मंडी बताया है। मछली बन्दर की छींट और गुलबरगा की दरियों की प्रशंसा की है। रेड्डी अथवा कापु जाति के बारे में कहा है कि उनके घर मिट्टी की हाँड़ियों में रसोई पकती थी।[1] गोलकोंडा-व्यापारी कहाने वाली पटवारी-जाति का शब्द-चित्र उन्होंने बहुत सुन्दर खींचा है :

"ऐंठनदार पैंठन-पाग, बेंठन काँख कागद का,
कान पर कलम और कमर में कलमदान,
लटकनदार धोती की पाटीदार चुन्नटें औ'

१. नारायण कवि १-१३७।

अंग में अँगरखा, मुक्ता मंडित कुण्डल कान,
काँधे काश्मीरी दुशाल, पग पनही लाल,
बस्ते की डोर हस्त-पोर से प्रलंबमान—
सजे-धजे पहुँचे गोलकोंडा व्यापारी—
नामधारी पटवारी उघाने को उधारी लगान !"

रेड्डियों की उपजातियों के सम्बन्ध में कवि कहता है :

"पंटाकापु, कोंडारे, मरुबगोर्नें, मोटाटी,
पेडगंटी, अरवेल, मलादी व पाकनाटी,
सभी कापू, किंतु बड़ा कोणिदे कापू खाँटी !"[1]

इसी प्रकार बलिजें जाति का वर्णन किया है। बलिजें की पोशाक :

"कमर की कलधौत करधनी में गंडे,
मुण्डमंडन पागमंडल तले नीलम के कुण्डल हैं
रुद्राक्ष, मुद्रिका नगीनी, झीनी धोती की झकाझक,
पर भभूत से भयंकर भाल के बल हैं !"[2]

बलिजें लोग, बैलों की सवारी[3] किया करते थे। शैवों की साधारण सवारी बैल की ही रही है। शिवजी का वाहन जो ठहरा !

सवेरा होते-होते गडरिनें दही बिलोया करती थीं !

गडरियों में कथाकारों की एक अलग उप-जाति थी। ये लोग विशेषकर कृष्ण-लीला तथा काटम राजु की कथा सुनाया करते थे।

नारायण कवि ने बहुतेरी जातियों तथा उन वृत्तियों के सम्बन्ध में लिखा है ! आज उनमें से कुछेक जातियों और उनकी वृत्तियों का पता नहीं चलता। उन नामों की एक सूची यह है :

---

१. 'नारायण कवि', ४-१३६।
२. वही, ५-९९।
३. वही, ५-१००।

"कोमटी कम्मँ,वेलमँ बेंकरि,
पट्टँ, गोल्लँ, औ' बलिजँ कुम्मरि,
पलगंडॅलु बेस्ता, चिप्पँ कम्मरि,
वड्रंगी, कासे, कंचरँ श्रणिकरि,
श्रगसालँ बडसालँ साले,
सातु सातिनँ सातानी वाले,
कटिका घटिकारँ निमित्तकारँ,
भट्ट, जट्ट, जांडू, चित्रकारँ
तागॅटँ, गांडलँ, जैन घूर्जर,
बंदिमागदँ, वैतालिकँ, वर,
करणेजी, खायतिलहॉडी,
गोंड, मिश्र, बनिया, बेहारी,
घटकी, श्रगालका, खत्री, बोया,
यरुकुला, चंचु, श्रनादि, (गोया),
जिलगर, वाने, बन्तेगट्टु, सम्मडी,
ईडिगा, वीर मुष्टि, माष्टी, मेदरी,
बड्डे, उप्पस, श्रसिधारँ, भैलारी,
करब्बाट औ' तुरुक पिंजारी,
विप्रविनोदी, जालिकर्त, मन्नेरी, तलार,
दोम्मरी, डोमिनी, बोम्मलॅटॅवार,
दासर, तेरानाइकंजंगम्, विद्दमवार........ ।"

आदि अनेक वृत्तियों वाली जातियाँ यहाँ पर गिनाई गई हैं। नारायण कवि के समय पुरानी वेश-भूषा जरूर कुछ-कुछ बदल चुकी थी। धीरे-धीरे तेलुगू लोग टोपियाँ लगाने लगे थे। यह टोपी कैसी थी? वही लम्बी ऊँची टोपी तो नहीं, जो कृष्णदेव राय के कारण चल पड़ी थी? अथवा गोल फेल्ट कैप, जो अँग्रेजों के समय थी! इस कवि ने

'टोपी' के शब्द का प्रयोग खूब किया है ।[1] बुडबुडकल अथवा डुबडुक्की एक जाति है जो भीख माँगकर निर्वाह करती है ! उसकी पोशाक में तब से अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है :

"नक्षत्राभ टीका, कानों नीलकाच-कुण्डल,
काँधे गुड़मुड़ी चादर औ' दुथैला थैला लटका,
पाग परसे दुशाला रेशम वाला,
'बोट्टीकोल'-लकुटी काँख-तले, जिससे लटकता हुआ मटका !"

ताड़ के पत्तों पर लोहे की सीख से लिखने का रिवाज आन्ध्र देश के अन्दर सौ साल पहले तक रहा है, यद्यपि कागज़ और स्याही की प्रथा श्रीनाथ के समय ही चालू हो चुकी थी । 'हंस विंशति' के समय में दावात और स्याही का प्रचार और बढ़ा था । यथा :

"दस्ताल कलम दावात तथा ईमली के बीज की लेई ।"[2]
"लमलोम छा चला, भरदी हो ज्यों स्याई,[3]
बड़ी ब्रह्मांड-दौति[4] में रसिक रवतवान ने !"

'हंस विंशति' में खाने-पीने की वस्तुओं की एक लम्बी सूची है । विशेष प्रयोजन न होने के कारण उसे यहाँ देने की जरूरत नहीं ।[4]

उस समय तक अपने देश में आजकल की-सी १२ घण्टों का समय बताने वाली घड़ियाँ नहीं आई थीं । 'हंसविंशति' के समय में लोग अपनी छाया नापकर समय का अन्दाज़ा करते थे :

"सूर्यास्तगान तो हुआ नहीं, पदच्छाया-मान,
उँगलियों पर गिनता नापता है गली का वितान,

---

१. 'नारायण कवि', १-१७२ ।

२ श्रीनाथ ।

३. स्याही के लिए 'स्याई' और दावत के लिए 'दौति' शब्द तेलंगाने में खूब प्रचलित हैं । ले०

४. १-१०५ ।

शायद घड़ियाल दीख जाय कहीं बस्ती में !"[1]

बड़े शहरों में घण्टे नहीं, बल्कि 'घड़ियाँ' बजाई जाती थीं। इसका वर्णन पहले आ चुका है। घड़ी को पहले 'गडियारम्' घड़ियाल कहते थे। नाम तो वही है, पर आजकल की घड़ी-घड़ी नहीं, बल्कि घण्टे बताती है।

नारायण कवि के समय में मन्दिरों और मकानों पर में विविध रंगों से भित्ति-चित्र बनाये जाते थे :

"हरित औ' हरिद्र कृष्णरक्तिम, अवदात, शबल,
धूम्ल वर्ण, श्याम वर्ण, कपिल वर्ण, था पाटल
भाँति-भाँति वर्णों की तूलिका से चित्रधन,
मन्दिर में विविध-चित्र चित्र कर रहे अंकन" ![2]

डेढ़ सौ साल पहले आन्ध्र जाति में जिन खेलों का प्रचार था, उनकी एक लम्बी सूची कवि ने देख रखी है। किन्तु खेद है कि आधे से अधिक शब्दों के तो आज अर्थ भी नहीं लगाये जा सकते। यदि कोई परिश्रम करके उन खेलों का ब्योरा तैयार कर दे और उस पर एक छोटी-सी पुस्तिका यदि लिख डाले, तो बहुत ही अच्छा हो। कवि के वर्णित खेलों के नाम यों है :

"दूचि, जाबिल्ली, बूचि कन्नुल कचिच
गुडिगुडि, कुञ्चमु, कुन्देन गिरि चीकटि मोकटि
कार्य, चिन्ताकु चेन्दुलु, पुलियाट, चिट्लं पोट्लं,
तूरण तुङ्का, तूनिग तानिग, चडुगुडु, मोके
साटा, चिल्ला कट्टे, दागिलमता, ललुपिल्ला,
यावंकी, गुप्पट गुरिगिज, कोंडा कोलि,
चिक्कज बिल्ला, जल्लेमागोडुगु, बिल्लादिव,
लक्कि बिक्कि दंड, गडुर बोडी, ओक्कसि कोक्कु,

१. 'हंसविंशति', ३-१५६।
२. वही, ३-९।

बरिगाय पोट्टु, गीनगिजा, बोंगरमु।"[१]

ऐसे बहुत सारे खेलों के वर्णन भी दिये हैं। उत्साहीजन मूल पुस्तक में देख लें।

प्रायः लोग अपने आँगन में चट्टानों पर शेर-बकरी की पटिया खुदवा लेते थे।[२] आज भी इसकी प्रथा देहातों में पाई जाती है।

मुर्गबाजी में आन्ध्र जाति की रुचि अत्यन्त प्राचीन है। तेलुगु साहित्य में केतनँ कवि से लेकर नारायण कवि तक अधिकांश कवियों ने मुर्गबाजी का वर्णन किया है। इसका एक शास्त्र ही बन चुका था। कवि नारायण का एक पद्य है :

"काचिपात्र, सुष्ट, ताग गिरहबंद,
जल-झटके, बूटी, मन्त्र छुरीछन्द,
रक्तरोक-रस आदि ले-लेकर
मुर्गबाज पहुँचे रंगस्थल पर !
कुक्कुट हैं पंचजाति : नेमिली,
काकि, डेकँ, कोडि तथा पिंगली !
सुदी-बदी रातों के देख सगुन,—
नींद, मरण, राज, भोग और गमन........"

इसी प्रकार के और भी चार-पाँच पद्य नारायण कवि ने इस विषय पर लिखे हैं।[३]

शैवों में वीरभद्र की थाली रखने की प्रथा थी।[४]

तावीजों के प्रति लोगों की श्रद्धा अधिक थी। इससे पहले इसकी चर्चा आ चुकी है। नारायण कवि ने भी इसका उल्लेख किया है।[५]

१. 'हंस विंशति', ३-१४७।
२. वही, ४-१२३।
३. वही, ३-२१३।
४. वही, ३-१८८।
५. वही, ५-६६।

लड़कियों के खेलों में भी नाचना सोमयाजी से नारायण कवि तक गुड्डे-गुड़ियों की शादी, खाने की पंगत, घरौंदे आदि खेलों के वर्णन बराबर मिलते हैं।[1] उत्साहीजन पूरा पद्य मूल में देख लें। इसमें सभी खेलों का समावेश है। यह पद्य बड़े महत्त्व का है।

चरखा तब भी खूब चलता था। 'हंसविंशति' में कताई का वर्णन कई जगह है।

धनी-मानी लोग गर्मियों के दिनों में रास्तों पर जहाँ-तहाँ प्याऊ बनाकर पुण्य कमाते थे। उन प्याउओं में ठण्डा जल नहीं, बल्कि मट्ठा पिलाया जाता था और साथ ही यह भी सुन लीजिये :

"नमक, सोंठ, जंबीर-नीर-परिपूरित दही-मट्ठे से भरे अति-विशाल घट
शीतल निर्मल जल के मटकों में मिसरी और इलायची की स्वादु घुलावट
जीरक, 'परिवेपाकु',[2] चन्दनादि से गंधित देवपेय बने हुए मटके,
सैंधव तथा पलांडु से तंडुल-तंडक-युत मांड-कांड-भरे मांड-मटके !"

अन्तिम चरण (मूल तेलुगु का ही) देखिये :

"गंध वहिष्ट लाभज्जक प्रशस्त कायमान मुहुर्मुहुर्जायमान,
मन्द पवमान घन सार चुम्ब वेदि कालय विलान पानीय शाला।"

अर्थात् "खस तथा चन्दन की खुशबू खूब-खूब भरे रहने के कारण प्याऊ की वेदिका से सुगंधित हवा निकल रही थी।"

उन दिनों के ब्राह्मण संस्कृत का विशेष रूप से अभ्यास करते थे। ब्राह्मण विद्यार्थियों को 'मेघ संदेश', 'कुवलयानंदमु', 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'मणिसार', 'सिद्धान्त कौमुदी', 'रस मंजरी', 'काव्य-प्रकाशिका' आदि पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं।[3]

पिछले साठ वर्ष के भीतर ही हम भारतवासी अँग्रेजी की शिक्षा की ओर अधिक झुके हैं। नारायण कवि के समय देशी पाठशालाएँ विधि

१. 'हंस विंशति', ५-१४७।
२. तेजपात।
३. 'हंस विंशति', २-१४२।

पूर्वक चालू थीं। कवि ने उस समय की पाठशालाओं का सजीव चित्र दिया है :

"गुरुजी कहते कि वर्णमाला पर हाथ फेर,
सुनते ही रो उठता पेट-दर्द टेर-टेर।
'गुपित'[1] के लिखने को बुलाया यदि जाता मैं,
अंगुलि-संकेत कर 'लघुशंका', भग जाता मैं।[2]
चटिये घसीट लाते, पटिया ले बैठता,
'खरिया नहीं है' यह बहाना ले, बैठता!
खिसियाते गुरुजी औ मल देते दोनों गाल,
जाँघों में चिकोटी ले, कर देते चारों लाल।
'कांदंडम्'[3] के ऊपर टाँग देते छत में,
ऐसी मार मारते कि रहता न गत में।
बाँहें बाँध सुबह-साँझ छड़ियों से पीटते,
टूट-टूट जातीं वे, फिर धर घसीटते।
उँगली झकझोर कर धर देते अक्षर पर,
मैं काहे को बोलूँ, मुँह तकता बकर-बकर।
घड़ी-भर की छुट्टी को दिन-भर मनाता मैं,
भरी साँझ तक चरवाहों-सँग बिताता मैं।
मैया मनाती कि पढ़ पूता, पढ़ बालक,
सुनकर मैं रो पड़ता सिसक-सिसक फफक-फफक।
तेल पोत-पोत देता पटिया के ऊपर मैं,
या पपड़ियाँ ही उड़ा देता खुरच-खुरच कर मैं।

१. स्वर-जोड़, बाराखड़ी।
२. कानी उँगली का संकेत माने लघुशंका, दो उँगलियों का दीर्घशंका, तीन का नाक पोंछना, चार का पानी पीने जाना, यही पाठशालाओं में छुट्टी के लिए संकेत-भाषा थी।—अनु०
३. फलक।

बाल-रामायण छिपा रखता कि ढूँढ़ो तो न मिले,
छड़ी तोड़ देता मानो सर किये दुश्मन के किले।
घड़ा फोड़ देता और डोरी तोड़ देता मैं,
खरिया चबा-चबा बहाना जोड़ लेता मैं।"

× × × ×

"एक दिन कराई गई मुझसे उठक-बैठक,
घात लगाये मैं भी रहा दाँव को तक-तक।
दुपहर हुई, गुरुजी इमली के पेड़-तले,
जा सोये, सोते ही खुर्राटे भर चले!
चुपके से डाल झुका चुटिये से बाँध गिरह,
जगें-जगें तब तक हो गया मैं नौ-दो-ग्यारह।
और उधर गुरुजी महराज बिल्लाते रहे,
पेड़ से टँगे लटके हुए चिल्लाते रहे।"[1]

× × × ×

गाँव की पाठशालाओं में गुरुजी दिन के समय बैठक की चटाई प ही लेटकर खर्राटे भरा करते हैं। गर्मियों में पाठशाला इमली की घन छाँव में चलती थी। पटिया लकड़ी की होती थी और खरिया-बत्त सेलम मिट्टी की।

तम्बाकू का रिवाज बढ़ गया था। लोग कपड़े की छोटी-सी थैली तम्बाकू भरकर सदा साथ रखते थे।[2] गाँव के पटवारी (ब्राह्मण) भ तम्बाकू के चुट्टे (हरे पत्ते में तम्बाकू) भरकर धुएँ के बड़े-बड़े कश खींच करते थे। पटवारी की पोशाक पर नारायण कवि ने लिखा है:

उजली पगिया, 'चोबका', अंटी में तम्बाकू का बटुआ,
कलफ़दार चादर काँधे, मुँह के 'चुट्टे' से उठे धुआँ,

१. १-१४४।
२. २-७६।

सुन्दर धोती और जूतियाँ पहने श्री पटवारी की
बिजे हुई; राजा नल से उन्नीस न शान सवारी की !"[1]

'चोक्का' असल में अरबी शब्द 'चोगा' का ही रूपान्तर है, पर अब यह शुद्ध तेलगु शब्द माना जाता है।

स्त्रियाँ भी पान-सुपारी के साथ तम्बाकू खाने लगी थीं।[2] 'शुक सप्तति' और नारायण कवि के बीच के लम्बे समय में स्त्रियों के आभूषणों में कोई विशेष अंतर नहीं आया। नारायण कवि ने भी आभूषणों की लम्बी सूची दी है :

"कुप्पे एगडीबिल्ला, कुंकुम रेखा पापेटा बोट्टु,
कम्मलु, बावलीलु, निलिसूर्य चन्द्रवंकलु, सूसकमु
केम्पुरव्वला, पल्लेर पुव्वु, रावि रेखॅ एवं बुगडा,
लालवीगॅ, मेडानुल, कुत्ति कंडु, सर्पणा, गुण्ड्लॅपेरु,
सरिगे, मुक्करा, बन्नासरसु, लुलं डालु, कंकण, तट्लॅ,
कड्डियम्, संदि वंड, वड्डाणम, मुद्रिकॅ तथा हंसकम्मुलु,
ओंयुगज्जालु, बोवलकोयलु, गिल्लुकु मेट्टे।"[3]

आदि।

अभिलेखों के समान आभूषणों में भी हमारे पूर्वजों की बहुत-सी चीजें हमारे लिए अज्ञेय हैं। इस सम्बन्ध में विशेष रुचि रखने वालों का कर्तव्य है कि उन आभूषणों के चित्र देकर तथा पहनाई का ब्योरा देकर एक छोटी-सी पुस्तक लिख डालें। विशेषकर शब्द-कोशों में तो ये शब्द अवश्य ही दिये जाने चाहिएँ। अर्थ देने के बदले 'आभूषण-विशेष' कह देने से भी काम नहीं चलेगा। वहाँ उस आभूषण का चित्र भी दिया जाना चाहिए।

एनुगुल वीर स्वामी नाम के एक सज्जन मद्रास शहर में ईस्ट इंडिया

१. ३-६२।
२. ४-१५२।
३. २-३६१।

कम्पनी की नौकरी में किसी अच्छे पद पर थे। उस समय भारत में रेलें नहीं चली थीं। उन्होंने परिवार के साथ काशी जी की तीर्थ-यात्रा करनी चाही। १८३०-३१ ई० में वे पालकियों में सवार होकर यात्रा पर चल पड़े। कड़पा, कर्नूल, जटपोल, वनपर्ती, महबूबनगर (पालमूर), हैदराबाद, निजामाबाद आदि होते हुए वह काशी पहुँचे थे और वापसी में उत्तर सरकार के रास्ते विशाखा, राजमंदरी आदि होते हुए मद्रास लौटे थे। यात्री के नाते उन्होंने सारे आंध्र का भ्रमण किया था और अपनी दैनिकी में रोज की बातें ज्यों-की-त्यों लिख डाली थीं। अतः दैनिकी के रूप में छपा उनका 'काशीयात्रा चरित्र' सन् १८०० से १८५० ई० तक के आंध्र-देश की परिस्थितियों की जानकारी के लिए अत्यंत उपयोगी पुस्तक है।

उस समय आंध्र-देश अँग्रेजों के अधीन हो चुका था। हैदराबाद का तेलंगाना क्षेत्र निजाम के राज्य में था। अँग्रेज अभी अपने राज्य को जमाने की फिक्र में थे। देश में शान्ति-रक्षा का प्रबन्ध ठीक न था। फिर भी अँग्रेजों के अधीनस्थ आंध्र के अन्दर निजाम राज्य के तेलुगु-प्रान्त से कहीं अधिक शान्ति तथा सुव्यवस्था थी। वीर स्वामी के 'काशीयात्रा चरित्र' तथा श्री बिलग्रामी की अंग्रेजी पुस्तक 'हिस्टोरिकल एण्ड डिस्क्रिप्टिव स्केचेज ऑफ़ हैदराबाद स्टेट' दोनों ही से हमें यह विदित होता है।

वीर स्वामी के 'काशीयात्रा चरित्र' से नीचे दी हुई बातें मालूम होती हैं :

आन्ध्र-देश के अन्दर घरों की बनावट अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग थी। रायल सीमा में किसानों के घरों में मनुष्य और पशु एक ही छत के नीचे वास करते थे। यह बुरी प्रथा अभी तक चली आ रही है। बड़ी आत्माकूर पहुँचकर वीर स्वामी लिखते हैं कि किसान अपने रहने-सहने के घरों की अपेक्षा अपने बैलों के लिए अच्छे कोठे बनाते हैं और पशुओं की अच्छी देख-रेख रखते हैं। गौ का दूध नहीं निकालते।

प्रायः भैंस के दूध-दही-घी से ही काम चलाया जाता है।[१] रायल सीमा के बैल न तो तब अच्छे होते थे और न अब हैं। यहाँ नेल्लूर प्रान्त से बैलों के व्यापारी आया करते हैं और उन्हींसे यहाँ के लोग अपने बैल खरीदते हैं। एक बैल दस-बीस बरहा में मिल जाता है।[२]

कर्नूल जिले में चावल की बहुत कमी है। गरीब ज्वार अथवा कोदों के भात से गुजारा करते हैं।[३]

कृष्णा जिले में जैसे अच्छे बैल हैं वैसे दक्षिण भारत-भर में किसी दूसरी जगह देखने में नहीं आते।[४]

मसूलीपट्टम के बारे में वह लिखते हैं :

"यहाँ के लोग उतने स्वस्थ और सुदृढ़ नहीं होते। स्त्रियाँ सज-धज-कर सुन्दर दिखाई देती हैं। कानों में लम्बी-लम्बी साँकलें पहनकर उन्हें ऊपर बालों में, माँग के निकट, काँटे से अटका लेती हैं। यहाँ के स्त्री-पुरुष नील के धुले कपड़े पसंद करते हैं।"[५]

"यहाँ के लोग साधारण महफ़िल को भी मेजबानी कहते हैं।" (मेजबानी फारसी शब्द है, तेलुगू नहीं। किन्तु तेलुगू में अपना लिया गया है विशेष अर्थ में। 'मेजबानी' के लिए वेश्याएँ अनिवार्य हैं।) आजकल भी वेश्याओं के नाच को 'मेजबानी' कहजे हैं।

"कृष्णा नदी के उत्तर में पूर्वी समुद्र तक लोगों की बोलियाँ राग-युक्त होती हैं, अर्थात् वे शब्दों की ध्वनि को खींचकर बोलते हैं। स्त्रियाँ इतनी बड़ी नथें पहनती हैं कि पूरा मुँह छिप जाता है।"[६]

"नेल्लूर-निवासी स्त्री-पुरुष भी शरीर के गठे होते हैं। रूपवान

१. पृ० ११।
२. ,, १४।
३. ,, २३।
४. ,, ३५८।
५. ,, ३५०।
६. ,, ३५३-४।

भी। उनके चेहरे कुछ गोल ही होते हैं, किन्तु रंग अधिक साँवला होता है। उनका स्वभाव साधारणतया कपट-रहित होता है।"

"राजमन्द्री और धवलेश्वर प्रान्तों को 'कोन सीमा' कहते हैं। इसमें गोदावरी नदी का डेल्टा है। इसलिए इसे सप्त गोदावरी कहते हैं। यहाँ के ब्राह्मणों के पास काफी जमीन भी है।[1] ये अध्ययन और यज्ञादि सत्कार्यों में अच्छी श्रद्धा रखते हैं।[2] उड़ीसा के अन्तर्गत आन्ध्र वेलमें हैं, जो तेलंगा कहलाते हैं।"[3]

"छोटे गंजाम और समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों में नमक तैयार किया जाता है। नमक बनाने वालों को उप्परा (लोनिया) कहते हैं। इनकी स्त्रियाँ नाक में दोहरी नथें पहनती हैं।"

"पुरी जगन्नाथ के मन्दिर में मुसलमानों के समान जोगी-जंगमों आदि शैवों का प्रवेश भी मना है। हिन्दुओं में भी धोबियों और चमारों का मन्दिर-प्रवेश निषिद्ध है।"

इन दो बातों का सम्बन्ध आन्ध्र से नहीं है! ये तो उड़ीसा की प्रथाएँ हैं! फिर भी चूँकि उड़ीसा आन्ध्र के सीमान्त पर है, इसलिए यह जानकारी अच्छी ही है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उड़ीसा में धोबी को चमार के ही समकक्ष समझा जाता है। आन्ध्र में धोबी की गिनती शूद्रों में तो है, पर अछूतों में नहीं!

तमिल प्रान्त में शूद्रों को विशेषकर चमार आदि को, अपमानित करने की रीति तथा उन्हें छूने और देखने तक की मनाही होने के कारण हजारों लोग ईसाई बन जाते हैं। पेदा पालेम और मैलापुर के गिरजाघरों में देशी ईसाइयों की भीड़ हम अपनी आँखों से देख सकते हैं।

विशाखापट्टन (वैजाग) के लोगों के सम्बन्ध में वीर स्वामी ने लिखा है :

१. पृष्ठ ३४३।

२. पृष्ठ ३४४।

३. पृष्ठ ३४४।

"यहाँ की स्त्रियों की नाक और आँखें बड़ी सुन्दर होती हैं। इससे वे बड़ी रूपवती दिखाई पड़ती हैं। लहँगे के ऊपर केसरिया परिधान पहनती हैं, और पैरों में कड़े डालती हैं।"[१]

हैदराबाद के सम्बन्ध में

"निजामाबाद जिले में आरमूर से छः मील की दूरी पर एक गाँव बालकोंडा है। हैदराबाद शहर छोड़ने के बाद गाँव-गाँव में तम्बलियों के घर दूध-दही खूब मिलने लगा है। इस प्रांत में तम्बली दूध-दही और फल-फूल मुहैया करते हैं तथा मन्दिरों और शादी-ब्याह में ढोल बजाते हैं। नाई मशाल जलाते हैं।"[२]

तेलगाम में धोबी मशाल जलाते हैं। यहाँ के धोबियों ने ही नाइयों को यह काम दिया है।

भाषा के सम्बन्ध में

कड़पा छोड़ने के बाद तमिल बोलने वाले बहुत कम मिलते हैं। तेलुगू बोली को ही राग के साथ सुर खींचकर बोलते हैं। उत्तर-सूचक वाक्यों को भी प्रश्न-सूचक बनाकर बोलते हैं। हिन्दुस्तानी शब्दों को मिलाकर तेलुगू बोलते हैं।[३]

ये बातें रायल सीमा के सम्बन्ध में कही गई हैं। उनकी राय में कड़पा आन्ध्र की दक्षिणी सीमा है। हैदराबाद के अन्तर्गत "आदिलाबाद से उत्तर की ओर दस मील पर 'मेकल गंढी' के नाम से एक पहाड़ी घाटी है। उसके बाद वरधा नदी पड़ती है। यही हैदराबाद की सरहद है। वरधा नदी के बाद नागपुर का इलाका शुरू होता है। नागपुर के सरहदी गाँवों में तेलुगु भी कुछ-कुछ बोली जाती है।"[४]

१. पृष्ठ ३३५।

२. पृष्ठ ४६।

३. पृष्ठ ४८-४६।

४. पृष्ठ ५६।

वैजाग प्रान्त के लोगों के सम्बन्ध में वीर स्वामी ने कहा है कि साधारणतया यहाँ की तेलुगू अच्छी है। लोग राग-युक्त बोली बोलते हैं। चुपके-चुपके भी बोलने का स्वभाव है। लिखावट शिकस्ता लिखते हैं। (तेलगू में इसे सकल लिपि कहते हैं। अर्थात् अक्षरों और शब्दों को परस्पर संकल की तरह मिलाते जाते हैं।) बोली इनकी मीठी है। दिल में बुराई पर भी तुले हों, फिर भी मुँह पर मीठी ही बात करेंगे।[1]

"गंजाम ज़िला आन्ध्र की एक ओर सीमा है। गंजाम के बाद कलिंग अर्थात् उत्कल आरम्भ होता है। आभूषण, सजावट, सगुन आदि की परिपाटियाँ भी दक्षिण से मिलती-जुलती हैं। छोटे-छोटे घरों के सामने भी दरवाजों पर चबूतरे बने होते हैं। यहाँ प्रत्येक स्त्री नाक में 'बुलाक' और 'नथ' लगाती है। पास ही में भालन नामक एक ग्राम है, जहाँ पर सभी लोग तेलुगू बोलते हैं।[2] ऐसी तेलुगू जो किसी को नहीं आती।" (अर्थात् बिगड़ी भाषा बोलते हैं।)

"दक्षिण में नेल्लूर आन्ध्र की एक ओर सीमा है। नेल्लूर में तमिल भाषा सुनने में आती है। इस इलाके की बोली में पश्चिम से कन्नड़ भाषा आ मिली है, दक्षिण से तमिल, और उत्तर से तेलुगू। यह दक्षिण-देश का मध्य-देश है। यहाँ पर तेलुगू, कन्नड़ और तमिल तीनों ही भाषाएँ घुल-मिल गई हैं। यहाँ के निवासी तीनों भाषाओं में टूटी-फूटी बातचीत कर सकते हैं।"

परिणाम यह है कि जब उन-उन भाषाओं के बोलने वालों से इनका सम्पर्क होता है, तो वे इनकी हँसी उड़ाते हैं।"[3]

मद्रास शहर और उसकी भाषाओं के सम्बन्ध में वीर स्वामी लिखते हैं :

"दो सौ वर्ष पूर्व (१६३० ई० के लगभग) चन्द्रगिरि में विजय-

१. पृष्ठ ३३५।
२. पृष्ठ ३१६।
३. पृष्ठ ३६३।

नगर के अधीश रंगराय का शासन था। उसी समय डे नामक अंग्रेज ने इस समुद्र-तट पर एक शहर बसाने के उद्देश्य से विजयनगर के राजा से इस इलाके के जमींदार दामर्ल वेंकटाद्रि नायुडू के नाम सनद प्राप्त की। वेंकटाद्रि से डे की दोस्ती थी, इसलिए उसकी इच्छानुसार वेंकटाद्रि नायुडू के पिता चेन्नप्पा नायुडू के नाम पर शहर बसाने का निश्चय किया गया। उनके जमींदार होने के कारण शुरू दिन से ही इस शहर का नाम 'चेन्नापट्टणम्' पड़ा। इससे पहले अँग्रेज इस बन्दरगाह को 'मदिरास' कहा करते थे। मदरास के बन्दरगाह पर अँग्रेजों ने शहर बसने के लिए इमारती लकड़ी लाकर उसका पहाड़-सा लगा रखा था। उन दिनों हालैण्ड वाले लकड़ी के ढेर को अपनी डच भाषा में मदार कहते थे। इसलिए इस जगह का नाम 'मदारैस' पड़ा। वही बाद में 'मदरास' हुआ।"[1]

"मदरास के लोग स्वभाव से चालाक तो हैं, पर साहसी नहीं! आरम्भ से ही यहाँ पर तेलुगू, कन्नड़ और तमिल-भाषी लोग मिल-जुलकर रहते आए हैं तथा संस्कृत सबकी धार्मिक भाषा है, जिसके कारण तथा पहले मुसलमानों का, और अब अँग्रेजों का शासन होने के कारण यहाँ के लोग सभी भाषाओं का स्पष्ट उच्चारण कर सकते हैं! यहाँ की स्त्रियाँ घमण्डी होने पर भी पुरुषों के हृदयों में जगह पाने की चेष्टा करती हैं! वे ऊपरी बनाव-सिंगार के प्रति श्रद्धा दिखाती हैं। भीतर से उनमें सचाई या साहस की न्यूनता दिखाई देती है।"[2]

तेलंगाणा

हैदराबाद राज्य के तेलुगू-अंचल तेलंगाणे के सम्बन्ध में वीर स्वामी ने अपने 'काशीयात्रा चरित्र' में रास्ते के गाँवों और शहरों के सम्बन्ध में जो दैनिक टीपें लिख छोड़ी हैं, उन्हें देखते हुए तेलंगाणे पर अलग से

१. पृष्ठ ३६६।
२. पृष्ठ ३७३।

लिखना जरूरी हो गया है !

हैदराबाद के अन्दर समस्थान कोल्लापुर तथा वनपर्ती के राजा आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। एक-दूसरे के गाँव पर हल्ला बोल-कर और लूट-पाट मचाकर वे गाँव-के-गाँव तबाह किये जा रहे हैं। ऐसे झगड़ों पर एक-दूसरे से मेल-मिलाप करवाने के बदले हैदराबाद के दीवान चन्दूलाल आदि आपसी झगड़ों को उल्टा बढ़ाकर तमाशा देख रहे हैं।[1]

यहाँ के जमींदार अपने ग्रामों और जमीनों के पूर्ण स्वामी हैं, वे उन जमीनों के काश्तकारों से ऐसा बुरा बरताव करते हैं मानो काश्तकार उनकी ब्याही बीवियाँ हों !

वीर स्वामी को ये शब्द लिखे सवा सौ साल बीत गए, किन्तु जागीरों के किसानों की दशा अब भी यही है। जागीरों की रैयत 'रैयत' नहीं 'सर्व रहित' है। उन्हें रैयत नहीं, बल्कि 'रहित' कहना चाहिए। जागीरदार इन 'रहितों' पर ऐसा दबदबा रखते हैं कि कोई पति अपनी पत्नी पर क्या रखेगा।

जागीरदारों के अत्याचारों के बारे में बिलग्रामी ने लिखा है :

"हर गाँव में जागीरदार व्यापारियों को सता-सताकर महसूल वसूल करते थे। परिणाम-स्वरूप सन् १८००-५५ के बीच सारा व्यापार बैठ-सा गया था।"

वीर स्वामी ने लिखा है :

'हैदराबाद के सब लोगों ने हाथ में हथियार लेकर बेचारे कमजोरों पर मार-काट मचा रखी है।[2] हैदराबाद शहर के अन्दर भी यदि कोई किसी को मार डाले, तो कोई पूछने वाला नहीं। यदि कोई व्यक्ति कोई पेड़ लगाये तो उसके फल खाने वाले वही होंगे, जो हथियारों को अपना आभूषण और अत्याचार को अपनी ख्याति का कारण बनाये हुए हैं।

१. पृष्ठ २४-५।
२. पृष्ठ ३४।

शान्तिपूर्ण शासन के अधीन रहने वालों के लिए हैदराबाद शहर में ठहरना या राज्य के अन्दर यात्रा करना खतरनाक होगा।"[१] (अन्त में रजाकारों ने जो कुछ किया वह सब इसी पुरानी नीति का परिणाम था।) "नागपुर के निवासी कृत्रिम स्वभाव के जरूर हैं, परन्तु हैदराबाद वालों की तरह बात-बात पर हथियार उठाने वाले नहीं हैं।"

बिलग्रामी साहब लिखते हैं : "उत्तर सरकारों में निज़ाम की जो जागीरें हैं, उनमें प्रजा पर बड़े अत्याचार किये गए हैं। पिंडरियों और मराठों के दल देश को लूट-मारकर बराबर कर देते थे।"[२]

"हैदराबाद राज्य के अन्दर प्रतिदिन चोरियाँ होती थीं। डाके पड़ते थे। रुहेलों के दल और चोरों की टोलियाँ गाँव-के-गाँव लूट डालती थीं। डाके डालने वाले अधिकांश रुहेले ही होते थे।"[३]

हैदराबाद राज्य की इस दुःस्थिति के कारण व्यापार एकदम ठप पड़ गया था। जागीरदारों के अत्याचारों से खेती तबाह हो गई थी। परिणाम यह हुआ कि अकाल-पर-अकाल पड़ने लगे और लोग मक्खियों की तरह मरने लगे।

जाने ब नाने—फ़ारसी में जान प्राण या प्राणी को कहते हैं और नान रोटी को। अर्थात् एक रोटी देने पर एक प्राणी मिल जाता था। सन् १६२९-३० ई० में बहुत बड़ा अकाल पड़ा था। उसी समय यह कहावत चल पड़ी थी। अर्थात् माता-पिता अपने प्यारे बच्चों को एक-आध रोटी के बदले बेच डालते थे। कुत्ते का गोश्त बकरे के गोश्त के नाम पर बिकता था। अकाल से लोग इतने मरते थे कि उनको जलाने या गाड़ने वाला तक नहीं मिलता था। लोग मुरदों की सूखी हड्डियों को पीसकर उसे आटे में मिला-मिलाकर बेचा करते थे। कहीं-कहीं तो मनुष्य ही मनुष्य को मारकर खा जाया करते थे। सन् १६५९ और

---

१. पृष्ठ ३६।

२. पृष्ठ २२-३।

३. पृष्ठ २-१६९

१६६१ ई० में फिर अकाल पड़ा।[१] सन् १७०२, १७१३, १७४६, १७६६, १७८७ और १७९३ ई० में तेलंगाणे में भारी-भारी अकाल पड़े। अकेले हैदराबाद शहर में ९०,००० भूखे अकाल के कौर बन गए। इतने तो गिनती के मरे। घरों के भीतर जो मरे उनकी किसी ने गिनती नहीं की। रायचूर में २००० जुलाहों के घर थे। अकाल शान्त होने पर उनमें से केवल ६ प्राणी बचे थे। सारा देश आदमी की खोपड़ियों से भरा पड़ा था। इसका नाम ही खोपड़ी-अकाल पड़ गया था।[२]

सन् १८०४ में फिर अकाल आया। उस समय रागी का अनाज, जो रुपये में साठ सेर बिकता था, रुपये का ढाई सेर बिकने लगा। कुछ ने तो मानव-मांस भी खाया।[३]

१८३१ में फिर अकाल पड़ा। माताओं ने मुट्ठी-भर अनाज के लिए अपने बच्चों को बेच-बेच डाला। लोग पेड़ों की पत्तियाँ खा-खाकर प्राण बचाने लगे।[४] अकाल प्रत्यक्ष काल बनकर आया। गली-गली में, रास्तों और सड़कों पर लाशें पड़ी रहती थीं।

अकालों के फलस्वरूप लोग भारी कर्जों में फँस गए। कर्ज देने में मारवाड़ी आगे थे। मारवाड़ियों के भी बाबा दूसरे लोग हैं, पर न जाने क्यों, कोई उनका नाम भी नहीं लेता। अरब और रुहेले हैदराबाद के अन्दर २५० साल से लोगों को कर्ज देकर इतना अधिक रुपया ब्याज पर वसूल करते हैं कि किसी ने कहीं देखा-सुना भी न होगा। आज भी वे ४०० सैंकड़े के हिसाब से सूद वसूल करते हैं। कर्जदार कर्ज न चुकाये तो जम्बिया भोंककर वसूल किया जाता था।

मारवाड़ी सेठ काश्तकारों से अनाज खरीदते और अपने यहाँ कोठों में भर रखते थे। अवसर पाकर उसे ऊँचे दामों में बेचते थे। उन दिनों

१. २-१६-७।

२. २-२५।

३. २-२९।

४. २-२९-४०।

मारवाड़ियों के सम्बन्ध में कहावत ही चल पड़ी थी कि लोटा-डोर लेकर मारवाड़ी नर्मदा पार करता, हैदराबाद पहुँचता और सूद-पर-सूद बाँधकर थोड़े ही दिनों में वह इतना अधिक धनी हो जाता था कि बैलगाड़ी पर सोना लादकर अपने देश मारवाड़ लौटता था।[1]

हैदराबाद के एक पुराने दीवान राय राजा राम्बा ने एक बार अरबों से कर्ज लिया। राजा राम्बा कर्ज न चुका सके। अरबों ने उन्हें इतना त्रास दिया कि राजा राम्बा निजाम की ड्योढ़ी में जा छिपे।[2] अरब जिसे कर्ज देते, उसे वसूली में कठोर यातनाएँ देते थे। बाकीदारों को वे अपने घरों के भीतर भूखे-प्यासे बन्द रखकर कर्ज़ वसूल करते थे। अरबों और पठानों ने जागीरदारों को कर्ज देकर ८० लाख की जागीरें अपने अधीन कर रखी थीं।[3] पुराने जमाने में अदालतें नहीं थीं। बनिये-बक्काल भी अपने कर्जे वसूल करने के लिए अरबों और पठानों को वसूली पर भेजते थे और वे जम्बिया तलवार दिखाकर वसूल कर लाते थे, अथवा कर्जदार को ही घसीट लाते थे। रुहेल और अरब अपने कर्जदारों पर चट्टानें लाद-लादकर शरीर पर गरम लोहे से दाग देते थे। बाकीदार कहीं भाग न जाय इस विचार से उस पर दो-चार पहरेदार बिठा देते थे और उससे कई गुना अधिक वसूल करते थे।[4]

हैदराबाद के अन्दर बच्चों को बेचने तथा सती की प्रथाएँ भी थीं। सन् १८५६ ई० में बच्चों के व्यापार को कानून से रोक दिया गया। सती की प्रथा भी सन् १८४८ में बन्द कर दी गई थी।

तेलंगाना में जमीनों को ठेके पर देने की प्रथा थी। ठेकेदार काश्तकारों से मनमानी रकमें वसूल करते थे और सरकार का हिस्सा देकर बाकी अपने पास रख लेते थे। जमीनों पर कोई निश्चित कर नहीं था।

१. २-५६।
२. २-५६।
३. २-११८।
४. २-१६३।

देशपांडे और देशमुख वसूली के जिम्मेवार थे। ये भूमि-कर के साथ-साथ करघा-कर, देहरी-कर, भेड़पट्टी, डेढ़पट्टी, जाति-कर, ब्याह-कर, मौत-कर, चाम-कर, हाट-बाजारी, आदमपट्टी (गैर-मुसलिम दस्तकारी से) आदि कोई २७ प्रकार के फुटकर कर प्रजा से वसूल करते थे।[1]

तेलंगाणे की कई अपनी दस्तकारियाँ थीं। अंग्रेजी माल के कारण तथा देश की अराजकता के कारण १८००-५० के लगभग देशी दस्तकारियों का पतन शुरू हुआ। वरंगल की दरी-कालीनें काकतीयों के पतन के बाद से ही प्रसिद्ध थीं। बीदर की बीदरी दस्तकारी वहाँ के सुलतानों के जमाने से ही फलती-फूलती आई थी। तेलंगाणा खासकर बारीक सूती माल के लिए मशहूर था। वरंगल की महारानी रुद्रमादेवी के समय पुर्तगाली यात्री मार्कोपोलो यहाँ का सूती कपड़ा देखकर भ्रम में पड़ गया था कि यह मकड़ी का जाला तो नहीं है। वरंगल की कालीनें १८५१ में लन्दन की प्रदर्शनी में रखी गई थीं। हैदराबाद राज्य में लोहा गलाकर फौलाद तैयार किया जाता था। वरंगल, कूनसमुद्र, दिर्दुति, कोमरपल्ली, निर्मल, जगत्याल, अनन्तगिरि, लिंगमपल्ली, निजामाबाद आदि स्थानों पर लोहे का काम होता था। निर्मल के निकट कूनसमुद्र में इस्पात तैयार किया जाता था। एलगंदल इब्राहीम पटम, कोनापुर, चितलपेट आदि स्थानों में भी पक्का लोहा बनता था। कूनसमुद्र में जिस कोटि का फौलाद तैयार होता था, उसके लिए ईरान वालों ने भी प्रयत्न किया, पर वे पार नहीं पा सके। हैदराबाद, गदवाल, वनपर्ती और कोल्हापुर में १८६० तक तलवारें, कटारें आदि तैयार की जाती थीं। एक तलवार की कीमत पाँच से लेकर पन्द्रह रुपये तक होती थी। खम्मम जिले के जगदेवपुर में तलवारों पर सोने का पानी चढ़ाया जाता था। गदवाल में बन्दूकें भी तैयार होती थीं। वनपर्ती, गदवाल तथा निर्मल में रुहेली बन्दूकें तैयार की जाती थीं। एक बन्दूक का दाम २० से लेकर ६० रुपये तक होता था। सूत व रेशम दोनों

१. २-५३।

मिलाकर मश्रू नाम के थान तैयार किये जाते थे। ये अधिकतर हैदराबाद और गदवाल में तैयार होते थे। टसर-रेशम वरंगल, नारायणपेट, मठवांडा, हसनपर्ती, करीमनगर, माधवापुर आदि में तैयार होता था। इन्दूर (निजामाबाद) आदि मेदक हैदराबाद, कोयलकुण्डा (महबूबनगर) में देशी कागज़ बनता था।[1]

वीर स्वामी अपनी 'काशीयात्रा' में लिखते हैं :

"कडपा जिले में एक गाँव दुव्वूर है। दुव्वूर से आगे हर गाँव में कोंडाकरमा जाति के लोग कच्चे लोहे के कंकरों से लोहा तैयार करते हैं।"[2]

'गुण्टूर जिले के वेटा पालेम में एक हजार जुलाहे रहते थे। वे चादरें, रूमाल, साड़ियाँ, धोतियाँ आदि तरह-तरह के कपड़े बुनकर सभी प्रदेशों को भेजा करते थे।"[3]

'वेमुलवाडं के निकटवर्ती एक ग्राम बालकोंडा में गंजीफे (ताश) के पत्ते आदि तैयार करके हैदराबाद भेजते हैं। इस गाँव में अनेक जीनगरों के घर हैं।"[4]

"निर्मल के थाली-गिलास आदि बरतन देश-भर में प्रसिद्ध हैं। इस गाँव में बहुत-से कसेरों के घर हैं।"[5]

आगे लिखते हैं :

"हैदराबाद में सभी बड़े-बड़े लोग पान खाया करते हैं। बालकोंडा में पान के बगीचे हैं। कडपा से, निजामाबाद से आगे गोदावरी नदी तक, कच्ची सुपारी बिकती है। इस प्रान्त के गरीब लोग तो अधिक पान नहीं खाते, पर सुपारी-मात्र चबाते रहते हैं। शूद्रों के हाथ का हुक्का

१. बिलग्रामी १—पृष्ठ ३६५-४२५।
२. पृष्ठ ६।
३. 'काशी यात्रा', ३५५।
४. वही, ४६।
५. वही, ५०।

अन्य लोग भी पिया करते हैं। हैदराबाद शहर में फल मिलते तो हैं, पर मद्रास से तिगुने दाम देने पड़ते हैं। इसी तरह सब्जी-तरकारी भी यहाँ मँहगी है। पर है बड़ी स्वादिष्ट।"[१] "जहाँ तक सब्जी-तरकारियों का सम्बन्ध है, मैं कहूँगा कि मैं इतने प्रान्तों में घूमा, पर कहीं भी हैदराबाद के समान स्वादिष्ट सब्जी नहीं खाई।"[२]

"आजकल हिन्दू-मन्दिरों और स्वयं हिन्दुओं की दशा अति शोच-नीय है। हिन्दुओं में जात-पाँत का भाव पागलपन की सीमा तक पहुँच चुका है।" मदरास शहर के सम्बन्ध में वह कहते हैं कि "यहाँ चारों ओर के लोग आकर बस गए। उनमें दक्षिण और वाम के नाम से दो पक्ष हो गए हैं।" ये पक्ष अंग्रेजों के हक में कष्टदायी बने।[३] "मन्दिरों की आय को अंग्रेज और मुसलमान नवाब अपने-अपने इलाकों के अन्दर आप ही ले लेते हैं। बालाजी वेंकटेश्वर भगवान् को भक्तों की ओर से भेंट-स्वरूप जो धन मिलता है, उससे ईस्ट इंडिया कम्पनी को लगभग एक लाख रुपये सालाना की आमदनी होती है।"

"बालाजी पर्वत पर चाहे कोई भी शुभ कार्य करो, सरकार को कर देना पड़ता है।"[४] "'अहर विलम' में उत्सव के अवसर पर ४०० वरहा (डीनार) की वसूली होती है। कन्दकूर का नवाब वह सारी रकम ले लेता है, किन्तु मन्दिर की मरम्मत के लिए कुछ नहीं करता।"[५] "इसी प्रकार श्री शैलेश्वर मन्दिर से सालाना १८००० रुपये कन्दकूर के नवाब को मिल जाता है। पर वह देखता तक नहीं कि मन्दिर की क्या दशा हो रही है।"[६]

१. 'काशी यात्रा', पृष्ठ ३४।
२. वही, २-७४।
३. वही, ३७०।
४. वही, ४।
५. वही, १०।
६. वही, २०।

"हैदराबाद शहर के चारों ओर बड़े-बड़े टीले बने हैं। हर टीले पर एक मसजिद जरूर बनाई गई है। हिन्दुओं के मन्दिर नहीं हैं। यदि हैं भी, तो उनकी उन्नति हो नहीं पाती।"[1]

इंवलवाई पहुँचा। वहाँ रामचन्द्र जी का मन्दिर है। इस नवाबी राज्य में यह जगह मानो अंगीठी में पैदा हुए कमल-जैसी है। बालाजी तिरुपति छोड़ने के बाद राजोपचार के साथ पूजा-आराधना की व्यवस्था वाला मन्दिर एक यही देखने में आया है। मेरे विचार से ऐसे मन्दिर और कहीं हैं ही नहीं।"[2] "इस प्रकार अंग्रेजों और कर्नूल तथा हैदराबाद के नवाबों के कारण हिन्दुओं की दशा गिरती ही गई। उसके साथ स्वयं हिन्दुओं में ही जाति-बहिष्कार, ऊँच-नीच और नये-नये दुराचारों का बोल-बाला है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्य और मठाधीश आजकल पता नहीं कहाँ छिपे बैठे हैं। शंकर, रामानुज, माध्व आदि आचार्यत्रय के बाद उनकी गद्दियों पर विराजमान होने वाले का नाम तक सुनाई नहीं पड़ा, काम की कौन कहे। ऐसे घोर अन्धकार के युग में भी कुछेक तत्त्वज्ञानियों ने समाज-सुधार की भरसक चेष्टा की। ब्रह्मानन्द योगी, कम्बगिरि, इन्द्रपोनी ब्रह्मन्न चिन्नूर नरसिंहदास, वरनारायणदास, परशुराम नरसिंहदास, आदिकेशव बीरस्वामी, शिवयोगी, ताटे गजेन्द्र अगप्पा आदि ने इस अन्धकार से पीड़ित जनता में तत्त्वज्ञान का प्रचार किया।"

"कर्नूल के नवाबों ने धार्मिक पक्षपात के वशीभूत होकर अनेक मन्दिरों को मसजिदों में परिवर्तित कर दिया था। खास कर्नूल में बड़े-बड़े मन्दिर-मसजिद बना दिये गए। कुछ हिन्दुओं को भी बलात् मुसलमान बनाया गया। शिवाजी ने महाराष्ट्र में कई मुसलमान हो चुके हिन्दुओं को शुद्ध करके फिर से हिन्दुओं में मिला लिया। सन् १७५६ में बसावतजंग ने चिन्नातिम्मन्न को 'पतिकोंडा' जागीर में दे दिया। कर

१. 'काशी यात्रा', पृष्ठ ३५।

२. वही, ४३।

चुकाने की शक्ति न होने के कारण तिमन्नं ने अपनी पत्नी तथा पुत्रों को बसालतजंग के यहाँ (धरोहर) छोड़ रखा। बसालतजंग ने उस स्त्री तथा बच्चों को जबरदस्ती मुसलमानों के हाथ का खाना खिलाया और मुसलमान बना दिया। जब यह खबर मराठा पेशवा को मिली तब पेशवा ने उन्हें वापस मँगवाया। तब भी बसालतजंग की बेगम ने एक बच्चे वासप्पा को अपने ही पास रख लिया। उसका नाम बदलकर रहमत अलीखाँ रखा और उसे अपने बेटे का दीवान बना दिया।"[1]

इस्लाम का प्रचार अब घटने लगा था। ईसाई धर्म बढ़ने लगा था। ईसाइयों ने मुसलमानों की तरह तलवार या बन्दूक से धर्म का प्रचार नहीं किया। इसके लिए उन्होंने विविध उपाय जरूर रचे। ईसाई पादरी नियुक्त किये, जो गाँव-गाँव घूमकर धर्म का प्रचार करते थे। ये पादरी भारत-भर में फैले हुए थे। जो जिस प्रान्त में रहता वह वहाँ की भाषा सीखता और अपनी 'इंजील' का उस भाषा में अनुवाद करता। इस प्रकार सभी भारतीय भाषाओं में 'इंजील' के अनुवाद छप चुके थे। लोगों में उन्हें मुफ्त बाँट दिया करते थे। पादरियों ने जंगलों के अन्दर भील, संथाल, मुण्डा, गोंड, कोया, तोडा, नागा आदि जातियों के साथ रहकर, उनके साथ घुल-मिलकर, उनकी भाषाएँ सीखकर, अपने धर्म का प्रचार किया। उन्होंने उन जंगली भाषाओं के व्याकरण तथा पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं। इस प्रकार उन जातियों के साथ-साथ उनकी भाषाओं का भी उद्धार किया।

इन मिशन वालों ने शुरू से ही हिन्दुओं के धर्म तथा आचार-विचार के प्रतिकूल प्रचार किया। हिन्दुओं की जात-पाँत से, विशेषकर छूत-छात से ईसाइयों ने खूब लाभ उठाया। लाखों अछूतों को ईसाई बना लिया। इसमें उनका क्या दोष ? यह तो हिन्दुओं का ही दोष है कि उन्होंने छुआछूत अपनाकर अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मार ली। पाप का फल तो भोगना ही होगा। भोग रहे हैं। ईसाइयों ने यह दुष्प्रचार

१. कर्नूल मैनुअल।

किया कि हिन्दू असभ्य हैं, वे भूत-प्रेत को पूजते हैं, स्त्रियों को गुलाम बनाये रखते हैं, भ्रूण-हत्या का घोर पाप करते हैं, मूढ़ विश्वासों के शिकार हैं, हिन्दू धर्म में कोई सार नहीं है, इत्यादि-इत्यादि……। मेकाले के समान महान् विद्वान् तक ने कह डाला कि हिन्दुओं के वेद 'ईसप फेबल्स' के पासंग में भी नहीं उतर सकते।

ऐसे गाढ़ान्धकार और घोर विपत्ति के समय बंगाल के अन्दर राजा राममोहन राय खड़े हो गए। उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की और हिन्दू धर्म के अन्दर प्रचलित बहुत-सी बुराइयों को जड़-मूल से खोद फेंकने की चेष्टा की! आंध्र देश के अन्दर भी वेमना, वीरब्रह्मम् योगंटय्या आदि योगिराजों ने तेलुगू जाति के दुराचारों, जात-पाँत, परस्पर-विद्वेष आदि त्रुटियों का जोरों से खंडन किया।

किन्तु यहाँ के धर्माचार्यों ने इन ५०० वर्षों के बीच कुछ भी नहीं किया।

अराकता

मुगल गिरे, मराठे उठे। माधो जी सिंधिया ने मुगल बादशाह को अपना कैदी बनाकर दिल्ली में हिन्दू-राज्य की स्थापना की, जो थोड़े दिनों ही सही, रहा जरूर। इतने में अंग्रेज तीर की तरह बंगाल-बिहार होकर अवध की ओर बढ़ने लगे। उधर बंगाल से उड़ीसा-मदरास तक उनका आधिपत्य था। बस मराठे ही बाकी बच रहे थे। माधोजी सिंधिया महाराष्ट्रों में सर्वश्रेष्ठ सेनानी था। अँग्रेजों की युद्ध-नीति को समझकर उसने अपने पुराने मुग़लई तरीकों को एकदम बदल दिया। डिबायिन नामक एक फ्रान्सीसी सेनानी के नेतृत्व में उसने सेना को नये ढंग की शिक्षा दी और प्रबल प्रतिद्वन्दी बन बैठा। परन्तु १७९४ में माधोजी सिंधिया की मृत्यु हो गई। मराठों में फूट पड़ गई। आपसी वैर बढ़ने लगा। मराठों का साम्राज्य फैला तो अच्छा था, किन्तु मराठे भी लूट-मार पर ही निर्भर रहते थे। इस कारण वे जनता का विश्वास नहीं पा

सके। राजपूतों से दोस्ती के बजाय उन्होंने लड़ाई मोल ली। इस प्रकार औरों को भी दुर्बल किया और आप भी कमजोर पड़ गए। इन तमाम कारणों से १८१३ के बाद मराठे मैदान खाली कर गए। मराठा सेना के बहुत सारे सैनिक अपनी परम्परा के अनुसार लूट-मार को अपनाये रहे। यही पिंडारी कहलाये। ये पिंडारी इधर तेलंगाणा, उधर रायल सीमा और उत्तर सरकारों तक एक-सी लूट-मार का बाजार गरम किये रहे। दो-दो सौ की टोलियों से लेकर पाँच-पाँच हजार की भीड़-सी पलटनें बनाकर टिड्डी-दल की तरह बस्तियों में घुस पड़ते और उनका विध्वंस करके नौ-दो ग्यारह हो जाते! वे लादने-ढोने की झंझटों से बरी थे। रुपया-पैसा सोना-चाँदी-जैसी कीमती चीजों पर ही हाथ मारते थे। बरसात की तरह हर साल उनका दौरा हुआ करता था। फसलें कब तैयार होंगी, इसका पता किसानों से पहले पिंडारियों को हो जाता था। ठीक कटाई पर पहुँच जाते और सारा समेटकर चंपत हो जाते।

अंग्रेज बंगाल-बिहार की लूट-मार में मग्न थे। जब तक पिंडारी अँग्रेजी इलाकों से दूर रहे, तब तक उन्हें इनकी चिंता न थी। पिंडारी पूरे पचास साल तक बे-खटके लूट-पाट करते रहे। प्रजा की सुध लेने वाला कोई न था। जहाँ जैसे जिसकी समझ में आया; गाँव वाले मिल-मिलाकर अपनी-अपनी रक्षा करने की चेष्टा करते रहे। आन्ध्र के ग्रामों का पुराना रूप ही बदल गया। गाँव के चारों ओर बुर्ज बनाकर उनके बीच बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करके एक गढ़ी-सी बना लेते और एक जगह गाँव का बड़ा फाटक बना लिया जाता। फाटकों और बड़े दरवाजों में लोहे की पट्टियाँ और नुकीले सींखचे जड़कर अन्दर की ओर बड़ा-सा लोहे का अड़गड़ा लगा लिया जाता। अँधेरा होते-होते ढोल-नगाड़ा बजता, और लोग गाँव की चहार-दीवारी के अन्दर अपने-अपने घरों में पहुँच जाते। फिर फाटक बन्द कर दिया जाता। फाटक पर रात-भर तलार (चौकीदार) पहरेदार बेगार सेत-सिंधी रतजगे करके पहरा देते। पिंडारे तो दिन-दहाड़े धावा बोलते थे। बुर्ज इसीलिए बने थे कि उन पर

दिन में भी पहरेदार रहते थे । दूर से ही गर्द उड़ती देखी नहीं कि नगाड़ा बजा दिया । लोग खेतों से काम छोड़कर गाँव में आ जाते और फाटक बन्द कर दिया जाता । बुर्जों के ऊपर से और दीवारों के पीछे से वे पिंडारियों का मुक़ाबला करते ।

सन् १८१४ ई० में पिंडारियों के पास २१०००घुड़सवार, १५००० पैदल और अठारह तोपें थीं । १८१६ ई० में उन्होंने उत्तर सरकार में साढ़े ग्यारह दिनों के अन्दर ३३९ गाँवों को लूट लिया था । छै-सात हजार व्यक्तियों को मार-पीटकर अधमरा करके छिपाये हुए धन का पता लगाया था । उनकी मार विशेषकर गुण्टूर पर पड़ी थी । पिंडा-रियों की क्रूरता को सहने की ताब न हो सकने के कारण सैकड़ों घराने अपनी झोपड़ियों में आग लगाकर आप ही अपने बाल-बच्चों समेत जल मरे थे । सैकड़ों स्त्रियाँ पिंडारियों के बलात्कार को सहन न करके कुओं में कूदकर डूब मरी थीं । तीन-तीन चार-चार युवतियों को एक साथ गट्ठड़ बाँधकर पिंडारी घोड़ों की पीठ पर ले उड़ते और उन्हें दासी बनाकर बेचते । चंद बच्चे जो बच निकले उसीसे अँग्रेज बहादुर को इसकी खबर मिली ।[1]

पिंडारी स्त्रियों का मान-भंग स्वयं उनके पतियों की आँखों के आगे कर डालते थे । जो माल अपने साथ ले जा सकते, ले जाते; पर जो उनके काम का न होता, उसे भी नष्ट-भ्रष्ट करके बेकार कर डालते थे । जो व्यक्ति अपना छिपाया हुआ धन तुरन्त न बतलाता, उसके मुँह पर गरम-गरम राख की थैली बाँध देते और कुटम्मस शुरू कर देते । दम घुटकर मरने से जो बच जाते, वे भी अधिक दिन जीवित न रहते । लोगों को जमीन पर चित लिटाकर सीने पर तख्ते चढ़ाकर उस पर कई पिंडारी खड़े हो जाते और कूदा-फाँदा करते थे । इस प्रकार उनके अमानुषिक कृत्यों का कोई अन्त न था । पिंडारियों में अधिकतर मराठे ही थे । वैसे मुग़लों की सेनाओं से हटे हुए सिपाही भी उनमें शामिल हो गए थे ।

१. R. Villams पृष्ठ १४१-३

मुसलिम पिंडारियों की बीवियाँ भी उनके साथ चलती थीं। उनकी पोशाकें हिन्दू स्त्रियों की-सी होती थीं और वे हिंदू-देवताओं की पूजा करती थीं। वे बुरका नहीं ओढ़ती थीं। सम्भवतः वे पहले हिन्दुओं की ही पत्नियाँ थीं, जिन्हें मुसलमानों ने हथिया लिया था। नहीं तो वे ऐसी हिंदुआनियों की संतानें थीं। वे घोड़ों पर सवारी करती थीं और खुली घूमती थीं। उनके गठे शरीर मर्दों को भी मात करते थे। वे साक्षात लंकिनी-सी थीं। पुरुष पिंडारियों से भी वे पिंडारिनियाँ अधिक कठोर होती थीं। उनके दिलों में दया-धर्म का लेश भी नहीं था। स्त्रीजनोचित गुण तो उनमें नाम-मात्र को भी नहीं थे। इसलिए उन स्त्रियों को देखते ही अच्छे-अच्छे मर्द काठ के पुतले बनकर खड़े-के-खड़े रह जाते थे। काटो तो खून नहीं।

फिर पिंडारियों ने अंग्रेजी इलाकों पर हाथ डालने शुरू किये। उस समय के गवर्नर लार्ड हेस्टिंग्ज ने एक लाख बीस हजार की सेना को एक साथ चलाकर पिंडारियों को चारों ओर से घेर-घेरकर मारा।

पिंडारियों से पिंड छूटा, पर एक और बला आ पड़ी। यह बला ठगों की टोलियों की थी। यह भी एक पुराना पेशा जान पड़ता है। तेरहवीं सदी में फीरोजशाह खिलजी ने एक हजार ठगों को सजाएँ दी थीं। तेलुगू में एक शब्द 'टक्कूरी' है, जिसका पुराना प्रयोग सन् १३०० ई० के लगभग नाचना सोमना की रचना में मिलता है। मराठी में यही 'ठक' है। दोनों भाषाओं के इन तीनों शब्दों के बीच कुछ परस्पर सम्बन्ध तो नहीं। पर इस शब्द के इतिहास का पता नहीं। अस्तु, यह पुराने पापी अब भी जीवित थे। वे स्वयं नहीं तो उन्हीं पापियों के पोते-परपोते ही तो थे। देश में अराजकता फैली तो फिर ये सिर उठाने लगे। इनमें हिंदू-मुसलमान सभी होते थे। सब-के-सब काली माता की पूजा करते थे। नये भरती होने वालों को आपस में इशारों से बातचीत करने की शिक्षा दी जाती थी। भेष बदल-बदलकर वे यात्रियों के साथ हो जाते और बीच जंगल में जाकर लूट लेते थे। उनके पास कोई विशेष हथियार

नहीं होते थे। दो हाथ की एक फँसरी ही उनकी सब-कुछ होती थी। गले में फंदा डालकर खींचना काफी था कि दो सेकंड के अंदर ही प्राण-पखेरू उड़ जाते। कहा जाता है कि कभी बहुत बड़े नामी फकीर हज़रत निजामुद्दीन औलिया भी सन् १४०० में किसी ठग-टोली में शरीक थे। धनी महाजनों और जमींदारों से इनका मेल-जोल रहता था। मिल-जुलकर अपने हिस्से बाँट लेते थे। ठगों का उपद्रव उत्तर भारत में अधिक था, किन्तु दक्षिण भी उनसे बचा न था। आंध्र के एपल सीमा के अंचल में, और उससे भी बढ़कर हैदराबाद के कारवान सराय, चन्नरायनगुट्टा शालींबडा आदि में ठग बसा करते थे, और मुसाफिरों का पीछा करके उन्हें मार डालते थे। निजामाबाद और आदिलाबाद की तरफ उनकी धाक और भी अधिक थी। मेडोज टेलर ने 'कनफेशंस ऑफ ए ठग' नाम से ठगों का वृत्तांत लिखा है। उसने लिखा है कि अकेले अमीरअली ठग ने ७१९ जानें ली थीं। यह ठगों का सरदार था। १८३१-३७ में स्लीमन नामक एक अंग्रेज ठगों की जाँच करने के लिए नियुक्त होकर भारत आया था। उसने ३२६६ ठगों को गिरफ्तार कर लिया और उनमें से अधिकतर को फाँसी पर लटका दिया।

ठग भी गये। पर खुद बिलग्रामी ने लिखा है कि तेलंगाणे में डाकुओं और चोरों का बोल-बाला था। रोहिलों और अरबों ने तो इसे अपना पेशा ही बना रखा था। इसलिए अंग्रेजी राज में अमन हो जाने-मात्र से हैदराबाद के आंध्र को शान्ति नहीं मिली।

पंचायत-सभाओं का विनाश

राज्य मिटें, साम्राज्य बदलें, पुराने राजवंश जायँ, नये राजा अपना नया राज कायम करें, ऊपर चाहे कुछ हो; पर नीचे के ग्रामवासियों को उसकी चिन्ता नहीं थी। उनकी पंचायतें बनी रहें, बस यही उनके लिए काफी था। पंचायत राज ही उनके लिए रामराज था। पंचायतों में कभी कुछ अन्याय भी होता था। यदि ऐसा न होवे तो पंचायत और

स्वर्ग में अन्तर ही क्या रह जाता? किन्तु उससे गाँव की व्यवस्था अस्त-व्यस्त नहीं होती थी। मानव-मात्र में त्रुटि होती है। पंचायतों में दोष रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी पंचायतें अंग्रेजों की अदालतों से हजार गुनी अच्छी थीं। तमिल देश के अंदर गाँव-गाँव में साल-साल में ग्राम-पंचायतों के पंचों का चुनाव होता था। यही पंच सभी फौजदारी और दीवानी के झगड़े तय करते थे। मालगुजारी वसूल करते थे, गाँव की सफाई रखते थे, नाटक-संगीत आदि के आयोजनों का प्रबन्ध करते थे। अंग्रेज हमें हराकर समझाने लगे कि हम असभ्य हैं, जंगली हैं, हमारी विद्या निकम्मी है। हमारा धर्म, आचार-विचार सब पाखंड है। इतना ही नहीं, अपनी हकूमत के साथ-साथ अपनी सभ्यता, अपनी शिक्षा और अपने पाश्चात्य विधान को भी हमारे सिरों पर थोप देने का निश्चय उन्होंने कर लिया। इसलिए सबसे पहले तो उन्होंने हमारी ग्राम-पंचायतों को तोड़ दिया और उनकी जगह अपनी छोटी-बड़ी अदालतें और सर्वोच्च न्यायालय खड़े किये। अदालतों के साथ टिकट-स्टाम्प, गवाही-साखी, सफर और सफर-खर्च, धर्म और वकील और उनकी दलील, कानून और उसकी बारीकियाँ, फीस और घूस आदि सब बुराइयाँ आईं और खूब बढ़ीं। पर न्याय नाम-मात्र को भी नहीं रहा। पंचायतों के साथ हमारा न्याय-धर्म भी नष्ट हो गया। पंचायतों में जहाँ झगड़ा होता, वहीं उसकी सुनवाई होती थी। सबके सामने होती थी। इसलिए झूठ, धोखा या बेईमानी की गुन्जाइश कम थी। झूठी कसमें खाने पर लोगों को वंश-नाश का डर लगा रहता। पंचायत के आसन पर बैठते ही पंच समझते मानो भगवान् के सामने बैठे हैं। 'पंच परमेश्वर' कहावत ही बन गई। अब ग्राम-पंचायतों को पुनर्जीवित करने की चेष्टा तो की जा रही है, किन्तु जब समाज का संगठन ही बदल गया है। अब इन पंचायतों को उन पुरानी पंचायतों की तरह सफलता मिल सकेगी, इसकी आशा हमें बहुत कम है।

जमींदारी और रैयतवारी विधान से भी गाँव की सामुदायिक कृषि

का ह्रास हुआ। मेन नामक अंग्रेज लेखक ने हमारी प्राचीन सामुदायिक व्यवस्था पर सुन्दर ग्रन्थ लिखा है।

हैदराबाद के अन्दर तेलंगाना और मराठवाड़ा में भी गाँव-के-गाँव नीलाम बोलकर ठेके पर दिये जाते थे। ठेकेदार ही रकम वसूल करके सरकार का हिस्सा दे देता और बाकी अपने लिए रख लेता था। इन्हीं ठेकेदारों से वनपर्ती-जैसे समस्थान (जागीर) बने हैं। फिर १८४० में सालार जंग अव्वल ने मौजूदा जिलाबन्दी की दागबेल डाली।

अराजकता के कारण इस युग में आन्ध्र चित्र-कला तो लगभग समाप्त हो गई। प्राचीन चित्र अब उपलब्ध नहीं हैं। वेपात्ती की खुदाई में कुछ शिल्प-कलाएँ शिथिलावस्था में प्राप्त हुई हैं, जो अति सुन्दर भी हैं। उनकी अपनी विशेषता भी है। काकतीय तथा विजयनगर के कोई चित्र हम तक पहुँचे ही नहीं। मुसलमानों ने अपनी विजय के साथ ही उन्हें नष्ट कर डाला। वेमना के पद्यों से ज्ञात होता है कि उस समय के चित्र-कार 'इंगलीक' की सहायता से चित्रों के लिए रंग तैयार करते थे। प्राचीन चित्रकारों के नाम तक हम नहीं जानते। चित्रकार-घराने भी राजघरानों के साथ गिरते गए। बचे-खुचे चित्रकारों ने बचे-खुचे छोटे राजा-जमींदारों के पास आश्रय लिया। मुग़ल चित्र-कला-पद्धति ही भारत-भर में फैल गई। तेलुगु चित्रकारों ने भी उसीका अनुसरण किया। वेंकट-प्पय्या नामक एक चित्रकार ने समीक्षित काल में द्वितीय निज़ाम के दरबार को चित्रित किया है, जिसमें विविध प्रकार के रंगों पर सोने का पानी चढ़ा दिया गया है। उसकी मूल प्रति नवाब सालार जंग के म्यूजियम में है। यह चित्र एक अँग्रेजी मासिक पत्र 'पिकटोरियल हैदराबाद' में छपा था। उस पर वेंकटप्पय्या का नाम लिखा है। नाम से ही प्रकट है कि वह आन्ध्र था। उन्हीं दिनोंकुछ आंध्र चित्रकार कर्नूल के नवाबों के पास भी रहते थे। उनके चित्रों को देखकर चित्र-कला के आधुनिक विशेषज्ञों ने उसे 'कर्नूल कला' का नाम दिया है। सन् १८३५ ई० से कर्नूल के नवाबों का पतन हो गया। साथ ही उस चित्र-कला तथा उन चित्रकारों की भी समाप्ति हो गई। गद-

वाल में सन् १७६० के लगभग सोमनाद्री नामक एक वीर पुरुष हुआ है। पचास साल पहले तक उसके चित्रों को गदवाल में उतारा करते थे। कूची चीलपंख पर गिलहरी के बाल लपेटकर बनाया करते थे। आज से दो सौ साल पहले बने केशव स्वामी के मन्दिर की दीवारों पर पौराणिक चित्र उतारे गए हैं। किन्तु इन चित्रों की भी वही दुर्गति हुई, जो उस समय के दूसरे चित्रों की हुई। मन्दिर के अधिकारियों ने उन पर चूना, गेरू आदि पोत दिया। अधिकतर प्रान्तों में यह एक प्रथा-सी चल पड़ी थी कि पुराने चित्रों तथा शिल्पों पर चूना थोपकर उस पर गेरू तथा चूने की धारियाँ दी जाती थीं। गदवाल दरबार में कोई २५० साल पहले 'संस्कृत महाभारत' के उद्योग पर्व को लिखवाकर उसमें जगह-जगह सुन्दर चित्र बनवाये थे। वह प्रति आजकल रेड्डी हॉस्टल, हैदराबाद में रखी है। चित्र सुन्दर तो बने हैं, किन्तु उसमें भीष्म पितामह की शक्ल औरंगजेब से मिलती है और युधिष्ठिर की सम्राट् अकबर के चेहरे से। द्रौपदी को मुमताज महल का रूप दिया गया है और गान्धारी को अहल्याबाई का। मुग़ल शक्लों वाले पेद्दापुर राज्य के कुछ चित्रों को 'भारती' मासिक पत्र में प्रकाशित किया गया था। उनके देखने से भी मुझ पर यही प्रभाव पड़ा। बोब्बिली का इतिहास बहुत प्रसिद्ध है। यदि वहाँ के कुछ चित्र मिल सकें तो उन्हें प्रकाशित अवश्य करना चाहिए। यदि कहीं तांड्रव पापाराम चित्र प्राप्त हो सके तो वह अति मूल्यवान सिद्ध होगा। जितना भी लगे खर्च किया जाना चाहिए। उत्तर सरकार के राजाओं के पास से यदि पुराने चित्र, पुस्तकें, पोशाकें और इसी प्रकार की कुछ और वस्तुएँ मिल जायँ तो उनको प्राप्त करना चाहिए। कहते हैं कि हैदराबाद के राजा शिवराज बहादुर की डेवढ़ी, सालारजंग इस्टेट, पायगाहों आदि में बहुत सारे चित्र रखे हुए हैं। पिछले तीन सौ बरसों के अन्दर अनेक चित्र तो विदेशों में चले गए। बड़ी-बड़ी ड्योढ़ियों के चित्र चुराकर लोग उन्हें जुमेरात बाजार नामक चोर बाजार में कौड़ियों के मोल बेच लिया करते थे। आज भी हैदराबाद में सौ दो-सौ वर्ष पुराने

चित्र आदि कोशिश करने पर मिल सकते हैं। चाहिए लगन। पैसा भी चाहिए। इस चित्र-समृद्धि को देखते हुए हमें कहना पड़ता है कि हैदराबाद के अन्दर कला का अच्छा पोषण होता रहा है। तंजौर में कुछ चित्र प्रकाशित हुए हैं। वेमना, त्यागराय आदि महापुरुषों के दर्शन हमें इन्हींसे हो सके हैं।

कलमकारी रंगाई की चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। रंगाई का काम सारे आन्ध्र में होता था उत्तर सरकारों और उसमें भी कृष्णा जिले के बन्दर (मसूली पटम्) में रँगाई का बहुत अच्छा काम होता था। कलमकारी रंगाई में पक्के देशी रंगों से ही काम लिया जाता था। पिछले सौ-पचास वर्षों में जब से जर्मनी रंग के डब्बे सस्ते दामों मिलने लगे, हमारे यहाँ से रंग बनाने का रोजगार मिट गया है। सन् १९२० में प्रफुल्लचन्द्र राय ने 'देशी रंग' की एक पुस्तक प्रकाशित की थी। अब वह कितनों के पास है? हमारे रंगरेजों ने उसे देखा तक नहीं। रंगरेजी तो एक रोजगार का नाम है। रोजगार ही अब एक जाति होकर रह गई है। नाम तो रहा, पर उनका काम खत्म हो गया। कर्नूल में वह 'जीनगर' कहलाये। 'जीनगर' माने घोड़े की जीन तैयार करने वाले, पर तेलंगाणे और रायल सीमा के अन्दर रँगरेज़ काफी संख्या में हैं। वे नील, लाल और कत्थई आदि रंग तैयार करते हैं। रंगों में अबरक मिलाकर कपड़े में चमक पैदा करते हैं। यह कला मुसलमानों को अधिक प्रिय थी। धनी लोग सोने-चाँदी के पत्रों को रंगों में मिलाकर कपड़ा रँगवाते थे। रंगाई का कमाल यह था कि कपड़ा धोने पर भी वह चमक उतरती नहीं थी। पुरानी इमारतों में लकड़ी के खम्भों पर हम ताँबे, सीसे और जस्त की पोत अक्सर पाते हैं। रंग बाहर से ही आते हैं।

'हंस विंशति' की रचना हमारे इस समीक्षा-काल में ही हुई थी। इससे सामाजिक इतिहास में हमें कुछ सहायता मिलती है। राजाओं के साथ हमारे उत्तम कवि भी समाप्त हो गए। जो बचे थे वे तंजौर में जा बसे। किन्तु अंग्रेज़ों ने उस तंजौर को भी हड़प लिया। वे उत्तम साहित्य

के स्रष्टा तो नहीं रहे, किन्तु त्यागराय ने सारे दक्षिणा पथ में संगीत की एक जोत जगा दी। त्यागराय सन् १७५९ से १८५७ तक लगभग ८८ वर्ष की आयु तक जीवित रहा। वह तंजौर के ही निवासी थे। बालपन में वह आन्ध्र के प्रसिद्ध संगीताचार्य सोंटिवेंकटरमणय्या के पास अभ्यास करते रहे। त्यागराय सचमुच बड़े त्यागी थे, और भगवान् राम के भक्त थे। घर घर मधुकरी भिक्षा करके जीवन व्यतीत किया, पर उन्हें किसी राजा के आश्रय में रहना पसन्द नहीं किया। त्यागराय को तंजौर के राजा शरभोज ने तथा तिरुवांकुर (ट्रावंकोर) राजा ने भी अपने दरबार पर बुलाया था, पर वह नहीं गये।

इसी समय के लगभग कृष्णा जिले के नारायण तीर्थ नाम के एक आश्रमवासी संन्यासी हुए हैं। उन्होंने 'कृष्णलीला तरंगिणी' के नाम से संस्कृत में कुछ तरंगे लिखी थीं। वाविल्ला वालों ने इसे तेलुगु लिपि में पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया था। ये तरंगें जयदेव के प्रसिद्ध 'गीत गोविन्द' के गीतों से किसी भी दृष्टि से कम नहीं। देवनागरी लिपि में न होने के कारण उसे इतनी ख्याति प्राप्त न हो सकी। संस्कृत भाषा में है, इसलिए देवनागरी लिपि में उसका प्रकाशित करना हमारा धर्म है।

इन्हीं दिनों क्षेत्रय्य नामक एक व्यक्ति ने कुछ गीत लिखे। शृंगार रस से परिपूर्ण होने के कारण देश में उन गीतों का प्रचार अधिक नहीं हुआ। शृंगार में डरने की कौन-सी बात थी कि हमारे अधिकारी-वर्ग ने उस-जैसी वस्तु को प्रोत्साहन नहीं दिया ?

सारंग पाणी की रचनाएँ दो-तीन स्थानों में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें पाठ-भेद पाये जाते हैं। लेखक के पास के पचास-साठ वर्ष पूर्व के हस्तलिखित ग्रन्थ से इन मुद्रित ग्रन्थों में कुछ अन्तर है। इनके गीत भी बड़े सुन्दर हैं। गायन-कला को तंजौर में रघुनाथ राय के शासन-काल में विशेषकर अच्छा प्रोत्साहन मिला था। यही कारण है कि गीतों के लिखने वाले भी वहीं अधिक पैदा हुए। इतने उत्तम न भी हों तो भी उनका संग्रह करके प्रकाशित करना चाहिए।

लगभग इसी समय की एक कवयित्री 'मुद्दुपलिनी' ने 'राधिका स्वांतन' शीर्षक से एक काव्य की रचना की थी। कंदकूर वीरेश लिंगम्-जैसे समाज-सुधारक ने भी उसे शुद्ध शृंगार या भद्दा शृंगार कहकर उड़ा दिया। श्रीनाथ आदि कवि-सार्वभौमों से भी बढ़कर शृंगार तो उसमें कदापि न होगा। 'शृंगार ग्रंथ मण्डली' ने उनके अष्ट गीतों को प्रकाशित किया है। उनके सभी गीतों को एकत्र करके प्रकाशित कर देना चाहिए।

मुद्रण

कहा तो यही जाता है कि छापे का आविष्कार सबसे पहले चीनियों ने किया, पर इतिहास यह कहता है कि सोलहवीं शती में इंगलैंड-निवासी क्याक्सटन ने ही पहले-पहल छापे की ईजाद की। छापे से साहित्य में नवीन युग का आरम्भ होता है। भारत में प्राचीन काल से उत्तर में भोज-पत्रों पर और दक्षिण में ताड़-पत्रों पर लिखा जाता था। लोहे की एक कील से ताड़ के नाजुक पत्तों पर लिखना स्वयं एक कला है। फिर ताड़ के तार जैसे सीधे-सीधे चलते हैं उस पर गोल-गोल अक्षर ही टिक सकते हैं। इस प्रकार गोल-गोल सुन्दर अक्षर लिखने की एक कला बन गई। लिखने को तेलुगु में 'व्रयुटा' कहते हैं। इसीसे व्रायसम्-वृत्ति चल पड़ी। फिर धीरे-धीरे उसकी एक पदवी बन गई। लेखक को एक महाभारत लिखने में कम-से-कम छः महीने लग जाते थे। उसका मेहनताना भी कम-से-कम छः मन जवार जरूर हो जाती। एक-एक ग्रंथ-प्रति पर इतना भारी खर्च उठाने के लिए या तो धनी-मानी चाहिए या ऐसे विद्वान्, जो जीवन-भर रचना के साथ रात-दिन स्वयं लिख लिया करें। संस्कृत का एक श्लोक है, जो प्रायः प्राचीन रचनाओं के अन्त में लिख दिया जाता था। यह श्लोक इस बात को जताता है कि लिखने में कितना कष्ट उठाना पड़ता है :

भग्न पृष्ठः कटिग्रीवः, स्तब्ध-दृष्टिरधोमुखम् ।
कष्टेन लिखितम् ग्रन्थम्, यत्नेन परिपालयेत् ॥

(इस ग्रंथ को लिखने में पीठ टूटी है, सिर कमर तक झुक पड़ा है, दृष्टि स्तब्ध हो चुकी है। ऐसे कष्ट के साथ यह पुस्तक लिखी गई है। अतः जतन के साथ इसकी रक्षा करें।)

मुद्रण-कला के आगमन से इस अगाध कष्ट और अपार व्यय का अन्त हो गया। भारत में यह कला १५७७ ई० में आई। उस समय ईसाइयों ने केरल प्रान्त में 'इंजील' का मलयालम अनुवाद छापा। सन् १६७६ ई० में कोचीन नगर में तमिल भाषा का 'शब्द कोश' प्रकाशित हुआ। हमें तो पता नहीं, किन्तु कहते हैं कि तेलुगु व्याकरण भी छपा। सन् १८५६ ई० में काल्डवेल नामक अंग्रेज विद्वान् ने तमिल का अभ्यास करके फिर द्रविड़ भाषाओं के व्याकरण के नाम से 'भाषातत्त्व-शास्त्र' की रचना की। उस रचना में त्रुटियाँ निकालने वाले आज तो बहुतेरे हैं, किन्तु वास्तव में हमें उन काल्डवेल साहेब के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। विदेशी होकर भी उन्होंने यहाँ की भाषाओं का अध्ययन करके आज से सौ साल पहले—और सबसे पहले—हमारी भाषाओं पर एक व्याकरण-शास्त्र लिखा। उसी समय ब्रौन नाम के एक दूसरे अंग्रेज विद्वान् ने तेलुगु का अभ्यास करके, उसमें अच्छी विद्वत्ता प्राप्त की तथा एक 'आन्ध्र भाषा कोश' और एक 'व्यावहारिक कोश' तैयार किया। उन्हें प्राच्यदेशीय पुस्तकालयों का पिता कहना चाहिए। आज उनकी अपार कृपा से अगणित अपूर्व ग्रंथ हमें देखने को मिल रहे हैं। उस महान् विद्वान् की प्रशंसित पुस्तकों में 'वेमना शतक' का स्थल सबसे ऊँचा है। ब्रौन ने उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया था। इन्हीं दिनों मैकेंजी नामक एक अफसर ने प्रान्त भर के स्थानीय रिकार्डों को एकत्र किया। मुद्रण-कला के लिए प्रधान नगर मद्रास बना। आज भी तेलुगु की अच्छी छपाई के लिए मद्रास ही प्रसिद्ध है। उन्हीं दिनों गदवाल और वनपती के राजाओं ने अपने यहाँ छापेखाने खोले और तेलुगु की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन दोनों जगहों पर लगभग ८० वर्ष पूर्व छापे की कल पहुँच चुकी थी। यहाँ से तेलुगु भाषा का प्रशंसनीय कार्य

हुआ है।

अपने साहित्य के लिए मुद्रण-कला ने एक नवीन युग को जन्म दिया है। इसके कारण हमारी भाषाओं की दिन-पर-दिन उन्नति हुई है। न जाने कवियों ने मुद्रण-कला की प्रशंसा में एक भी पद्य क्यों नहीं लिखा। सुँघनी, बीड़ी, खटमल, मच्छर आदि पर लिखने वाले कवि यदि मुद्रण पर भी कुछ लिख डालते तो उनका क्या बिगड़ता? [इस विषय पर श्री मारेपल्ली, रामचन्द्र शास्त्री की 'तेलुगु तो बुट्टुपुलु' (तेलुगु के सहजन्मी) तथा काल्डवेल की 'ग्रामर ऑफ ड्रैवीडियन लैंग्वेजेज़' जरूर पढ़नी चाहिए।]

महान् परिवर्तन

मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दुओं में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। मुसलमान बादशाहों ने इस्लाम की व्याप्ति तथा हिन्दू धर्म के विनाश के लिए कुछ भी उठा नहीं रखा। सभी ने (अकबर ने भी) इसके लिए परिश्रम किया। हिन्दुओं की उन्नति में बड़े अड़ंगे डाले। जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगज़ेब ने मन्दिर बनाने तक की मंजूरी नहीं दी। यदि कोई नव-मुसलिम फिर से हिन्दू बनने की चेष्टा करता तो उसके लिए कठोर दंड की व्यवस्था थी और इसे रोकने के लिए नये-नये नियम बनाये गए थे। औरंगज़ेब ने तो उनकी पाठशालाएँ भी नहीं चलने दीं। गिनती के चन्द हिन्दुओं को छोड़कर बड़ी-बड़ी नौकरियाँ भी किसी हिन्दू को नहीं दी जाती थीं। इन सबका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं में कोई अधिक परिवर्तन नहीं हुए।

भारत में अंग्रेज 'भगवान् के दूत' बनकर आये। हमारे आचार-विचारों का खण्डन करके उन्होंने अपनी संस्कृति हम पर लादनी चाही। हमारी विद्याओं को निकम्मी बताकर उन्होंने अंग्रेजी को प्रोत्साहन दिया। अंग्रेजी जाने बिना नौकरी नहीं मिलती थी। अंग्रेजों ने भारतीयों की शिक्षा-दीक्षा पर कुछ खर्च नहीं किया। मेकॉले ने अपनी एक लम्बी-

चौड़ी रिपोर्ट पेश की कि अँग्रेजी को अनिवार्य करना चाहिए। गवर्नर जनरल हार्डिंग ने उसे स्वीकार किया। सन् १८५५ ई० में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में तीन यूनिवर्सिटियाँ खुलीं। भारतीयों ने फारसी को अलविदा करके अंग्रेजी का 'वेलकम' (स्वागत) किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हमारी विद्याओं को किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट किया था, इसकी जानकारी मेजर बसु की पुस्तक 'एजुकेशन अंडर दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी' से मिल सकती है।

इंगलिस्तान में भाँति-भाँति के वाष्प-यन्त्र बने। थल पर रेलें और जल में जहाज चलने लगे। डाक-तार का अमल शुरू हुआ। लेकिन इन सबको अंग्रेजों ने भारत में कोई तुरन्त चालू नहीं किया। काफी समय बाद ही ये चीजें आईं। वे इन चीजों को लाये भी, तो अपने व्यापार तथा सैनिक सुविधाओं को ही ध्यान में रखकर। "अनंशौ क्लीब पतितौ" की सूक्ति के आधार पर हिन्दुओं ने देशी ईसाइयों को मौरूसी हक से वंचित रखा। अंग्रेजों ने देखा कि इससे उनके ईसाई-धर्म के प्रचार में बाधा पड़ती है। तब उन्होंने सन् १८५६ में हुक्म जारी करके भारतीय ईसाइयों को मौरूसी हक़ दिलाया। कुछ सड़कें बनवाईं, कुछ नहरें खुदवाईं। सन् १८५३ ई० में तार के खंभे गाड़े। उससे कुछ पहले डाक-घर खुले। बड़े लाट डलहौजी ने रेलें चलवाईं। सन् १८५६ ई० तक रेल की २०० मील लम्बी सड़क बन चुकी थी।

सती की क्रूर प्रथा हिन्दुओं में प्रचण्ड रूप धारण किये थी। बिहार, बंगाल और राजस्थान में उसे घोर मान्यता थी। आंध्र में इसका इतना प्रकोप नहीं था। राजा राममोहनराय के प्रयत्नों से १८२९ में सती की प्रथा को कानून बनाकर निषिद्ध कर दिया गया। सभी प्रान्तों में जिलों का विभाजन हुआ। जो जिले पहले से ही बने थे उन्हें बनाये रखा। इस प्रकार धीरे-धीरे हम लोग आधुनिक युग में पग धरने लगे।

सन् १८५६ में डलहौजी इंगलैण्ड लौट गया। हिन्दू-मुसलमान, विशेषकर मुसलमान समझने लगे कि उनके सभी अधिकार छिन गए हैं।

राज गया, धर्म गया, रीति-नीति को आघात पहुँचा। इन सबके परिणाम-स्वरूप सन् १८५७ में भारतवासियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध घोर विद्रोह किया। हिन्दुस्तान की यह पहली जंगे-आजादी थी। हमारा साहित्य, हमारी कला, हमारी दस्तकारी, हमारे रोजगार सभी चौपट हो चुके थे। सन् १८५७ के विप्लव की विफलता ने अंग्रेजों को स्थायी रूप से सारे भारत का सम्राट् बना दिया। यह विद्रोह भारतीय इतिहास की मुख्यातिमुख्य घटना है! यहीं से हम आधुनिक युग में पदार्पण करते हैं।

इस अध्याय के मुख्य आधार

(१) अय्यलु राजुनारायणकवि-कृत **'हंस विंशति'**—इसमें आरम्भ से अंत तक 'शुक सप्तति' का अनुकरण किया गया है। फिर भी कुछ नवीन विषयों का समावेश है। यह कवि सन् १८०० के लगभग हुए हैं। मद्रास के वाविल्ला वालों ने इन्हें नेल्लूर-निवासी बताया है और राज मंत्री की श्रृंगार ग्रन्थ-मंडली वालों ने कर्नूल-निवासी। दोनों में से एक ने भी कोई प्रमाण नहीं दिये हैं। श्रृंगार-ग्रन्थ-मंडली की भूमिका श्रेष्ठ है। वाविल्ला वालों की भूमिका इतनी अच्छी नहीं है।

(२) गंडलूर नारसिंह कवि-कृत **'भाण्य दंडकमु'**—यह कवि सन् १८०० ई० के लगभग कर्नूल प्रान्त में हुए हैं। भाषा कर्नूली देहात की है। इस कविता में हास-परिहास के साथ गाली-गलौज भी है। इसे 'रामा एण्ड कम्पनी' ने प्रकाशित किया है। लेखक के पास ८० वर्ष पुरानी एक मुद्रित पुस्तक है। इस संस्करण में कई अंश अधिक हैं। पाठ-भेद भी हैं। दोनों का समन्वय करके टीका-सहित प्रकाशित करना जरूरी है।

(३) रमेशचंद्र दत्त-कृत **'इंडिया अंडर अर्ली ब्रिटिश रूल।'**

(४) विलियम स्मिथ-कृत **'ऑक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया।'**

(५) कूचिमंचि तिम्मा कवि-कृत **'कुक्कुटेश्वर शतक'**—इस कवि ने कई ग्रन्थ लिखे हैं। सभी पुरानी शैली के हैं। एक शतक हमारे कुछ

काम का है।

(६) 'गुव्वल चन्ना शतक' बड़ी उपयोगी रचना है।

(७) 'काशी यात्रा चरित्र'—एनुगुल वीर स्वामी ने तेलुगु साहित्य में नवीन पाश्चात्य पद्धति का प्रवेश कराया। उन्होंने अपनी काशी-यात्रा को डायरी के रूप में लिखा है। उनकी भाषा सौ वर्ष पूर्व की मदरासी तेलुगु है। यह पुस्तक हमारे सामाजिक इतिहास के लिए परमोपयोगी है।

(८) बिलग्रामी-कृत 'हिस्टोरिकल एण्ड डिस्कृप्टिव स्केचेज़ ऑफ़ दी निज़ाम्स डोमीनियन्स' दो खंड। यह बड़ा ही मूल्यवान ग्रन्थ है।

: ८ :

हिन्दुस्तानी तलवार

सन् १७५७ ई० के पलासी-युद्ध में हिन्दुस्तानी तलवार झुकी भर थी। सन् १८५७ ई० के संग्राम में वह टूट ही गई। सन् १९४७ में, हमारी वह पुरानी तलवार फिर सही-सलामत होकर हमारे हाथ लौट आई है। सन् १८५७ ई० के बाद अंग्रेजी साम्राज्य सारे देश में सुदृढ़ हो गया। १८५७ की घटना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तब से हम आधुनिक यंत्र-युग में प्रवेश कर गए हैं। पिछले सौ बरसों के इतिहास से हमारा शिक्षित समाज भली भाँति परिचित है। इसीलिए हमने इस अध्याय को बल्कि इस पुस्तक को १९०७ पर समाप्त करना ही उचित समझा। अर्थात् हम सन् १८५७ ई० के बाद से ५० वर्ष के सामाजिक इतिहास को इस अध्याय में संक्षिप्त रूप से कह डालने की चेष्टा करेंगे।

इससे पहले हिन्दुस्तान में इस्लाम का जो प्रसार हो रहा था, वह १८५७ के गदर के बाद रुक गया। अब अंग्रेज हमारे शासक थे। ईसाई होने के कारण वह अपने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे। जहाँ-जहाँ सुविधा देखी, उन्होंने ईसाई संस्थाएँ (मिशन) खड़ी कर दीं। पादरी विविध प्रकार के सेवा-कार्यों द्वारा लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने में लगे रहे। वे स्कूल-अस्पताल आदि खोलकर लोगों को मुफ्त पढ़ाने तथा दवाएँ बाँटने लगे। भारत की सभी भाषाओं में 'इंजील' का अनुवाद किया और छपी हुई सुन्दर बाइबिलें लोगों में मुफ्त बाँटीं। अधिकतर अछूत ईसाई बनते गए। आंध्र देश के अन्दर दो सौ वर्ष पूर्व

से ईसाई धर्म का प्रचार हो रहा था। उच्च जाति के जो लोग ईसाई बन जाते थे, वे स्वजाति और स्वधर्म को भुला नहीं पाते थे। गुंटूर में हजारों रेड्डी ईसाई हो गए, किन्तु ईसाई बनकर भी वे आज तक अपने मालें-मादिगें (चमार-पासी) ईसाई भाइयों से रोटी-बेटी का नाता जोड़ नहीं सके हैं। मजा तो यह है कि हिन्दू रेड्डी भी अपनी लड़कियों का विवाह ईसाई के साथ कर डालते हैं, पर ईसाई रेड्डी अपनी लड़की की शादी किसी हिन्दू के घर नहीं करता।

ईसाई पादरी और मिशनरी ईसाई-धर्म-प्रचार से ही संतुष्ट न रहकर हिन्दुओं के जात-पांत के विभेदों, उनके अन्ध-विश्वासों और उनके अनाचारों और पाखण्ड की पोल खोलकर स्वयं हिन्दुओं के अन्दर अपने धर्म और जाति के प्रति अनादर तथा अश्रद्धा की भावना उत्पन्न करने लगे। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी-शिक्षित हिन्दुस्तानी अपने धर्म से दूर होते गए और वे अपनी जातीय परम्पराओं के लिए लज्जा का अनुभव करने लगे। ऐसे निविड़-अन्धकार-निमग्न भारतीय गगन पर एक महापुरुष श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जगमगाते सूरज की तरह प्रत्यक्ष हुए। दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी का एक अक्षर नहीं जानते थे। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने वेद-शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। आधुनिक युग के अपूर्व द्रष्टा थे। उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना करके हिन्दुओं में आत्म-गौरव तथा आत्म-विश्वास का बीज बोया। उन्होंने बताया कि हिन्दुओं में जो पाखण्ड फैला हुआ है, वह प्राचीन नहीं है। हमारी रूढ़ियों का वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं। साथ ही उन्होंने इस्लाम तथा ईसाई धर्म की त्रुटियों को भी खोल-खोलकर बताया। उनकी आध्यात्मिकता के खोखलेपन को सिद्ध किया। परिणामस्वरूप हिन्दुओं के अन्दर स्वाभिमान की भावना जाग उठी। वे समाज-सुधार में जुट गए।

परन्तु आर्य-समाज का प्रचार आन्ध्र में, बल्कि सारे दक्षिण भारत में, नहीं के बराबर था। आर्य-समाज से पहले ही राजा राममोहन राय के ब्रह्म-समाज की शाखाएँ कृष्णा-गोदावरी के प्रान्तों में स्थापित हो

चुकी थीं। ब्रह्म-समाज का प्रचार बढ़ा तो नहीं, किन्तु उसकी भावनाएँ लोगों के दिलों में घर कर गई थीं। आन्ध्र देश के अन्दर ब्रह्म-समाज को अपनाने वालों में श्री कन्दुकूर वीरेशलिंगम् एक असाधारण व्यक्ति थे। प्रकाण्ड विद्वान् और महान् अनुभवी थे। 'वीराः पंडितकवयः' के न्यायानुसार उन्होंने हिन्दुओं के मूढ़ विश्वासों, पाखण्डी रूढ़ियों तथा वेद-विरुद्ध मूर्ति-पूजा के ऊपर चोटों पर चोटें कीं। स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों को रोककर, विशेषकर विधवा-विवाह के विरुद्ध मोर्चा लेकर उन्होंने अनेक विधवाओं के पुर्नविवाह करा दिये। अनेक विधवाश्रम खुलवाये। उनके प्रचार से आन्ध्र के अन्दर अपूर्व जागृति उत्पन्न हुई। पुरातनवादियों के लांछनों और दुर्व्यवहारों की परवाह न करके अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए वे अविराम प्रयास करते रहे।

हिन्दुओं के अन्दर पिछले एक हजार वर्ष से अर्थात् भारत में मुसलमानों के पदार्पण के बाद से, अनेक अनाचार फैल गए थे। बाल-विवाह का प्रचार, विधवा-विवाह का निषेध, सती-प्रथा, समुद्र-यात्रा पर रोक, जाति-बहिष्कार, भाग्य पर भरोसा, शुभाशुभ सगुनों का विचार, अछूतों पर अत्याचार, दृष्टि-दोष (खाने की वस्तु पर अन्य जाति की आँख पड़ने से छूत लग जाना), तान्त्रिक वामाचार इत्यादि सैकड़ों प्रकार की त्रुटियाँ हिन्दू-समाज में जड़ें जमा चुकी थीं। इन्हीं त्रुटियों के कारण हममें परस्पर-वैमनस्य उत्पन्न हुआ, सभ्यता-संस्कृति की अवनति हुई तथा रचनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित हो गईं। अन्त में राजनीतिक पतन भी हो गया। विद्वान् विचारकों ने सोचना शुरू किया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए सामाजिक सुधार ही असली साधन है। इससे देश-भर में समाज-सुधारक संस्थाओं की स्थापना होने लगी।

सामाजिक क्षेत्र में एक ओर यह सब तो हो ही रहा था, दूसरी ओर अर्थात् राजनीतिक क्षेत्र में, १८८५ में नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस का जन्म एक महत्त्वपूर्ण घटना है। जिस दिन कांग्रेस का जन्म हुआ, उसी दिन भारत के अन्दर आधुनिक राष्ट्रीयता का जन्म

हुआ। भगवान् ने भारत को अपनी कोई अनुसंधान-शाला तो नहीं बना लिया है। तरह-तरह के धर्म-मजहब, भाँति-भाँति की जाति-उपजातियाँ और भिन्न-भिन्न भाषाएँ यहीं तो पाई जाती हैं। वैदिक काल से लेकर भारत में अखण्ड राष्ट्रीयता की भावना ने कभी भी ऐसा रूप नहीं लिया था। इसलिए कांग्रेस की स्थापना को वास्तव में भारतीय राष्ट्रीयता का शिला-न्यास समझा जाना चाहिए। जिस प्रकार यूरोप में, जर्मनी में महान् फ्रेडरिक द्वारा, इटली में गेरीबाल्डी मैजनी द्वारा, फ्रान्स में १७८९ ई० की क्रान्ति से और संयुक्त अमरीका में सन् १७७६ से राष्ट्रीयता का उद्भव माना जाता है, उसी प्रकार भारत में कांग्रेस के जन्म से राष्ट्रीयता का उदय हुआ। आरम्भ में कांग्रेस समाज-सुधार के कार्यक्रम से अलग रही। अलबत्ता कांग्रेस-अधिवेशनों के साथ-साथ सामाजिक सम्मेलन भी अलग से हुआ करते थे।

ब्रिटिश शासन से भारत की आर्थिक हानि अत्यधिक हुई। हमारे उद्योग-धन्धे मिट गए। नये उद्योगों को विदेशियों ने यहाँ उगने ही नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि जनता का सारा बोझ खेती पर जा पड़ा, देश में अकाल पड़े और उनके कारण पचास लाख आदमी मरे। १८६० से १८७९ तक १६ अकाल पड़े और एक करोड़ बीस लाख जनता का हनन हुआ। १८६८ में दादाभाई नौरोजी ने अपने अनुसंधानों से सिद्ध किया कि मद्रास प्रान्त में लोगों की आय केवल १८ रुपये सालाना है। उत्तर अरकाट के कलक्टर ने लिखा था कि उस जिले में दरिद्रता का ताण्डव-नृत्य हो रहा है। नेल्लूर के कलक्टर ने लिखा था : **"जिले के डॉक्टर ने अपने विचार दिये हैं कि दंडित अपराधी जेल में रहकर अधिक स्वस्थ होते जा रहे हैं, क्योंकि उन्हें बाहर खाने को नहीं मिलता।"**

अनाज तथा खाद्य-पदार्थों की कीमतें बहुत कम थीं। कृष्णानिवासी एक वकील पेद्दि बोट्लें वीरय्यें ने लगभग २७ साल पहले 'आन्ध्र-पत्रिका' में लिखा था :

"आज से ९० वर्ष पूर्व का एक ऐसा पत्र मेरे देखने में आया है,

जिसमें मसूलीपटम की बाजार-दर लिखी हुई है। सन् १८६० ई० में मछलीबंदर में एक विवाह-समारोह के लिए सामग्री की खरीद के लिए जो चिट्ठा बना था, वह इस प्रकार है :

नाम वस्तु	दर	प्रमाण (तौल)
चावल	१—०—०	३२ सेर
अरहर	१—०—०	३१ सेर
मूँग	१—०—०	२२ सेर
उड़द	१—०—०	१९ सेर
मिर्च	१—६—०	एक मन
घी	४—२—०	एक मन
रेंडी का तेल	१—०—०	४ सेर
तेल	१—०—०	४ सेर
इमली	०—१३—६	एक मन
गुड़	०—११—९	एक मन
हल्दी	१—०—०	५ सेर
जीरा	१—०—०	६ सेर
मेथी	१—०—०	एक मन
नारियल	०—३—०	१० नारियल
लौकी	०—२—०	३ लौकी
लकड़ी	०—३—०	१५० कुन्दे
पत्तल	०—१—४	१००
पान	०—१—९	१०००
खीरा-ककड़ी	०—२—०	एक मन
बैंगन	०—२—०	एक मन
हींग	०—०—१०	एक तोला
चिवड़ा	१—०—०	१६ सेर
सूप	०—१—६	४ सेर

ताड़पात के डलिये ०---०--३ ६

इस चिट्ठे से पता चलता है कि सन् १८६० ई० के लगभग आंध्र जनता की आर्थिक स्थिति कैसी थी। सन् १८७६ तथा १८७२ ई० में मद्रास और बम्बई के प्रांतों में अर्थात् सारे दक्षिण-भारत में घोर अकाल पड़े। उसकी मार विशेषकर आंध्र पर जबरदस्त पड़ी थी। आज भी ८०-६० साल के बूढ़े लोग उस 'धाता' सम्वत् के भीषण अकाल की बातें सुनाते हैं। कहते हैं कि उसी साल दिन में आकाश के तारे टूटे थे। अर्थात् आंध्र में उस साल सर्वग्राम सूर्यग्रहण लगा था। उसी साल लाल आँधी चली थी। आकाश-भर में लाल गर्द भर गई थी। उस अकाल में आंध्र के अन्दर लाखों नर-नारी विकराल काल के ग्रास बन गए थे। कर्नूल के अंतर्गत कोथलकुट्ला के निकट उच्चालवाडा नाम के स्थान पर बुड्डावेंकट रेड्डी नाम का एक व्यक्ति 'अपर कर्ण' होकर उतरा था। उसने अपना सर्वस्व लोगों को खिला-पिला दिया और फिर कर्ज ले-लेकर तथा चंदे उगाह-उगाहकर अभूतपूर्व अन्न-दान किया और इस प्रकार हजारों अकाल-पीड़ितों की प्राण-रक्षा की। आजकल भी उसका नाम अमर है। उसके नाम के गीत आजकल भी लोग गाया करते हैं :

"बुड्डावेंकट रेड्डी—रहते उच्यालवाडें !"

इस प्रकार के गीत गाते हुए गरीब लोग आज भी घर-घर भीख माँगते फिरते हैं। ऐसे व्यक्ति और भी जरूर रहे होंगे। स्थानीय लोग यदि सहायता करें तो संस्मरण एकत्र किये जा सकते हैं। स्वयं अंग्रेज इतिहासकारों ने लिखा है कि इस अकाल में अकेले दक्षिण में पचास लाख से अधिक लोग मरे थे।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारतीयों के रहन-सहन तथा मान्यताओं में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। मुसलमानों ने अब भी हिन्दुओं से मेल-जोल नहीं किया। हिन्दू भी मुसलमानों से दूर-ही-दूर रहे, लेकिन अंग्रेजों ने अपने नवीन विचारों से हिंदुओं और मुसलमानों को काफी प्रभावित किया। परिवर्तन मुसलमानों की अपेक्षा हिंदुओं में ही अधिक

हुए । चोटी उड़ गई, 'बाबरी' (अंग्रेजी ढंग पर कटी जुल्फ) रखी जाने लगी, बन्ददार चोगे और अंगे उठ गए तथा उनकी जगह कोट-कमीज ने ले ली । पुरानी पगड़ी गई, नई-नई टोपियाँ आईं । पहले समुद्र-पार जाने वालों को बिरादरी से बाहर कर दिया जाता था। अब प्रायश्चित्त करा-कर लौटा लिया जाने लगा । फिर सारी रोक-टोक खत्म हो गई । जात-पाँत के बंधन ढीले पड़ गए । बराबर का खान-पान चलने लगा । होटलों ने भी इसमें मदद की । रेलों ने भी छुआछूत के बंधन को ढीला किया । जात-बिरादरी से बाहर ब्याह भी होने लगे । विधवा-विवाह होने लगे । धीरे-धीरे बाल-विवाह बंद होने लगे । अंग्रेजी शिक्षित लोग अंग्रेजों की तरह सूट-बूट, कालर आदि धारण करने लगे । कुछ ने तो अंग्रेज महिलाओं से शादियाँ भी कीं । अधिकतर ने अंग्रेजों का रहन-सहन अपनाया ।

अंग्रेज जाति जनता के दबाव के सामने झुकती है । समाज-सुधारकों की बात मानकर सरकार भी जब-तब बाल-विवाह की आयु में वृद्धि करती गई । पहले विवाह की अवस्था १० वर्ष निश्चित हुई । सन् १८९० ई० में उसे १२ वर्ष की अवस्था तक बढ़ा दिया गया । सन् १८५० ई० में डाकघर की व्यवस्था की गई । १८५३ में तारघर खुले । धीरे-धीरे ये दोनों खूब बढ़े । सन् १८८५ में लॉर्ड रिपन ने स्थानीय स्वायत्त-शासन के अधिकार दिये ।

डाक-तारघर और रेलों के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाएँ भी बढ़ने लगीं । आंध्र में अखबारों की संख्या बहुत ही कम रही । उन्नीसवीं शती के बीच में बल्लारी से 'श्रीयक्षिणी' नामक साप्ताहिक निकलने लगा । तेलुगू भाषा का पहला पत्र यही है । महराष्ट्रों के गढ़ बम्बई से साप्ताहिक 'आंध्र-पत्रिका' के चालू होने की बात सुनकर सभी को आश्चर्य होगा । बाद में वह मद्रास पहुँचा । काशीनाथ नागेश्वरराव ने उसे दैनिक बना दिया । यह दैनिक पत्र अब तक बराबर आंध्र-जनता की सेवा करता आ रहा है । सन् १९०२ में साप्ताहिक 'कृष्ण पत्रिका' का जन्म हुआ । वह भी बराबर

चालू है।

अँग्रेजों का प्रभाव आन्ध्र-भाषा पर अत्यधिक पड़ा। यह एक विचित्र-सी बात है कि तेलुगु में यक्ष-गान-विधान के अतिरिक्त और कोई नाटक नहीं थे। सन् १६०० के बाद तो तेलुगु कविता एकदम नीरस हो गई। 'अप्प कवीयम्' नियमों से भाषा बँध-सी गई थी। काव्य के अष्टादश वर्णन उलटे-सीधे कूटने-पीसने के गीतों से मिल-जुलकर भी बीभत्स रूप ले चुके थे। केवल शब्दाडम्बर-मात्र रह गया था। एकाग्रनाथ के 'प्रताप-चरित्र', विजयनगर तथा सामन्तों की कैफ़ियतों तथा तंजौर के गद्य महाभारत आदि के अतिरिक्त गद्य-काव्य में और कुछ था ही नहीं। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त आधुनिक विद्वान् श्री कंदकूर वीरेशलिंगम्, कोमर-राजु लक्ष्मणराव, गाडी चरला हरि सर्वोत्तमराव, कट्टामंचिराम, लिंगँ-रेड्डी, गिडुगुमूर्ति आदि ने आन्ध्र-साहित्य की धारा ही बदल दी। कट्टा-मंचि की 'कवित्व तत्त्वविचार' ने तो मानो पुरातन साहित्य-दुर्ग पर बम-वर्षा-सी कर दी। उन्होंने सन् १६०० में 'बुढ़िया की मृत्यु' के शीर्षक से एक उच्चकोटि की त्यागमय कथानिका एकदम नवीन पद्धति पर लिखी। सचमुच नवीन भाव कवित्व के लिए 'कट्टमंचि' को ही मार्ग-दर्शक मानना चाहिए। वीरेशलिंगम् की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने समाज के प्रत्येक अंग पर अपना पूरा प्रभाव डाला। उन्होंने नाटक लिखे, उत्तम गद्य-काव्य लिखे, व्यंग लिखे, कवियों की जीवनियाँ लिखीं, आत्म-कथा लिखी, व्याकरण तथा बालोपयोगी पाठ्य-पुस्तकें लिखीं तथा अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य से उत्तमोत्तम विषयों का अनुसरण करते हुए मातृभाषा तेलुगु की सेवा की। कोमरराजु लक्ष्मणराजु एक असाधारण व्यक्ति थे। उनके अटल विश्वास, कर्मठता, संघटन-शक्ति, कार्य-शैली, विषय-ज्ञान, सरल बोधशैली आदि गुण कहीं और विरले ही दिखाई देते हैं। लक्ष्मणराव, गाडीचरला हरिसर्वोत्तम राव, हैदराबाद-निवासी राविचेट्लें रंगाराव अर्थात् उत्तर सरकार रायल सीमा और तेलंगाणा के प्रतिनिधियों ने मिलकर १६०७ में हैदराबाद के अन्दर

'विज्ञान चन्द्रिका ग्रन्थमाला' की स्थापना की। इस ग्रन्थमाला का पहला प्रकाशन था गाडीचरलाँ-लिखित 'अब्राहम लिंकन चरित्र।' कोमराजु ने उसकी भूमिका लिखी। कई विषयों में हम पिछड़े हुए थे, पर महाराष्ट्री और बंगाली काफ़ी आगे बढ़ चुके थे। इनका दिग्दर्शन उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ कराया। उन्होंने लिखा :

"भाषा की अभिवृद्धि के लिए गद्य-रचना नितान्त आवश्यक है। इस तथ्य को सबसे पहले चिन्नया सूरी ने पहचाना था। उन्हें 'गद्य-नन्नया' कह सकते हैं। कंदुकूर वीरेशलिंगम् दूसरे नम्बर पर हैं। कंदुकूर 'गद्यतिक्कना' है।[1] 'पुरुषार्थ प्रदायिनी', 'आन्ध्र भाषा संजीवनी', 'मदार-मंजरी', 'चिन्तामणि', 'श्री वैजयन्ती' इत्यादि पहले के मासिक पत्रों तथा वर्तमान 'सरस्वती', 'मंजुवाणी', 'मनोरमा', 'स्वर्ण लेखा', 'सावित्री', 'हिन्दू सुन्दरी', 'जनाना पत्रिका', 'आन्ध्र प्रकाशिका', 'शशिलेखा', 'कृष्ण पत्रिका', 'आर्य मत-बोधिनी', 'सत्यवादी' आदि समाचार-पत्रों ने निश्चय ही एक प्रकार से उपयोगी साहित्य का सृजन किया है। किन्तु तेलुगु को एक सुसंस्कृत भाषा कहलाने योग्य बनाने के लिए अब तक जो कुछ किया गया है वह उस प्रयास का सहस्रांश भी नहीं है, जो हमें आगे करना है।" उन्होंने अपनी चिन्ता प्रकट की कि तेलुगू में जीवनियाँ, उपन्यास, कहानियाँ, वैज्ञानिक साहित्य आदि कुछ भी नहीं है। उनकी यह भूमिका नितान्त मूल्यवान है। उन्होंने हमारी भाषा की जिन त्रुटियों की ओर संकेत किया है, उन्हें दूर करने के लिए इस ग्रंथमाला ने सफल चेष्टा की। परन्तु दुर्भाग्यवश सन् १६२२ में ही उनका देहान्त हो गया। उनके बाद यह ग्रंथमाला दिन-पर-दिन क्षीण होती हुई, अन्त में लुप्त हो गई।

१६०० से तेलुगु में अंग्रेजी तथा संस्कृत-विधानों का अनुसरण करते हुए नाटक, उपन्यास, गद्य-काव्य, जीवनियाँ, आलोचनाएँ, खण्डकाव्य आदि अच्छी संख्या में प्रकाशित होने लगे।

---

१. नन्नया, तिकन्ना तथा एर्राप्रगडा यह तीनों आन्ध्र महाभारत के रचयिता तथा कवित्रय कहलाते हैं।

लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य पैदा करने के लिए ही अंग्रेजों ने बंग-भंग का यह कुचक्र रचा था। उससे बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई। 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रीय नारा बन गया। बंगालियों ने हिंसात्मक उपायों द्वारा अंग्रेजों के प्रति अपना रोष प्रकट किया। बंगाल से जो हवा चली वह समुद्र-तट से होती हुई आन्ध्र देश के उत्तर सरकारों तक पहुँच गई। इसी सिल-सिले में स्वदेशी का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसी अवसर पर मसूली-पटम में जातीय कलाशाला (राष्ट्रीय कालेज) की स्थापना हुई। आन्ध्र के लिए यह घटना विशेष महत्त्व रखती है। पाश्चात्यों की प्रत्येक बात को श्रेष्ठ और अपनी प्राचीन परम्पराओं को निकृष्ट मानने वाले शिक्षित समाज की विचार-धारा में कुछ परिवर्तन हुआ। इस राष्ट्रीय संस्था ने यह सिद्ध किया कि अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा करते हुए काल-सरणी के अनुसार उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करते जाना ही अच्छा है। चित्र-कला की पुरानी प्रणाली बदल गई। रंग भी बदले, विचार भी बदले। तेलुगु प्रान्त के अन्दर नवीन चित्र-शैली को प्रोत्साहित करने का श्रेय इसी कलाशाला को प्राप्त है।

गोलकोंडा के सुलतानों में से अकेले इब्राहीम कुतुबशाह और उसके एक ओहदेदार अमीनखान के सिवा किसी मुसलिम शासक ने तेलुगु भाषा की कोई सेवा नहीं की। आसफ़जाही शासकों ने तेलुगु का आदर तो किया ही नहीं, उलटे उसकी उन्नति में अनेक विघ्न डाले। अंग्रेजों ने ऐसा नहीं किया। देश के भीतर बिखरे पड़े ताड़-पत्र-ग्रन्थों को एकत्र करके मद्रास में हस्तलिखित प्राच्य पुस्तकों का एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया और इस प्रकार टिमटिमाकर बुझने-बुझने को हो रहे मूल्यवान साहित्य की रक्षा की। अनेक अंग्रेजों ने हमारी भाषाएँ सीखीं। उनमें ब्रौन प्रधान हैं। कुतुबशाही तथा आसफ़जाही के तमाम सुलतानों को तराजू के एक पलड़े में रखें और अकेले ब्रौन को दूसरे में बिठा लें तो ब्रौन का पलड़ा ही भारी रहेगा। उन्होंने ताड़-पत्र-ग्रन्थों को एकत्र किया,

वेमना के पद्यों को पसन्द करके उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा तेलुगु के दो शब्द-कोश तैयार किये। उनमें से एक व्यावहारिक शब्द-कोश है, जो आज भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हो रहा है। मैकेंजी नामक एक और अंग्रेज ने पुराने शासकों के रिकार्डों को इकट्ठा किया। काल्डवेल ने 'द्रविड़ भाषा शास्त्र' के नाम से दक्षिणी भाषाओं का व्याकरण लिखा। सामूहिक दृष्टि से देखने पर तेलुगु भाषा पर अंग्रेजी का पूरा प्रभाव पड़ा। तेलुगु का चौमुखी विकास होने लगा। अंग्रेजों ने भाषा के साथ प्राचीन शिल्पों की भी रक्षा की है। जबकि मुसलमानों ने उनका ध्वंस किया था, अंग्रेजों ने उनका उद्धार किया। हम्पी के खंडहरों की, अमरावती के स्तूपों की, प्राचीन मन्दिरों तथा किलों की मरम्मत करवाई। कहीं कुछ निशान मिलने पर खुदाई करके शिथिलावस्था में पड़े हुए शिल्पांशों को बाहर निकाला और इस प्रकार हमारे पूर्वजों की कला-सम्पत्ति की रक्षा की। अंग्रेजी इलाके में जब यह सब हो रहा था, तब निजाम के हैदराबाद में भी ऐसे काम आगे बढ़ने ही थे। वरंगल के खंडहरों, रामप्पमन्दिर, पिक्कलमर्री, पानगल आदि शिल्पावशेषों की रक्षा होने लगी।

१८५७ के बाद उत्तर सरकारों में ही अधिक उन्नति हुई। रायल-सीमा उनसे बहुत पीछे था। किन्तु हैदराबाद का तेलंगाणा रायलसीमा से भी गया-गुजरा था। हैदराबाद का शासन ही तेलंगाणे की अवनति का कारण था।

आन्ध्र जाति के नौ सौ वर्षों के इतिहास का यहाँ संक्षिप्त रूप ही बताया गया है। लिखने योग्य बातें और भी बहुत सारी हैं। योग्य विद्वानों की कृष्टि से सामाजिक इतिहास का हमारा यह अभाव दूर हो जायगा।

परिपूर्ण-पूत-पुण्यांबु-भंगि-उद्वेग गौतमी[1] के गम्भीर गमन वाली,
आलमपुर के नन्दनाराम-विभ्राजि फलाधिराज मलगोबा[2] के
सुस्वादु रस-धन वाली

१. गौतमी = गोदावरी नदी।
२. मलगोबा = स्वादिष्ट आम।

आन्ध्री-कुमारिका-समायुक्त परिपूत तुङ्गभद्रा पयस्विनी के मधु-
तुल्य पयस् वाली,
खंडसार-जाति-खर्जूर-द्राक्ष-गोक्षीर आदि के रसरंजन मधुरस
वाली,
वल्लकी-सुधानिष्यंदि-ह्लाद, रागिनी-दिव्य सम्मोह-राग वाली
माता
मधु के मनहरण प्रवाह-तुल्य वाग्धार हमारी तेलुगु श्रीशाली
माता !